

→॥ महाभारत सभापर्वकी विषयसूची ॥←



अध्याय	विषय	पृष्ठ	अध्याय	विषय	पृष्ठ
१	मङ्गलाचरण और दिव्य- सभास्थान बनाने के लिये श्रीकृष्णजीका मय दानव को आज्ञा देना	१	२३	जरासंधकी युद्धपर ग्लानि	१२३
२	श्रीकृष्णजीका द्वारकागमन	४	२४	जरासन्धका वध	१२८
३	दिव्यसभा	६	२५	संचित दिग्विजय	१३५
४	राजायुधिष्ठिरकी सभाका वैभव	१४	२६	भगदत्त विजय	१३७
५	नारदमुनिका आगमन	१९	२७	अर्जुनकी अनेकों देशोंकी विजय	१३९
६	देवसभाओंका वर्णन	३७	२८	अर्जुनदिग्विजय	१४३
७	इन्द्रकी सभाका वर्णन	४०	२९	भीमसेनका दिग्विजय	१४६
८	यमराजकी सभाका वर्णन	४४	३०	सहदेवका दिग्विजय	१४८
९	वदशकी सभाका वर्णन	४९	३१	सहदेवका दिग्विजय	१५२
१०	कुबेरकी सभाका वर्णन	५२	३२	नकुलका दिग्विजय	१६२
११	ब्रह्माकी सभाका वर्णन	५७	३३	राजसूय यज्ञका आरम्भ	१६५
१२	राजा पाण्डुका सन्देशा	६४	३४	राजाओंका आगमन	१७२
१३	श्रीकृष्णजीका इंद्रप्रस्थमें आना	६९	३५	राजसूय यज्ञकी क्रियाका आरम्भ	१७६
१४	राजसूयके आरम्भमें क्या करना चाहिये	७७	३६	श्रीकृष्णका पूजन	१७८
१५	जरासंधका दुष्टता	८६	३७	शिशुपालका कोप	१८३
१६	जरासंधका वध कैसे किया जाय	९०	३८	भीष्मजीका श्रीकृष्णका यश गाता	१८७
१७	जरासंधकी उत्पत्ति	९२	३९	युद्धका उद्योग	१९१
१८	जरासन्धकी उत्पत्ति	१००	४०	युधिष्ठिरका समझाना	१९४
१९	जरासंधका बल	१०२	४१	शिशुपालका कोप	१९६
२०	गिरिप्रजपर चढ़ाई	१०६	४२	भीमसेनका कोप	२०२
२१	श्रीकृष्ण और जरासंधका संवाद	११०	४३	शिशुपालका जन्मवृत्तांत	२०५
२२	जरासंधकी युद्धके लिये तैयारी	११८	४४	शिशुपालकी घकनाद	२०८
			४५	शिशुपालका मरणा	२१४
			४६	वेङ्कयासजीका युधिष्ठिर के सामने भविष्यवृत्तात्म कज्ञा और उमका सुन कर युधिष्ठिरका प्रतिज्ञा करना	२२३

अध्याय	विषय	पृष्ठ	अध्याय	विषय	पृष्ठ
४७	युधिष्ठिरके पेश्वर्यको देखा कर दुर्योधनका सन्ताप	२२८	६४	द्रौपदीपर्यन्त सर्वस्वको जुपमें हारना	३०८
४८	पाण्डवोंकी उन्नति देख कर दुर्योधनका सन्ताप और शकुनिकासमझाना	२३३	६५	विदुरका उपदेश	३१५
४९	दुर्योधनका सन्ताप	२३७	६६	दुःशासनका द्रौपदी को दुःख देना और द्रौपदीका वृद्ध कौरवोंसे प्रश्न	३१७
५०	" "	२४५	६७	द्रौपदीका चीरहरण	३२८
५१	यज्ञका वैमघ	२५०	६८	भीष्मजीका कथन	३४१
५२	यज्ञमें प्राप्तहुई भेंट	२५५	६९	भीमसेनके वचन	३४४
५३	दुर्योधनका अपने दुःखका कारण कहना	२६१	७०	धृतराष्ट्रका द्रौपदीको घरदान	३४७
५४	धृतराष्ट्रका उपदेश	२६५	७१	भीमका भयंकर क्रोध	३५४
५५	दुर्योधनका सन्ताप	२६७	७२	पाण्डवोंका इंद्रप्रस्थकी ओरको गमन	३५६
५६	युधिष्ठिरको घुलवाना	२७०	७३	युधिष्ठिरको फिर लौटाना	३५९
५७	जुआ खेलनेको विदुरका निषेध करना	२७४	७४	गांधारीके वचन	३६३
५८	युधिष्ठिरका धूत समामे आना	२७५	७५	युधिष्ठिरका फिर पराजय	३६५
५९	जुपका आरम्भ	२८९	७६	वनवासके समय पाण्डवों की प्रतिज्ञा	२६९
६०	कौरवपाण्डवोंका धूत	२९०	७७	पाण्डवोंका वनको जाना	३७६
६१	विदुरका उपदेश	२९९	७८	द्रौपदी कुन्ती सम्वाद	३८०
६२	विदुरके हितवचन	३०२	७९	विदुर धृतराष्ट्र और द्रोणके वचन	३८६
६३	दुर्योधनका विदुरको कटु-वचन कहना और विदुरका धृतराष्ट्रसे हितवचन कहना	३०४	८०	धृतराष्ट्र और सञ्जयका सम्वाद	३९४

सूचना

इस पर्वमें २८० पृष्ठके बाद २८६ पृष्ठ छपे हैं बीचके ८ पृष्ठ के अङ्क छूटगये हैं। परन्तु ग्रन्थ कुछ नहीं छूटा है, सिलसिला ठीक है केवल पृष्ठाङ्क लगानेमें भूल हो गई है।

॥ श्रीहरिः ॥

महाभारत

सभापर्व

नारायणं नमस्कृत्य नरश्चैव नरोत्तमम् । देवीं सरस्वतीं व्यासं
ततो जयमुदीरयेत् ॥ वैशम्पायन उवाच । ततोऽब्रवीन्मयः पार्थ
वासुदेवस्य सन्निधौ । मांजलिः श्लक्ष्णया याचा पूजयित्वा पुनः
पुनः ॥१॥ मय उवाच । अस्मात् कृष्णात् सुसंरब्धात् पावकाच्च
दिग्गतः । त्वया व्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते ॥२॥
अर्जुन उवाच । कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर । प्रीति-
मान् भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वषट्त्व ते ॥ ३ ॥ मय उवाच । युक्त-
मेतत्त्वयि विभो पथात्थ पुरुषर्षभ । प्रीतिपूर्वमहं किञ्चित्कर्तुमि-

नारायण, नरोत्तम नर, सरस्वती देवी और व्यासभगवान्
को मणाय करके जयकीर्त्तन करै । वैशम्पायन बोले, कि-तदनंतर
वय दानवहाथ जोड़कर वासुदेवभगवान्‌के समीप अर्जुनसे बार
बार सत्कार और पूजा करके मधुर वाणीमें कहने लगा ॥ १ ॥
मयने कहा, कि- आपने क्रोधमें भरे श्रीकृष्णसे और भस्म करनेको
उद्यतहुए अग्निसे मेरी रक्षा कीहै, इसकारण हे कुन्तीनन्दन ! आज्ञा
करो, कि-मैं तुम्हारा क्या उपकार करूं ॥२॥ अर्जुनने कहा, कि-
हे महासुर ! तुम्हारा सब मत्पुपकार किया ही हुआ है, तुम्हारा
कल्याण हो, अब तुम अपने स्थानको प्रस्थान करो, तुम हमारे ऊपर
सदा प्रसन्न रहना, हम भी तुम्हारे ऊपर प्रसन्न हैं ॥ ३ ॥ मयने
कहा-हे विभो ! यह बात आपने अपने गौरवके अनुकूल ही कही
है परन्तु हे भरतकुलोत्पन्न ! मेरी बहुत ही इच्छा है कि-प्रीतिके

छामि भारत ॥ ४ ॥ अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः
 सोऽहं वै त्वत्कृते कर्तुं किञ्चिदिच्छामि पाण्डव ॥ ५ ॥ अर्जुन
 उवाच । प्राणकृच्छ्रादिमृक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया । एवं गते न
 शक्यामि किञ्चित्कारयितुं स्वया ॥ ६ ॥ नचापि तव सङ्कुल्यं मोघ-
 मिच्छामि दानव । कृष्णस्य क्रियतां किञ्चित्तथा प्रतिकृतं मयि
 ॥ ७ ॥ चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ । मुहूर्तमिव सन्दर्ष्या
 किमयं चोद्यतामिति ॥ ८ ॥ ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः
 प्रजापतिः । चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति ॥ ९ ॥
 यदि त्वं कर्तुं कामोऽसि मियं शिन्पवताम्बर । धर्मराजस्य देतेय
 यादृशीमिह मन्यसे ॥ १० ॥ यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्य-
 दत्तकाः । मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम् ॥ ११ ॥

साय आपका कुछ उपकार करूँ ॥ ४ ॥ मैं शिन्पकारीमें प्रवीण
 दानवोंका विश्वकर्मा हूँ केवल आपके गुणोंके अत्यन्त वशीभूत हो
 कर कुछ कारीगरी करना चाहता हूँ ॥ ५ ॥ अर्जुन बोले, कि—तुम
 मेरे द्वारा अपनेको प्राणान्त सङ्कुटसे छूटा समझते हो, इसीसे मेरा
 प्रत्युपकार करना चाहते हो, यह समझकर ही मैं तुमसे कोई भी
 अपने उपकारका काम नहीं करासकूँगा ॥ ६ ॥ और हे दानव !
 मैं यह भी नहीं चाहता, कि—तुम्हारी अभिलाषा व्यर्थ हो, अतः
 तुम श्रीकृष्णजीका कोई काम करदो, उसीसे मानों मेरा प्रत्युपकार
 होजायगा ॥ ७ ॥ तब मयने आज्ञा पानेकी इच्छासे श्रीकृष्णजीसे
 कहा, उन्होंने उसका अधिक आग्रह देखकर आज्ञा देनेके विषयमें
 क्षणभर चिन्तमें विचार किया ॥ ८ ॥ तदनन्तर मनमें विचार कर
 के त्रिलोकीके स्वामी महाराज श्रीकृष्णजीने उससे कहा, कि—तुम
 एक सभाभवन बनाओ ॥ ९ ॥ हे शिन्पकार्यमें प्रवीण दानव ! यदि
 तुमने मेरा पद्म प्रिय काय करनेका विचार किया है तो तुम महा-
 राज युधिष्ठिरके लिये एक ऐसा सभाभवन बनाओ, कि ॥ १० ॥
 मनुष्य उसमें बैठकर भलेपकार देखकर भी सकल मनुष्यलोकमें

यत्र दिव्यानभिप्रयान् परयेमहि कृतास्त्वया । आसुराम्मानुपा-
 श्वैव सर्वा तां कुरु वै मय ॥ १२ ॥ वैशम्पायन उवाच । प्रतिगृह्य
 तु तद्वाक्यं सम्प्रहृष्टो मयस्तदा । विमानप्रतिमाञ्चक्रे पाण्डवस्य
 शुभां सभाम् ॥ ११ ॥ ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
 सधमेतत् समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥ १४ ॥ तस्मै युधिष्ठिरः
 पूजां यथार्हमकरोत्तदा । स तु तां प्रतिजग्राह मयः सस्कृत्य भारत
 ॥ १५ ॥ स पूर्वदेवचरित्तदा तत्र विशाम्पते । कथयामास देतेयः
 पाण्डुपुत्रेषु भारत ॥ १६ ॥ स कौलं काञ्चदारवस्य विश्वकर्मा
 विचिन्त्य तु । सर्वां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १७ ॥
 अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः । पुण्येऽग्नि महानेजाः
 कृतुकौतुकमंगलाः ॥ १८ ॥ तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान् पापसेन सह-

वसकी समान दूसरा भवन न बनासकें ॥ ११ ॥ हे मय ! जिम्मेसभा
 में हम तुम्हारी वनाईहुई दिव्य, मानुष और आसुर सकल चतुरा-
 ह्यां देखें ॥ १२ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—उससमय मय दामन
 श्रीकृष्णजीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके बड़ी प्रसन्नताके साथ
 महाराज युधिष्ठिरके लिये विमानकी समान सुन्दर सभा बनाने
 लगा ॥ १३ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्ण और अर्जुनने महाराज युधि-
 स्थिरके पास जाकर उनसे सब वृत्तान्त कहा और मय दानवको
 लोकाकर उनको दिखाया ॥ १४ ॥ हे भारत ! तब महाराज युधि-
 स्थिरने उसका यथोचित सन्मान किया, मयने उस पूजाको
 स्तम्भारके साथ ग्रहण किया ॥ १५ ॥ हे भरतकुलोत्पन्न
 राजन् ! उस शिष्पी मयने पाण्डवोंको दानवोंके विचित्र
 चरित्र सुनाए ॥ १६ ॥ फिर जगभर विश्रामके अनन्तर कुछ
 विचार करके महात्मा पाण्डवोंके लिये सभाभवन रचनेका ढंग ढाला
 ॥ १७ ॥ तदनन्तर महात्मा कृष्ण और पाण्डवोंके अभिप्रायके अनुसार
 उस महातेजस्वी मयने शुभदिनमें यादगलिक उत्सव किया ॥ १८ ॥
 और सहस्रों ब्राह्मणोंको चौरपाकसे व्रत करके तथा उनको अनेकों

स्रशः । धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्यवान् ॥ १६ ॥
 सर्वतु गुणसम्पन्ना दिव्यरूपा मनोरमाम् । दशकिष्कुसहस्रांता
 मापयामास सर्वतः ॥ २० ॥ छ छ छ ॥

इति सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभास्थाननिर्णये

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच । उपित्वा खाण्डवमस्थे सुखवासं जनाईनः
 पार्थः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनाहोभिपूजितः ॥ १ ॥ गमनाय
 मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः । धर्मराजमयामन्त्र्य पृथा च पृथुलो-
 चनः ॥ २ ॥ ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः । स
 तया मूढ्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥ ददर्शानन्तरं कृष्णो
 भगिनीं स्वां महायशसाः । तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या वाष्पसमन्वितः
 ॥ ४ ॥ अर्थं तिथ्यं हितं वाक्यं लघुयुक्तमनुत्तरम् । उवाच भग-
 वान् भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥ तया स्वजनगामीनि

प्रकारका धन देकर वीर्यवान् मयने ॥ १-६ ॥ सकल ऋतुओंके गुणों-
 वाली दिव्यरूप मनोहर सभा बनानेके निमित्त सब ओरसे पाँच
 सहस्र हाथ चौड़ी भूमि नापली ॥ २० ॥ प्रथम अध्याय समाप्त ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि, पूजनीय भगवान् कृष्णने प्रीति करने
 वाले खाण्डवों से पूजित हो कुछदिनो खाण्डवमस्थमें सुखके साथ
 रहकर ॥ १ ॥ विशालनेत्र कृष्णने पिताके दर्शनके लिये परम उत्सुक
 होकर जानेका विचार किया और पहिले युधिष्ठिरसे आज्ञा लेकर
 जगत्के वन्दनीय कृष्णने अपनी फूफी कुन्तीके चरणोंमें शिर
 नमस्कार प्रणाम किया, कुन्तीने उनके मस्तकको सूँघकर छातीसे
 लगा लिया ॥ २-३ ॥ तदनंतर महायशस्वी कृष्ण मिलनेकी इच्छासे
 अपनी बहिन सुभद्राके पास पहुँचे उसके पास पहुँचकर भगवान्के
 नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भरआये ॥ ४ ॥ उससमय अपनी बहिन सुभद्राको अर्थ-
 युक्त, यथार्थ, हितकारी, संक्षिप्त अखण्डनीय वचनोंमें बहुत कुछ
 उपदेश दिया, भद्रभाषिणी सुभद्राने भी उनसे माता आदि स्वजनों

श्रावितो वचनानि सः । संपन्नितथाप्यसकृच्चिरसा चाभिवादितः
 ॥ ६ ॥ तामनुज्ञाप्य वाष्पेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम् । ददर्शान-
 न्तरं कृष्णां धौम्यश्चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥ षवन्दे च यथान्यायं
 धौम्यं पुरुषसत्तमः । द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः
 ॥ ८ ॥ भ्रातृनभ्यगमद्विद्वान् पार्थेन सहितो बली । भ्रातृभिः
 पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवामरैः ॥ ९ ॥ यात्राकालस्य योग्यानि
 कर्माणि गृहदध्वजः । कर्तुं कामः शुचिभूत्वा स्नातवान् समलंकृतः
 ॥ १० ॥ अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः । मात्यजाप्यनम-
 स्कारैर्गन्धैश्चावचैरपि ॥ ११ ॥ स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थु-
 पाम्बरः । उपेत्य स यदुभ्रेष्ठो बाह्यकक्षां विनिर्गतः ॥ १२ ॥ स्वस्ति
 वाच्यार्हतो विमान्दधिपान्नफलाक्षतैः । वसु मदाय च ततः मदक्षि-

से कहनेके लिये बहुतसी बातें कहकर धारंवार पूजा करके उनके
 शिर नमाकर प्रणाम किया ॥ ६-६ ॥ वृष्णिवंशी कृष्णने सरा-
 हनाके साथ सुभद्रासे विदा होकर द्रौपदी और धौम्य अपिके
 साथ साक्षात्कार किया ॥ ७ ॥ पुरुषोत्तम कृष्णने यथाविधि धौम्य
 को प्रणाम किया और द्रौपदीको समझाकर जानेकी आज्ञा ली ॥
 फिर बली कृष्ण अर्जुनको साथ लियेहुए तहांसे युधिष्ठिर आदि
 चारों भ्राताओंके पास पहुंचे, तहां भगवान् वासुदेव पांचों भाइयों
 के बीचमें देवगणोंसे घिरेहुए इंद्रदेवकी समान शोभित हुए ॥ ९ ॥
 फिर श्रीकृष्णजीने यात्राके योग्य कार्योंको करनेकी इच्छासे स्नान
 के अनन्तर शुद्धतापूर्वक आभूषण पहिरकर ॥ १० ॥ पुष्पमाला,
 जप, नमस्कार और नानाप्रकारके सुगन्धित पदार्थोंसे देवता और
 ब्राह्मणोंका पूजन किया ॥ ११ ॥ वह यादवभ्रेष्ठ कृष्ण क्रमसे
 उस समयके योग्य सब कार्य करके अपने नगरके जानेके निमित्त
 बाहरकी ड्योढ़ीमें निकल आये ॥ १२ ॥ स्वस्तिवाचन करनेवाले योग्य
 ब्राह्मण तहां दहीके पात्र, फल, फूल और अक्षत आदि मातृस्तिक
 पदार्थ हाथोंमें लिये खड़े थे. वासुदेवने उनके धन देकर मदक्षिणा

एमयाकरोत् ॥ १३ ॥ कांचनं रथमास्थाय त्राज्यकेतनमाशुगम् ।
 गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ॥ १४ ॥ तिथावथ च
 नक्षत्रे मूहूर्ते च गुणान्विते । प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैव्यमुग्रीववा-
 हनः ॥ १५ ॥ अन्वास्तरोह चाप्येनं मेम्णा राजा युधिष्ठिरः ।
 अपास्य चास्य यन्तारं दारुकं यन्तुसप्तमम् ॥ १६ ॥ अभीपून्
 संमजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा । उषारुद्रार्जुनश्चापि चामरव्यजनं
 सितम् ॥ १७ ॥ रुमदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव मदक्षिणम् । तथैव
 भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो बली ॥ १८ ॥ पृष्ठतोऽनुययौ
 कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह । स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परवी-
 रहा ॥ १९ ॥ अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः । पार्थ-
 मामन्वय गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ॥ २० ॥ युधिष्ठिरं पूज-
 यित्वा भीमसेनं ययौ तथा । परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामिवा-

करी ॥ १३ ॥ फिर परमोत्तम तिथि नक्षत्र तथा युद्धके मूहूर्त्तमें गदा, चक्र
 खड्ग, शार्ङ्ग आदि अस्त्रशस्त्रोंसे सजे, गरुड़की ध्वजावाले वायुकी समान
 शास्त्रगामी शैव्य मुग्रीव आदि घोड़ोंसे जुते हुए सुवर्णके रथमें चढ़-
 कर पुण्डरीकाक्ष भगवान् अपने घरको जाने लगे ॥ १४ ॥ १५ ॥
 उसी समय स्वयं कुरुपति महाराज युधिष्ठिर मेमसे परवश होकर
 रथपर चढ़ गए, और सारथि दारुकको बसके स्थानसे हटाकर १६
 आप सारथि वन घोड़ोंकी लगाम हाथमें लेलीं तब तो महाबाहु
 अर्जुन भी रथ पर चढ़ गए और सुवर्णकी दंडीका, स्वेत
 चमर हाथमें लेकर मदक्षिणापूर्वक दुष्टाने लगे । तिसी प्रकार नकुल
 सहदेव और बली भी मी, ऋत्विज और पुरवासियों सहित पीछे
 चलने लगे, शत्रुबलनाशक कृष्ण इस प्रकार अनुगामी हुए युधि-
 ष्ठिरादि प्रिय भ्राताओंसे युक्त होकर ऐसे शोभायमान हुए मानो
 शिष्योंके साथ गुरु नारदे हैं, फिर कृष्णने अर्जुनको हृदयसे
 लगाकर जानेकी आज्ञा ली ॥ १७ ॥ १८ ॥ १९ ॥ २० ॥ और
 युधिष्ठिरका पूजनकर, भीम तथा नकुल सहदेवसे भी संभाषण

दितः ॥ २१ ॥ योजनार्द्धमथो गत्वा कृष्णः परपुस्त्रयः । युधिष्ठिरं
समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत ॥ २२ ॥ ततोऽभिवाद्य गोविन्दः
पादौ जग्राह धर्मवित् । उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूढ्युपाधाय केशवम्
॥ २३ ॥ पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम् । गम्यतामि-
त्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥ ततस्तैः सम्बिदं कृत्वा
यथावन्मधुसूदन । निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात् पाण्डवान् सपदानु-
गान् ॥ २५ ॥ स्वां पुरीं ययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम् ।
लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपयात्तदा ॥ २६ ॥ मनोभिरभिजग्मुस्ते
कृष्णं प्रीतिसमन्वयात् । अतः समनसापेव तेषां केशवदर्शने ॥ २७ ॥
क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्रप्रो मियदर्शनः । अकामा एव पार्थास्ते गो-

क्रिया, युधिष्ठिर, अर्जुन और भीमने भी हृदय से लगाया तथा
नकुल सहदेवने प्रणाम किया ॥ २१ ॥ तदनंतर क्रम २ से दो फीस
पहुँच जाने पर शत्रुनाशक कृष्णने युधिष्ठिरको समझाकर लौटने
के लिये कहतेहुए प्रणाम करके उनके दोनों चरण पकड़लिये,
धर्मराज युधिष्ठिरने चरणोंमें पड़ेहुए पतितपावन कमललोचन
कृष्णको उठाकर माथेमें सूँधा और अपने घरको जानेकी अनुमति
दी ॥ २२ ॥ २३ ॥ २४ ॥ तब भगवान् कृष्ण पाण्डवोंसे यथाविधि
मतिज्ञा करके तथा अपने अनुगामियों सहित पाण्डवोंका बड़ी
कठिनतासे लौटाकर ॥ २५ ॥ अमरावतीको जातेहुए इन्द्रकी
समान प्रसन्न होतेहुए अपनी नगरी द्वारकाकी चलेगये । उस
समय पाण्डव जबतक कृष्णका रथ दीखतारहा तबतक नेशोंसे
उनके पीछे २ गए ॥ २६ ॥ जब रथ दृष्टिके बाहर होगया तब मन
ही मनमें उनके पीछे २ चलने लगे, कृष्णको देखनेमें उनका मन
तृप्त नहीं हो पाया ॥ २७ ॥ परंतु मियदर्शन भगवान् शीघ्र ही
उनके दृष्टिमार्गसे अन्तधान होगए, तबतो पाण्डव कृष्णके दर्शनसे
अत्यन्त निराश होकर मनमें उनके विषयका ही चिन्तन करते-

विन्दगतमानसाः ॥ २८ ॥ निवृत्त्योपययुस्तूर्णं स्वं पुरं पुरुषर्षभाः
 स्पन्दनेनाथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकमगात् ॥ २९ ॥ सात्वतेन
 च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा । दारुकेण च सूतेन सह देवकी-
 सुतः । मययौ द्वारकां शौरिर्गुरुमानिव वेगवान् ॥ ३० ॥ वैश-
 म्पायन उवाच । निवृत्त्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युतः । सुहृत्-
 परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३१ ॥ विसृज्य सुहृदः
 सर्वान् भ्रातॄन् पुत्राञ्च धर्मराट् । मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो
 नृप ॥ ३२ ॥ वैशम्पायन उवाच । केशवोपि मुदा युक्तः प्रविवेश
 पुरोत्तमम् । पूज्यमानो यदुश्रेष्ठैरुग्रसेनमुखैस्तथा ॥ ३३ ॥ आहुकं
 पितरं वृद्धं मातरञ्च यशस्विनीम् । अभिवाद्य बलञ्चैव स्थित
 कमललोचनः ॥ ३४ ॥ मधुमन्शाम्बनिशठाञ्चारुदेष्णं गदं तथा ।

हुए अपने घरको लौट दिये ॥ २८ ॥ वह श्रेष्ठ पाण्डव लौटकर शीघ्र
 ही अपने नगरमें पहुँच गए, वधर कृष्ण भी रथमें बैठे हुए शीघ्रता
 के साथ द्वारकाको चलने लगे ॥ २९ ॥ देवकीनन्दन कृष्ण, अनु-
 गामी महावीर सात्वत और दारुक सारथिके साथ वेगवान् गरुड़
 की समान शीघ्र ही द्वारकापुरीमें जाकर पहुँच गए ॥ ३० ॥ वैश-
 पायन कहते हैं, कि भ्राताओं सहित धर्मराज भी मित्रगणासे
 घिरे हुए लौटकर अपने नगरमें आए ॥ ३१ ॥ वह पुरुषपुंगव
 सकल मित्र, भ्राता और पुत्रोंको विदा करके द्रौपदीके सहित
 आनन्दपूर्वक समयको बिताने लगे ॥ ३२ ॥ वैशम्पायनजी कहते
 हैं, कि—इधर श्रीकृष्णजीने भी बड़े आनन्दपूर्वक द्वारकापुरीमें
 प्रवेश किया, पादवोंमें श्रेष्ठ उग्रसेन आदिने उनका पूजन किया
 ॥ ३३ ॥ कमललोचन कृष्णने नगरमें प्रवेश करके पहिले बृद्धे
 पिता वसुदेवजी और यशस्विनी माताको मणाम किया फिर बल
 भद्रजीको अभिवादन कर बैठ गए ॥ ३४ ॥ भगवान् कृष्ण मधुमन्
 साम्ब, निशठ, चारुदेष्ण, गद, अनिरुद्ध और भानुको हृदयसे

अनिरुद्धं च बाहुं च परिष्वज्य जनादेनः ॥ ३५ ॥ स वृद्धैरभ्य-
जुज्ञातो रुक्मिण्यया भवनं ययौ ॥ ३६ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्वाक्ये द्वितीयोऽध्यायः

वैशम्पायन उवाच । अथाऽऽज्जीव्यः पार्थमर्जुनं जयताम्बरम् ।
आपृच्छे तर्षां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाप्यहम् ॥ १ ॥ उत्तरेण
तु कैलासं मैनाकं पर्वतं मति । प्रियञ्जयाण्ये पुरा दानवेषु मया
कृतम् ॥ २ ॥ चित्रं पणिमयं भायहं रम्यं बिन्दुसराः मति । सभार्या
सत्यसन्धस्य यदासीद् वृषपर्वणः ॥ ३ ॥ आगमिष्यामि तद् गृह्य
यदि तिष्ठति भारत । ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य पशस्वि-
नीम् ॥ ४ ॥ मनामहादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम् । अस्ति
बिन्दुसरोरुपुग्रा गदा च कुरुनन्दन ॥ ५ ॥ निहिता भावयाम्येवं
लागाकर वृद्धोकी आज्ञां लेखिमणीके मन्दिरमे पङ्क्तौ ॥ ३५-३६ ॥

द्वितीय अध्याय समाप्त ॥ २ ॥ छ छ छ छ

वैशम्पायनजी कहते हैं कि-हे महाराज ! अनन्तर मय दानवने
प्रिय पामेवालोंमें भेष्ट कुन्तीकुमार अर्जुनसे कहा, कि-मैं इस
समय आपके आज्ञा लेकर विशा होता हूं, शीघ्र ही लौटकर
आऊंगा ॥ १ ॥ पहिले एक समय कैलासके उत्तर भागमें मैनाक
पर्वतके समीप दानवोंने यह करनेकी इच्छा की थी, उन
दानवोंके यहाँमें बिन्दुसरोवरके समीप एक विचित्र पणिमय
रमणीय भायह बनाया था, जोकि-सत्यमतिश दानवराज
वृषपर्वाकी सभामें रखवागया था ॥ २ ॥ ३ ॥ हे भारत !
यदि इस समय तक यह नष्ट नहीं हुआ होगा तो उसको लेकर
मैं शीघ्र ही आऊंगा तब पाण्डवोंके, पशको पहचानेवाले सभा
भवनको बनाऊंगा ॥ ४ ॥ जो कि-सभा आपके मनको प्रसन्न
करने वाली सकल रत्नोंसे शोभित और निचि होगी, और हे
कुरुनन्दन ! बिन्दुसरोवरमें एक छत्र गदा भी रखली है ॥ ५ ॥
तीत होता है दानवराज वृषपर्वाके संग्राममें शत्रुओंका संहार

राज्ञा दत्त्वा रणे रिपून् । सुवर्णविन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥ सा वै शतसहस्रस्य सम्मिता शत्रुघातिनी । अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥ वारुणश्च महाशंखो देव-
 दत्तः सुघोषवान् । सर्वमेतत् प्रदास्यामि भवते नान्न संशयः ॥ ८ ॥
 इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं भागुदीचीं दिशं गतः । अधोत्तरेण कैला-
 सं मैनाकं पर्वतं मति ॥ ९ ॥ दिग्ययशूः सुप्रहान्महापणिमयो
 गिरिः । रम्यं विन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ १० ॥ दृष्टं
 भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः । यत्रेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण
 महात्मना ॥ ११ ॥ आहताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम ।
 यम यूपा मणिमयाश्चैस्याद्यापि हिरण्यमयाः ॥ १२ ॥ शोभार्थं वि-
 हितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः । यत्रेष्टा स गतः सिद्धिं सह-
 करं सुवर्णमण्डिता शत्रुनाशिनी भारसहा च स अति दृढगदा
 को विन्दुसरोवरमें भरदिया है ॥ ६ ॥ जैसे गाँडीव धनुष
 आपके योग्य है तैसे ही सौ सहस्र गदाओंकी समान शत्रुओंका
 संहार करनेवाली वह गदा भीमसेनके योग्य है ॥ ७ ॥
 इसके सिवाय वरुणका ग्रहण किया हुआ पड़े शब्दवाला देवदत्त
 नामक महाशंखभी तहाँ भरा है, मैं यह सब वस्तुएं लाकर निःस-
 र्देह आपको दूँगा ॥ ८ ॥ वह दानव इसप्रकार अर्जुन
 से कहकर पूर्वोत्तर दिशाका ओरको गया और कैलाससे उत्तर
 की ओर मैनाक पर्वत पर जा पहुँचा ॥ ९ ॥ वसुके समीप ही
 मणियोंसे भूषित सुवर्णके शिखरोंवाले एक बड़ेभारी पर्वतको
 देखा, तहाँ ही रमणीय विन्दुसरोवर है जहाँ क्रि-राजा
 भगीरथने ॥ १० ॥ भागीरथी गङ्गाका दर्शन पानेके लिये बहुत
 वर्षोंतक निवास किया था, जहाँ भूतभावन महात्मा मनापतिने
 अतिवत्तम सौ यज्ञोसे यजन किया था, जहाँ क्रि-मणियोंके
 खंभे और सुवर्णकी वेदियें दृष्टान्तरूपसे नहीं रखली गई हैं किंतु
 शोभाके लिये बनाई गई हैं स्वर्गपति इन्द्रने तहाँ ही यज्ञ करके

स्तोत्रः शयीपतिः ॥ १३ ॥ यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वान् लोकान्
 सनातनः । उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ॥ १४ ॥
 नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः । उपांसते यत्र सत्रं
 सहस्रयुगपर्यये ॥ १५ ॥ यत्रेष्टं वामुदेवेन सधैर्वपगणान् बहून् ।
 श्रद्धधानेन सततं धर्मसम्प्रतिपत्तये ॥ १६ ॥ सुवर्णमालिनो यूर्पा-
 दचैत्पांथाप्यतिभास्वरान् । ददौ यत्र सहस्राणि मयुतानि च केशवः
 ॥ १७ ॥ तत्र गत्वा स जग्राह गर्दा शंखञ्च भारत । स्फाटिकञ्च
 सभाद्रव्यं यदासीद्दृष्टुपपर्षणः ॥ १८ ॥ किङ्करीः सह रत्नोर्ध्व-
 दरत्नमहद्वनम् । तदष्टदृष्ट्वा नमयस्तत्र गत्वा सर्वं महामुरः ॥ १९ ॥
 तद्राहत्य च तौ चक्रे सौष्ठुरोऽपतिर्मा सभाम् । विश्रुतां त्रिषु
 लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ॥ २० ॥ गदाञ्च भीमसेनाय मददौ
 मवरां तदा । देवदत्तश्चाजुर्नाय शंखमवरमुचयम् ॥ २१ ॥ यस्य
 सिद्धिर्पाई धी ॥ २१ ॥ १२-१३ ॥ जहाँ भूतभावन तीव्रणतेजा
 सनातन भगवान् भवानीपति सकल मजाओको रचकर सैंकड़ों
 सहस्रों भूतोंसे उपासना किये जाते हैं ॥ १४ ॥ जहाँ नर
 नारायण ब्रह्मा यम और शिव सहस्र युग बीतजाने पर यज्ञ
 किया करते हैं ॥ १५ ॥ वामुदेवने धर्मसम्प्रतिपत्तनेके लिये श्रद्धा
 के साथ निरन्तर बहुत वर्षोंतक तहाँ यहाँसे यजन किया था
 ॥ १६ ॥ जहाँ भगवान् केशवने सुवर्णकी मालाओंसे शोभित
 यज्ञस्तंभ और सैंकड़ों सहस्रों दमकती हुईं वेदियें दान कीं थीं
 ॥ १७ ॥ हे भारत ! उस महामुर मयदानवने तहाँ पहुँचकर दानव-
 राज दृष्टुपर्वाके अधिकारमें स्थित स्फटिककी सभा बनानेके
 योग्य सकल सागरी महती गदा देवदत्त शङ्ख और सेवक तथा
 राजसोंसे रत्नित सरल घनको लेलिया ॥ १८ ॥ १९ ॥ तद-
 नन्तर उस सकल सामग्रीको लेकर लौरेदृष्टु मयने निलोकीमें
 प्रसिद्ध मणिमयी अनुपम दिव्य सभास्थली बनाई ॥ २० ॥ और
 वह थेष्टुगदा भीमसेनको तथा परमोत्तम देवदत्त शंख अजुर्नको

शंखस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे । सभा च सा महाराज शात-
 कुम्भमयद्रुपा ॥ २२ ॥ दशकिष्कुसहस्राणि समन्तादायताभवत्
 यथावह्यैर्यार्कस्य सोमस्य च यथा सभा ॥ २३ ॥ आजमाना
 तथात्पर्यं दधार परमं वपुः । अभिघ्नतीव प्रभया प्रभामर्कस्य
 भास्वराम् ॥ २४ ॥ प्रवभौ उवलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा ।
 नवमेघमतीकाशा दिवमावृत्यधिष्ठिता ॥ २५ ॥ आयता विपुला
 रम्या विपाप्मा विगतक्लमा । उत्तमद्रव्यसम्पन्ना रत्नमाकारतो-
 रणा ॥ २६ ॥ बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा न दाशार्ही
 सुधर्मा वा ब्राह्मणी वाऽथ तादृशी ॥ २७ ॥ सभाकूपेण सम्पन्ना
 यां चक्रे प्रतिमान् मयः । तां स्म तत्र मयेनोक्ताः रत्नानि च वहन्ति
 च ॥ २८ ॥ सभामष्टौ सहस्राणि किङ्कुरा नाम राज्ञसाः । अन्त-
 देदिया ॥ २९ ॥ जिस शङ्खकी ध्वनि से सकल लोक घरीं उठते
 थे और हे महाराज ! उस सभामंदिरमें भी सुवर्णके बूझ बने हुए
 थे ॥ २२ ॥ वह सभा चारों ओरसे पांच सहस्र हाथ चौड़ी थी
 वह पाण्डवोंकी सभा अग्निदेव सूर्यदेव वा चन्द्रदेवकी सभाकी
 समान बड़े भारी आकारको धारण किये अत्यंत शोभायमान
 थी उसकी मभासे सूर्यकी दमकती हुई मभा भी अत्यन्त दवरही
 थी ॥ २३ ॥ २४ ॥ वह दिव्य तेजसे दमकती हुई दिव्यसभा
 अपने तेजसे मानो जल उठी, नवीन मेघकी समान मानो आकाशको
 घेरकर स्थित हागयी ॥ २५ ॥ अत्यन्त लंबी चौड़ी रमणीय निर्दोष
 भ्रमनाशक रत्नोंके परकोटे और द्वारवाली उत्तम द्रव्योंसे भरी २
 ॥ ६ ॥ अनेको चित्रोंसे शोभित बहुतसे धनसे युक्त गमन
 व्यापिनी विश्वकर्माकी बनाई यादवोंकी सभा, देवताओंकी
 सभा वा स्वयं अज्ञानी की सभा भी तैसी नहीं थी ॥ २७ ॥
 मय दानवने जिस भवनको सभारूपसे तयार किया मय
 दानवकी आज्ञाके अनुसार गगनचारी महा घोर महाकाय महा-
 बली लाल १ तथा पीले २ नेत्रों और सीरीकी समान कानों
 वाले शस्त्रधारी आठ सहस्र किङ्कर नामक राज्ञ उस रमणीय

रत्नचरा घोरा महाकाया महाबलाः ॥ २६ ॥ रक्ताक्षाः पितृला-
क्षाश्च शुक्तिकर्णाः महारिणः । तस्यां सभायां मलिनीं चकारा-
प्रतिमां मयः ॥ २७ ॥ वैदूर्यपत्रवितर्ता मणिनालमयाम्बुजाम् ।
पद्मसौगन्धिकवतीं नानादिजगत्पायुताम् ॥ २८ ॥ पुष्पितेः पंकजे
धिशो कूर्मैर्मत्स्यैश्च कांचनेः । विप्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्क्तुसलिलां
शुभाम् ॥ २९ ॥ मन्दानिलसमुद्भूतां मुक्ताविन्दुभिराविताम् ।
महामणिशिलापट्टवद्धपर्यन्तवेदिकाम् ॥ ३० ॥ मणिरत्नचितां
सान्द्र केचिद्भयेत्य पावित्र्याः । दृष्ट्वापि नाभ्यजानन्त तेऽहानात्
मपतन्त्युत ॥ ३१ ॥ तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः ।
आसन्नानां विषा लीलाः शीतच्छाया मनोरमाः ॥ ३२ ॥ कान-

सभाकी रक्षा और देसपाल करने लगे तथा आवश्यकता होने
पर वह उसको एक स्थानसे उठाकर अन्यत्र भी लेजाते थे,
गय दानवने उस सभाभवनमें एक अपूर्व सरोवर भी बनाया ॥ २८ ॥
॥ २९ ॥ ॥ ३० ॥ जिसकी चौड़ाईमें वैदूर्यके पत्तर जड़े हुए थे, जिस
में मणियोंकी दंडियोंके कमल खिलरहे थे और जलमेंसे कमलों
की गंध आरही थी, अनेकों पत्तियोंके समूह उसमें कूजरहे थे ३१
नाना प्रकारके कमल खिलरहे थे, उसमें सुगंध के बने हुए मच्छ
और कछुए पड़े थे, रंगविरंगी विष्णुऔरकी सीढ़ीयें थीं और उसमें
का जल कीचड़रहित निर्मल था ॥ ३२ ॥ उसमें मन्द २ पवनसे
तरंगे उठरही थीं, मोतियोंकी बूंदोंसे चिती हुई थीं बहुतमूल्य
मणियोंकी शिलाओंसे आसपास चौतरी बनीहुई थीं, ॥ ३३ ॥
उसमें चारों ओर मोती और रत्नोंसे बितेहुए सरोवरके समीप
आकर भी कोई २ राजे तो उसको सरोवर समझ ही नहीं सकते
थे इसकारण बोला खाकर उसमें गिरपड़ते थे ॥ ३४ ॥ उस सभा
के दोनों ओर फल फूल और कोमल तथा नये पत्तोंसे शोभायमान
सुशीतल, नीलवर्ण, छायावाले, मनोरम नाना प्रकारके ऊंचे २
टलोंकी पंक्तियें लगीहुई थीं ॥ ३५ ॥ अनेकों सुगन्धित गंधीयें

नानि पुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः । हंसकारण्डवोपेताथक्रवा-
कापशोभिताः ॥ ३६ ॥ जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च
सर्वशः । मारुतो गन्धवादाय पाण्डवान् स्म निषेवते ॥ ३७ ॥
ईदृशो तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः । निष्ठिता धर्मराजाय
मयो राजन्यवेदयत् ॥ ३८ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः ।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः ॥ १ ॥ साज्येन पाय-
सेनैव मधुना मिश्रितेन च । भक्ष्यैर्मूलैः फलैश्चैव मांसैर्वाराह-
हारिणैः ॥ २ ॥ कृस्तरेणाय जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः । मांस-
प्रकारैर्विविधैः स्वाद्यैश्चापि तथा नृप ॥ ३ ॥ चोष्यैश्च विविधै राजन्
पेयैश्च बहुविस्तरैः । अहतरचैव वासोभिर्मान्यैरुच्चावचैरपि ॥ ४ ॥
तर्पयामास विमेन्द्रान् नानादिग्भ्यः समागतान् । ददौ तेभ्यः
सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः ॥ ५ ॥ पुण्याहपोपस्तत्रासीत्
और हंस कारण्डव चक्रवाकौसे शोभित बाबड़ियें उस सभाके चारों
ओर घनीहुई थीं ॥ ३६ ॥ वायु तहांके जलकमल और स्थलकमलोंकी
गन्धको लेकर पाण्डवोंकी सेवा करनेलगा ॥ ३७ ॥ मय दानव
ने चौदह महीनेमें ऐसी सभा रचकर धर्मराज युधिष्ठिरको उसकी
तयारीका समाचार दिया ॥ ३८ ॥ तृतीय अध्याय समाप्त ॥ ३ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे राजन् ! तदनन्तर राजा युधि-
ष्ठिरने घी और शनकरमिली खीर, फल, मूल, पराह और हरिण
का मांस, नाना प्रकारके भक्ष्य, चोष्य (चूसनेके) और बहुत
प्रकारके पीनेके पदार्थ तथा पिष्टान्गोंसे ब्रह्म सहस्र ब्राह्मणोंको
भोजन कराया फिर वस्त्रोंके पूरे धान और थोड़े मूल्यकी तथा
बहुमूल्य मालाओंसे तृप्त करके हर एकको एक २ सहस्र गौएं दान
दे सभामें प्रवेश किया ॥ १—५ ॥ हे महाराज उस सभामें

दिवस्पृगिव भारव । वादित्रैर्विनिर्घेर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चाधचैरपि ॥ ६ ॥
 पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च । तत्र मन्त्रा नटा भृष्टाः
 सूता पैतालिकास्तथा । उपतस्युर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्
 ॥ ७ ॥ तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः । तस्यां
 सभायां रम्भायां रेमे शक्नो यथा दिवि ॥ ८ ॥ सभायामृषयस्तस्यां
 पाण्डवैः सह आसते । आसाञ्चक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः
 ॥ ९ ॥ असितो देवलः सत्यः सर्पमाली महाशिराः । सर्वावसुः
 सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः ॥ १० ॥ वक्रो दान्भ्यः स्थूलशिराः
 कृष्णद्वैपायनः शुकः । सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा
 वपम् ॥ ११ ॥ तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च समुतो लोमहर्षणः । अम्बु-
 होम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ ॥ १२ ॥ दामोष्णीपस्मैवलिश्च
 पर्णादो घटजातुकः । मौञ्जाननो बापुभक्तः पाराशर्यश्च सारिकः
 ॥ १३ ॥ बलीपाकः सिलीपाकः सत्यपालः कृतश्रमः । जातूकर्णः

पुण्याहवाचनकी आकाशव्यापी ध्वनि होने लगी, तदनन्तर महाराज
 युधिष्ठिरने नानाप्रकारके दिव्य बाजे और गन्ध पुष्पादिसे
 देवताओंकी प्रतिष्ठा करके पूजाकी, सभाप्रवनमें मन्त्र भृष्ट नट
 पैतालिक और वन्दी अनोंने आकर धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरको
 प्रसन्न किया ॥ ६ ॥ ७ ॥ तैसे ही भ्राताओं सहित पाण्डुपुत्र
 युधिष्ठिर भी देवपूजन करके उस रमणीय सभामें स्वर्गपति इन्द्र
 की समान विहार करने लगे ॥ ८ ॥ अपि लोग पाण्डवोंके साथ
 सभामण्डपमें बैठे तथा अनेकों देशोंसे आवेहुए राजे भी बैठे
 ॥ ९ ॥ और असित, देवल, सत्य, सर्प माली, महाशिरा, सर्वा-
 वसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलिवक्र, दान्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्ण
 द्वैपायन, शुक, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, पुमसहित
 लोमहर्षण, अम्बुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य कौशिक दामोष्णीय,
 स्मैवलि, पर्णाद, वरजानुक, मौञ्जानन, बापुभक्त, पाराशर्य, सारिक,
 बलीपाक, सिलीपाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिलाजान

शिखावांश्च आलम्बः पारिजातकः ॥ १४ ॥ पर्वतश्च महाभागो
 मार्कण्डेयो महामुनिः । पवित्रपाणिः सावर्ण्यो भालुकिर्गालवस्तथा
 ॥ १५ ॥ जंघाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः । हरिवभ्रुरश्च
 कोण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः ॥ १६ ॥ काक्षीवानौपिजश्चैव
 नाचिकेतोऽथ गौतमः । पैङ्गयो घराहः शुनकः शाण्डिन्यश्च महा-
 तपाः ॥ १७ ॥ कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च ।
 मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः ॥ १८ ॥ एते चाम्ये
 च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः । उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमा-
 ॥ १९ ॥ कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञा शुचयोऽमलाः । तथैव
 क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते ॥ २० ॥ श्रीमान्महात्मा धर्मात्मा
 मृज्जकेतुर्विवर्द्धनः । संग्रामजिद्दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान् २१
 कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चापराजितः । कम्बोजराजः कमठः
 कम्पनश्च महावलीः । सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः ॥ २२ ॥
 बलपौरुषसम्पन्नान् कृत्वास्त्रानपितीजस । यथासुरान् कालकेया-

आलंब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्र
 पाणि, सावर्ण्य, भालुकि तथा गालव, जंघाबन्धु रैभ्य, कोपवेग तथा
 भृगु, हरिवभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन, काक्षीवान् औपिज,
 नाचिकेत, गौतम, पैङ्ग, घराह, शुनक, शाण्डिन्य, महातपा,
 कुक्कुर, वेणुजङ्घ, कालाप, कठ यह तथा अन्य भी वेदवेदाङ्गके पार-
 गाभी धर्मज्ञ जितेन्द्रिय विशुद्धस्वभाव महर्षि और व्यासजीके शिष्य
 हम सब तहाँ अतिपवित्र कथाएँ कहते हुए महात्मा युधिष्ठिरकी
 उपासना करने लगे तैसे ही अनेकों श्रेष्ठ क्षत्रिय भी धर्मराजकी
 उपासना करने लगे ॥ १० ॥ ॥ २० ॥ श्रीमान् महात्मा धर्म
 शील मृज्जकेतु विवर्द्धन संग्रामविजयी दुर्मुख, वीर्यवान् च सेन २१
 भूमिपति कक्षसेन, किसीसे पराजय न पाया हुआ क्षेमक, कांबोज
 देशका राजा कमठ, महावली कम्पन कि जिस अकेलेने ही यवनों
 को कम्पित कर दिया था ॥ २२ ॥ जैसे कि बल शूरपार्थयुक्त अस्त्र-

न्देवो वज्रधरस्तथा ॥२३॥ जटासुरो भद्रकाणां च राजा कुन्तिः
 पुलिन्दश्च किरातराजः । तयस्त्रवाङ्मौ सह पुण्ड्रकेण पाण्ड्योद्
 राजो च सहान्धकेण ॥ २४ ॥ अङ्गो वङ्गः सुमित्रश्च शैव्यश्चामि-
 त्रकर्पणः । किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ॥२५॥ चारुणो
 देवरातश्च भोजो भीमरथश्च य । श्रुतायुश्च कालिङ्गो जयमेनश्च
 मगधः ॥२६॥ सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चामित्रकर्पणः । केतुमान्वसु-
 दानश्च वैदेहोऽथ कृतञ्चण ॥ २७ ॥ सुधर्मा चानिरुद्धश्च श्रुतायुश्च
 महाबलः । अनूपराजो दुर्दर्पः क्रमजिच्च सुदर्शनः ॥२८॥ शिशु
 पालः सहस्रतः करुणाधिपतिस्तथा । वृष्णीनां चैव दुर्दर्पाः
 कुमारौ देवरूपिणः ॥ २९ ॥ आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण
 एव च । अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिमेः सुतः ॥ ३० ॥
 भीष्मकोपाकृतिश्चैव धुमत्सेनश्च वीर्यवान् । केकयश्च महेष्वासा
 यशसेनश्च सोमकिः ॥ ३१ ॥ केतुमान्वसुधर्माश्चैव कृताश्वश्च महा-
 धारी परमपराक्रमी कालिकेय नामकः असुरोको वज्रधारी इन्द्रने-
 पराजितः कियत् ॥ ३२ ॥ मद्रकदेशोका राजा जटासुरः कुन्ति-
 किरातराजः पुलिन्दः तथा अङ्गः वङ्गः पुण्ड्रकः अन्ध्रः पाण्ड्यः बह्वराजः
 २३ अङ्गः और वङ्गके दूसरे राजे सुमित्र शत्रुघाती शैव्य किरातराज
 तथा यवनाधिपति सुमना ॥२५॥ चारुण देवराज भयानक रथवाला
 भोज प्रसिद्ध शस्त्रवाला कलिंगदेशका राजा विजयी सेनावाला
 मगधदेशका राजा ॥ २६ ॥ सत्कर्मा चेकितान शत्रुमर्दन पुरु
 केतुमान् वसुदान वैदेह कृतञ्चण ॥२७॥ सदर्मा अनिरुद्ध महाबली
 श्रुतायु किसीसे न दबनेवाला अनूपराज क्रमविजयी सुदर्शन ॥२८॥
 पुत्रसहित शिशुपाल करुणदेशका राजा तथा किसीसे दबाव न
 खानेवाले वृष्णिवंशी देवरूप कुमार ॥ २९ ॥ आहुक विपृथु गद
 सारण अक्रूर कृतवर्मा शिनिकुमार सत्यक ॥ ३० ॥ भीष्मक
 आकृति वीर्यवान् धुमत्सेन बड़े धनुर्धारी केकयदेशके राजे यश-
 सेन सोमकि ॥ ३१ ॥ केतुमान् शस्त्र चलानेने पवीण और महा

बलः । एते चान्ये च बहवः क्षत्रिया मूल्यसम्पत्ताः ॥ ३२ ॥
 उपासते सभार्यां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् । अर्जुनं ये च संश्रित्य
 राजपुत्रा महाबलाः ॥ अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ३३ ॥
 तत्रैव शिक्षिता राजन् कुमारा वृष्णिनन्दनाः । रौक्मिण्येवश्च सा-
 म्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः ॥ ३४ ॥ सुधर्मा चानिरुद्धश्च शैब्यश्च
 नरपुंगवः । धनंजयसखा चात्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ॥ ३५ ॥
 उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः । चित्रसेनः सहापात्यो
 गन्धर्वः सरमस्तथा ॥ गीतयादिभ्रुकुशलाः साम्पतालविशारदाः
 ॥ ३६ ॥ ममाण्येऽयं लये स्थाने किन्नराः कुतविश्रमा । सञ्चो-
 दितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा ॥ ३७ ॥ गायन्ति दिव्यता-
 नैस्ते यथान्यायं मनस्विनः ॥ पाण्डुपुत्रानृषीश्चैव रमयन्त उपा-
 सते ॥ ३८ ॥ तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसङ्गराः दिवीष

बली बसुमान् यह तथा और भी बहुतसे मुख्य मान्य क्षत्रिय सभा
 में आकर कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे।
 जो सकल महाबली राजकुमार मृगधर्म धारण करके अर्जुनसे
 धनुर्विद्या सीखे थे ॥ ३१ ॥ ३३ ॥ और हे राजन् ! तहां ही
 शिक्षा पायेहुए वृष्णिवंशी कुमार रुक्मणीके पुत्र शाम्ब युयुधान
 सात्यकि ॥ ३४ ॥ सुधर्मा अनिरुद्ध नरपुंगव शैब्य और अर्जुन
 का मित्र तुम्बुरु यह सब नित्य तिस सभामें आते थे ॥ ३५ ॥
 गाने बजानेमें प्रवीण ताल खरमें बली प्रकार चतुर मन्त्रीसहित
 चित्रसेन और सत्तार्हस गन्धर्व तथा अप्सरा सभामें बैठेहुए महात्मा
 युधिष्ठिरकी उपासना करते थे ॥ ३६ ॥ और किन्नर, तुम्बुरुकी
 आज्ञानुसार यथोचित दिव्य वान लय और विशुद्ध स्वरोंके साथ
 गानसे पाण्डुकुमार और मर्षिपोंमें प्रसन्न करने उनकी उपासना
 करने लगे ॥ ३८ ॥ जैसे देवता ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं
 तैसे ही उस महती सभामें बैठनेवाले सब लोग सुन्दर नियम और

देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ३६ ॥

इति सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः

॥ समाप्तश्च सभाक्रियापर्व ॥

॥ अथ लोकपालसभाख्यानपर्व ॥

वैशम्पायन उवाच । अथ तत्रोपनिष्ठेषु पाण्डवेषु महात्मसु ।
महत्सु चोपनिष्ठेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥ १ ॥ वेदोपनिषदां वेत्ता
ऋषिः सुरगणाधिपः । इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥ २ ॥
न्यायविद्वर्मतत्त्वज्ञः षड्विद्वदनुत्तमः । ऐक्यसंयोगनानात्वसमवाय
विशारदः ॥ ३ ॥ वक्ता मगधो मेधीवी स्मृतिमान्नयविस्फुटिः ।
परापरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥ ४ ॥ पञ्चावयवयुक्तस्य
वाक्यस्य गुणदोषवित् । उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः
॥ ५ ॥ धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत् कृतनिश्चयः । तया भुवन

सत्यप्रतिष्ठाके, साथ युधिष्ठिरकी उपासना करने लगे ॥ ३६ ॥

चतुर्थ अध्याय समाप्त ॥ ४ ॥ छ ॥ छ

॥ अथ लोकपाल सभाख्यान पर्व ॥

वैशम्पायन कहते हैं कि- हे भरतर्यभ ! महामतापी पांडव और
गंधर्व उस सभामें बैठेहुए थे कि-उसी समय पारिजात शुद्धिमान् रैवत
सौम्य सुमुख धौम्य आदि कितने ही तेजके पुंजरूप ऋषियोंको
सांपमें लिये परमतेजस्वी देवर्षि नारदजी भूतल पर विचरतेर तहां
आपहुंचे वह वेद और उपनिषदोंके ज्ञाता देवगणोंसे पूजित इति-
हास पुराणोंमें प्रवीण पहिले कल्पोंको विशेषरूपसे जाननेवाले
न्याय और धर्मके तत्त्वज्ञ वेदके छः अङ्गोंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ
नाना प्रकारके परस्परविद्वद् विधिवाक्योंकी एकवाक्यता करनेमें
चतुर अच्छा बोलनेवाले मगध मेधाधान स्मरणशील प्रमाणोंके
ज्ञाता पवि भले गुरेको अलग २ जाननेमें चतुर प्रमाणोंसे वस्तुओं
का निश्चय करनेवाले न्यायके पञ्चावयव वाक्योंके गुणदोषोंको
जाननेवाले परमवक्ता बृहस्पतिजीकी बातका भी उत्तर देनेमें समर्थ
धर्म-अथ-काम-और मोक्षके विषयमें यथावत् निश्चय रखनेवाले

कोपस्य सर्वस्यास्य महामतिः ॥६॥ प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्य्य-
गूर्ध्वमधस्तथा । सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विबित्सुः सुरासरान् ॥७॥
सन्धिविग्रहतस्वप्नस्त्वनुमानविभागवित् । पाद्गुण्यविधियुक्तरच
सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ८ ॥ युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्रप्रतिगस्तथ ॥
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ॥९॥ लोकाननुचरन् सर्वा-
नागपक्षां सभां नृप । नारदः समुद्रातेजा अपिभिः सहितस्तदा १०
परिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता । सुमुखेन च सौम्येन देवर्षि-
रप्रित्युतिः ॥११॥ सभास्थानं पादवान् द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः ।
जयाशीभिस्तु ते विप्रो धर्मराजानं धर्षयत् ॥१२॥ तमागतमृषिं दृष्ट्वा
नारदं सर्वधर्मवित् । सहसा पादवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायानुजैः सह ॥१३॥
अभ्यवादयत् प्रीत्या विनयावनतस्तदा । तदर्हमासनं तस्मै सम्प्रदाय
यथाविधि । गाञ्धर्व मधुपर्कञ्च सम्प्रदायोर्ध्वमेव च ॥ १४ ॥

इस सकल भुवनकोश और त्रिलोकीमें इपर उपर ऊपर नीचे जो
कुछ होता है उसको योगबलसे प्रत्यक्ष देखनेवाले शिष्योंको सांख्य
योगके ज्ञानका यथावत् उपदेश करनेकी रीतिके ज्ञाता देव दैत्यों
को वैराग्यका उपदेश करनेके अभिलाषी सन्धिविग्रहके तत्त्वको
जाननेवाले अनुमानसे कर्त्तव्य अकर्त्तव्यका विभाग करनेमें चतुर
पाद्गुण्य प्रयोगके विषयमें अनुपम, सकल शास्त्रोंमें प्रवीण
युद्ध और गानविद्याके सेवी और सर्वत्र गतिवाले ये इनसे
तथा और भी बहुतसे गुणसमूहोंसे भूषित थे ॥ ६-११ ॥
देवर्षि नारदजी सभामें बैठेहुए पाण्डवोंको देखकर बड़े प्रसन्न
हुए तथा जयके आशीर्वादोंसे धर्मराजकी पूजा और सत्कार किया
॥ १२ ॥ नारदजीको सभामें आये हुए देखकर पादवश्रेष्ठ धर्मज्ञ
युधिष्ठिर अपने छोटे आताओंसहित उठकर खड़े होगये ॥१३॥
और प्रसन्न हो विनयसे नम्र होतेहुए साष्टाङ्ग मणाम करके उनके
योग्य आसन बैठनेको दे विधिपूर्वक गौ सुवर्ण मधुपर्क अर्घ्य तथा
इन्द्रिय वस्तुओंमें उनकी पूजा करी और महर्षि भी युधिष्ठिरसे

अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मविद् । ततोप च यथावच्च पूजां
 प्राप्य युधिष्ठिरात् ॥ १५ ॥ सोऽर्चितः पांडवैः सर्वमहर्षिवेदपारगः ।
 धर्मकामार्थसंपुक्तं पमच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥ नारद उवाच ।
 कच्चिदर्थश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः । सुखानि चानुभूयन्ते
 मनश्च न बिहग्यते ॥ १७ ॥ कच्चिदाचरितं पूर्वैर्नरदेव पितामहैः ।
 वर्त्तसे वृत्तिपत्तुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ॥ १८ ॥ कच्चिदर्घ्येन वा
 धर्मं धर्मेणार्थमवापि वा । उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रया-
 घसे ॥ १९ ॥ कच्चिदर्थं च धर्मञ्च कामञ्च जयतां वर । विभज्य
 काले कालज्ञः सदा वरद सेवसे ॥ २० ॥ कच्चिद्राजगुणैः पद्भिः
 सप्तोपायांस्तथानघ । बलाबलं तथा सम्पक् चतुर्दश परीक्षसे २१
 कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयताम्वर । तथा सन्धाय कर्माणि

यथोचित पूजाको पाकर परम प्रसन्न हुए ॥ १५ ॥ १५ ॥ इस
 प्रकार पांडवोंसे पूजितहुए वह वेदपारगामी महर्षि धर्म कामार्थपुक्त
 धार्योंमें युधिष्ठिरसे प्रश्न करनेके विषसे उनको उपदेश देनेलगे
 ॥ १६ ॥ नारदजीने कहा कि- हैं राजन् ! तुम्हारे अर्थ तो सिद्ध
 होते हैं और अर्थचिन्तन करते हुए क्या धर्म चिन्तनमें भी मन
 लगता है ? सुखोंके अनुभवमें अत्यन्त आसक्त होकर तुमने मन
 को एक साथ दूषित तो नही कर डाला ॥ १७ ॥ हे नरदेव ! धर्म
 अर्थ और कामका सेवन करनेमें अपने पूर्वपुरुषोंके कियेहुए
 सज्जनताके वर्त्तावको तो नहीं भूलजाते हो ॥ १८ ॥ धर्माचरणमें
 उदासीनता तो नहीं करते हो ? धर्मचिन्तनमें मग्नहुए अर्थचित-
 नको तो संशय नहीं छोड़ बैठते हो ! निरन्तर कामरसका स्वाद
 लेनेपर आपके अर्थमें तो क्षान्ति नहीं आती है ॥ १९ ॥ हे समय
 के स्वरूपको जाननेवाले विजयशाली युधिष्ठिर ! धर्म अर्थ कामकी
 उचित समय पर यथाविधि सेवा तो करते हो ? ॥ २० ॥ हे निष्पाप
 राजन् ! क्या तुम छः राजगुण सात उपाय और अपना तथा शत्रु
 का बलाबल इन चौदहकी परीक्षा करते हो ? ॥ २१ ॥ खेती,

अष्टौ भारत सेवसे ॥ २२ ॥ कच्चिद् प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरत-
 र्पथ । आढ्यास्तथा व्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ॥ २३ ॥ कच्चिन्न
 कृतकैर्दूतैर्ये चाप्यपरिशङ्किताः । त्वत्तो वा तव चामात्यैर्भिद्यते
 मन्त्रितन्तथा ॥ २४ ॥ मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चित् वेत्ति चिकीर्षितम् ।
 कच्चिस्सन्धिं यथाकालं विग्रहं वोपसेवसे ॥ कच्चिद् वृत्तिमुदासीने
 मध्यमे चानुमन्यसे ॥ २५ ॥ कच्चिदात्मसभा वृद्धाः शुद्धाः सम्बो-
 धनक्षमाः । कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते धीर मन्त्रिणः ॥ २६ ॥
 विजयो मन्त्रमूलो हि राष्ट्रो भवति भारत । कच्चित् संवृतमन्त्रैस्ते
 अपात्यैः शास्त्रकोविदैः । राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते २७
 कच्चिन्निद्रावशं नैपि । कच्चित्काले भिवुध्यसे । कच्चिच्चपररात्रेषु
 व्यापार, किलेको मरम्मत, पुलोंका बनवाना, खर्च और आमदनी
 को सुनना, नगरके काम देखना और देशको देखना यह आठ
 प्रकारका राजकार्य क्या तुम अपने और शत्रुओंकी ओरको देख
 कर तथा कायोंकी ओर ध्यान देकर करते हो ॥ २२ ॥ तुम्हारी
 दुर्गपति आदि सात प्रकृति तो कुशलपूर्वक हैं? उनकी सब प्रकार
 उन्नति तो है उनकी राजभक्तिमें कमी तो नहीं है? वह दुर्व्यसनोंमें
 लिप्त तो नहीं हैं ॥ २३ ॥ निःशङ्कचित्त और कपटी दूतोंको तुम्हारी
 या तुम्हारे मंत्रियोंकी काहुई सम्मति तो प्रकाशित नहीं होती है
 ॥ २४ ॥ शत्रु मित्र और तुमसे उदासीन रहनेवाले पुरुष जो कुछ
 करना चाहते हैं वह तुम्हीं मालूम तो हो जाता है समयानुरूप सधि
 वा युद्ध तो करोगे हो, उदासीन और मध्यमके साथ तुम मध्यस्थ-
 भाव तो रखते हो ? ॥ २५ ॥ हे वीर ! तुमने अपने मंत्री तो अपने
 योग्य वृद्ध शुद्ध स्वभाववाले समझदार कुलीन और प्रेम करने
 वाले करे हैं ? ॥ २६ ॥ हे भारत ! मंत्रणा विजय पानेका मुख्य
 हेतु है सो मंत्रको छुपा रखनेवाले शास्त्रके ज्ञाता मंत्रियोंसे तुम्हारा
 राज्य सुरक्षित तो रहता है? शत्रु चढ़ाई करके वा लूटकर तुम्हारे
 राज्यको नष्ट तो नहीं करते हैं? ॥ २७ ॥ तुम कहीं निद्राके वशीभूत

चिन्तयस्वर्थमर्थयित् ॥ २८ ॥ कच्चिन्मन्त्रस्यसे नैकः कच्चिन्न
 बहुभिः सह । कच्चित्ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥ २९ ॥
 कच्चिदर्थान्निश्चित्य लघुमूलान्महोदयान् । क्षिप्रमारभसे कर्तुं न
 विघ्नयसि तादृशान् ॥ ३० ॥ कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ता परोक्षास्ते
 विशङ्किताः । सर्वे वा पुनस्तृष्ट्या संस्पृष्ट्यान् कारणम् ॥ ३१ ॥ आप्तै-
 रलुब्धैः क्रपिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिता । कच्चिद्राभन् कृतान्येव कृत-
 मायाणि वा पुनः ॥ ३२ ॥ विदुस्ते वीर कर्माणि नानयाप्तानि कानि-
 चित् । कच्चित्कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः ॥ ३३ ॥ कारयन्ति
 कुमारान्ध योधमुख्यान्ध सर्वशः । कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं
 क्रीणासि पण्डितम् ॥ ३४ ॥ पण्डितो ह्यर्थकुच्छ्रेषु क्रुयान्निःश्रे-

तो नहीं रहते ? ठीक समय पर जागते तो हो तुम ? तत्त्वज्ञ हो अतः
 राजिके पिछले भागमें उचित अनुचितका विचार तो करते हो
 ॥ २८ ॥ अकेले वा बहुतसोंके साथ बैठकर तो सम्मति नहीं
 करते हो तुम्हारी मंत्रियोंके साथकी झूई सम्मति राज्यमें फैल तो
 नहीं जाती ? ॥ २९ ॥ जिनमें परिश्रम कम हो और फल बड़ाभारी
 हो ऐसे कार्योंका आरंभ शीघ्र ही करदेते हो ना ? आलस्यमें पड़-
 कर उनमें विघ्न तो नहीं डालदेते हो ॥ ३० ॥ किसान लोग आपके
 परोक्षमे ठीक २ व्यवहार तो करते हैं ? क्योंकि-निःसन्देह प्रभु
 के ऊपर सच्चा प्रेम हुए बिना ऐसा होना असम्भव है ॥ ३१ ॥
 विश्वासपात्र निर्लोभ कुलक्रमागत कर्मचारियोंसे काम लेते हो ना ?
 तुम्हारे किये हुए वा किये जातेहुए कार्योंको लोग जान लेते हैं या
 नहीं ? हे वीरवर ! कार्योंको कोई सिद्ध होनेसे पहिले तो नहीं जान
 लेते ? आरंभ करनेसे पहिले उन कार्योंकी परोक्षाके लिये धर्मज्ञ
 शास्त्रमें प्रवीण परीक्षकोंको नियत करते हो या नहा ॥ ३२ ॥ ३३ ॥
 युद्धविद्यामें प्रवीण वीर पुरुषोंके द्वारा कुमारोंको युद्धका शिक्षा
 तो दिलाते हो सहस्रों मुखोंके बदलेमें एक पण्डितको तो खरी-
 दते हो ॥ ३४ ॥ क्योंकि-किसी प्रकारकी विपत्ति आपटने पर

यसं परम् । कच्चिद्दुर्गाणि सर्वाणि घनधान्यायुधोदकेः ॥३५॥
 घनैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः । एकाऽप्यमात्यो मेधावी
 शूरो दान्तो विलक्षणः ॥३६॥ राजानं राजपुत्रं वा मापयेन्महतीं
 श्रियम् । कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपत्ने दश पञ्च च ॥३७॥ त्रिभि-
 स्त्रिभिरविहातैर्वेत्सि धीर्यानि चारकैः । कच्चिद् द्विषामविदितः
 प्रतिपन्नश्च सर्वदा ॥ ३८ ॥ नित्ययुक्तो रिपून् सर्वान् वीक्ष्यसे
 रिपुसूदन । कच्चिद्विनयसंपन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः ॥ ३९ ॥ अन्-
 त्रयुरसंकीर्णः सत्कृतस्ते पुरोहितः । कच्चिदग्निषु ते युक्तो वि-
 धिज्ञो यतिमानृजुः ॥ ४० ॥ हुतञ्च होष्यमाणं च काले वेदयते
 सदा । कच्चिदङ्गेषु निष्णातो व्योतिषः प्रतिपादकः ॥ ४१ ॥
 उत्पातेषु च सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव । कच्चिन्मृक्या महत्स्वेव

परिहृत पुरुष अनायासमें ही उत्तकं उपाय कर परम मंगल कर
 सकता है तुम्हारे किले तो घन धान्य शस्त्र जल अग्नोसे परिपूर्ण
 रहते हैं ? उनमें कारीगर और धनुषधारी सर्वदा सावधानीसे समय
 तो बिताते हैं ? एक भी बुद्धिमान् शूर जितेन्द्रिय चतुर मंत्री राजा
 वा राजकुमारको बड़ी भारी राजलक्ष्मी प्राप्त करा सकता है, पर-
 स्पर एक दूसरेको न जाननेवाले तीन-चारोंसे शत्रुओंके पुरोहि-
 तादि अठारह और अपने पन्द्रह तीर्थोंको तो जानते हो ? हे शत्रु-
 नाशक ! सावधान रहकर शत्रुओंकी अज्ञातदशामें उनके सकल
 कार्योंको देखते तो रहते हो ? विनययुक्त कुलीन पूर्णविद्वान् किसीसे
 डाहन करनेवाले उदारचित्त पुरुषको सत्कार करके तुमने अपना
 पुरोहित तो बनाया है और विधिको जानने वाले बुद्धिमान् सूपे
 और कायकुशल पुरुषको तो होमके काम पर नियुक्त किया है ३५
 ४०॥ जो कि यह जानता हो कि-कष हवन हुआ या और कब
 होना चाहिये ? आपका दैवज्ञ व्योतिषविद्यामें प्रवीण राज्यके अंगों
 को समझनेवाला और सब प्रकारके उत्पातोंको तो समझ सकता है ?

मध्यमेषु च मध्यमाः ॥ ४२ ॥ जघम्याश्च नघन्येषु मृत्पाः कर्मसु
 योजिताः । अमास्यानुपघातीतान् पितृपैतामहान् शुचीन् ॥ ४३ ॥
 श्रेष्ठान् श्रेष्ठेषु कच्चित्त्वं नियोजयसि कर्मसु । कश्चिन्नोग्रैश्च
 दण्डेन भृशमुद्विजसे मजाः ॥ ४४ ॥ राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो
 भरतर्षभ । कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ॥ ४५ ॥
 उग्रं प्रतिग्रहीतारं कामयानपि च स्त्रियः । कच्चिदृष्टश्च शूरश्च मति-
 मान धृतिमान् शुचिः । कुलीनश्चानुरक्तश्च दत्तः सेनापतिस्तथा
 ॥ ४६ ॥ कच्चिद्वलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ॥ घृष्टावदाता
 विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ४७ ॥ कच्चिद्वलस्य भक्तश्च
 वेतनश्च यथोचितम् । सम्पाप्तकाले दातव्यं ददासि न विकपसि
 ॥ ४८ ॥ कालातक्रमणादेते भक्तवेतनयोर्भूताः । भर्तुः कुर्वन्ति
 ना ? तुमने मुख्य कार्यों पर मुख्य मध्यम कार्यों पर मध्यम ॥ ४१ ॥
 ॥ ४२ ॥ और निकृष्ट कार्यों पर निकृष्ट सेवक नियत करे हैं ना ?
 निष्कपट कुलपरंपरागत पवित्रस्वभाव श्रेष्ठ मंत्रियोंको उत्तम
 कार्यों पर नियुक्त किया है ना ? मर्चंड दंड देकर मजाओंको अधिक
 व्याकुल तो नहीं करते हो ? ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ हे भरतसत्तम !
 मंत्री तुम्हारी आज्ञानुसार राज्यका शासन तो करते हैं ?
 जैसे यह कराने वाले पतितका अनादर करते हैं और
 स्त्रियों जैसे क्रूरस्वभाव कामचारी पतिका अनादर करती हैं तैसे
 आपके राज्यका शासन करनेवाले मंत्री तो आपका अनादर नहीं
 करते हैं ? तुम्हारा सेनापति बड़े कुलमें उत्पन्न हुआ मगध
 शूरवीर गंभीर कार्यकुशल और प्रभुभक्त तो है ? ॥ ४५ ॥ ४६ ॥
 तुम्हारी सेनाके मुख्य योधा सब प्रकारके युद्धमें प्रवीण मयूरा
 पराक्रमी सन्चरित साहसी और तुमसे यथोचित सन्मान पाये हुए
 तो हैं ॥ ४७ ॥ तुम अपनी सेनाको यथोचित वेतन और अगम
 तीक समय पर देते तो हो ? उनके दिक्क तो नहीं करते हो ॥ ४८ ॥
 क्योंकि—उनको अन्न और वेतन समय बिताकर देनेसे उनके द्वारा

दीर्घायाः सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ॥ ४६ ॥ कश्चित्सर्वेऽनुरक्ता-
 स्त्रां कुलपुत्रा मथानतः । कश्चित् प्राणांस्तवार्थेषु सन्त्यजन्ति सदा
 युधि ॥ ४७ ॥ कच्चिन्नैको बहूनर्थान् 'सर्वशः' साम्परायिकान् ।
 अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनोक्तिगः ॥ ४८ ॥ कश्चित्
 पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् । लभते मानमधिकं भूयो
 वा भक्तवेतनम् ॥ ४९ ॥ कच्चिद्विद्याविनीतांश्च नरान् ज्ञानविशा-
 रदान् । यथार्हमुणतथैव दानेनाभ्युपपद्यसे ॥ ५० ॥ कच्चिद्वारा-
 न्यनुप्याणां तवार्थं मृत्युमीयुषाम् । व्यसनं चाभ्युपेतानां विभर्षि
 भरतर्षभ ॥ ५१ ॥ कच्चिद्व्यादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम् । युद्धे
 वा विजितं पार्थ पुनरवत् परिरक्षसि ॥ ५२ ॥ कश्चित् त्वमेव सर्वस्याः
 रक्षा होनी तो दूरही उल्टी हानि पहुँचने लगती है, इस अनर्थ
 को पण्डितजन बहुत खुरा कहते हैं ॥ ४६ ॥ अष्टकुलोंके मथान २
 पुरुष प्रेम रखते हुए तुम्हारे लिये रणभूमिमें सदा प्राण देनेको
 तयार तो हैं ॥ ४७ ॥ सकल युद्धके कार्योंको करनेके लिये एक ही
 यथेच्छाचारी पुरुषको तो नियुक्त नहीं कर दिया है क्योंकि स्वेच्छा-
 चारी पुरुष शासनकी मर्यादाके बाहर होजाता है ॥ ४८ ॥ यदि
 कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे तुम्हारे कामको उत्तम रीतिसे सिद्ध
 करता है तो वह तुमसे अधिक सम्मान और नियमितसे अधिक
 अन्न और वेतन पाता है या नहीं ॥ ४९ ॥ ज्ञानके प्रकाश युक्त
 विद्यावान् अतिविनीत गुणी पुरुषोंका उनके गुणोंके अनुसार यथो-
 चित् धन देकर सम्मान तो करते हो ॥ ५० ॥ हे महाराज ! जो आ-
 के उपकारके लिये कालके गाथमें जाते हैं या परम विपत्तिमें फँस-
 जाते हैं उनके स्त्री पुत्रादि परिवारका भरण पोषण तो करते हो ५१
 हे पार्थ ! बलहीन वा युद्धमें हाराहुआ शत्रु भयभीत होकर जब
 तुम्हारी शरणमें आता है तब उसकी पुनर्ही समान रक्षा तो करते
 हो ॥ ५२ ॥ जैसे पिता माता सब संतानों पर एकसमान प्रेम करते

पृथिव्याः पृथिवीपते । समश्चानभिशंक्यश्च यथा माता यथा पिता
 ॥ ५६ ॥ कश्चिद् व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतपंथ । अभियासि
 जवेनैव सपीड्य त्रिविधं वलम् ॥ ५७ ॥ यात्रामारभसे दिष्टया
 मासकालपरिन्दम । पार्थिवमूलञ्च विद्वाय व्यवसायं पराजयम् ।
 बलस्य च महाराज वत्सा वेतनमग्रतः ॥ ५८ ॥ कश्चित् च वलमु-
 ख्येभ्यः परराष्ट्रे परन्तप । उपज्यम्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथा-
 र्हतः ॥ ५९ ॥ कश्चिदात्मानमेवाग्रे चित्रित्य विजितेन्द्रियः । परान्
 जिगीपसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ६० ॥ कश्चित्ते यास्यतः
 शत्रून् पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः । साम दानञ्च भेदश्च दण्डश्च विधि-
 पदगुणाः ॥ ६१ ॥ कश्चिद्वलं दृढं कृत्वा परान् यासि विशाम्पते ।
 तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ६२ ॥ कश्चिदष्टाङ्ग
 है तैसे ही आप भी समुद्रमेखला सकल पृथ्वीको समदृष्टि
 से देखते हो ना ॥ ५६ ॥ शत्रुको व्यसन्में आसक्त देख अपने
 मंत्र स्वजाना और भृत्य इस तीन प्रकारके बलका यथावत् विचार
 करके शीघ्र ही चढ़ाई तो कर देते हो ॥ ५७ ॥ हे शत्रुनाशन ।
 महाराज ! सैनिकोंके व्यवसाय जयलाभ और शक्तिको समझ
 कर उनको अग्रिम वेतन देते हुए ठीक समयपर युद्धकी यात्रा करते
 हो ना ॥ ५८ ॥ हे शत्रुतापन ! परस्पर भेद डालनेके लिये शत्रु-
 पक्षके मधान सैनिकोंको गुप्तरूपसे यथोचित धन देते हो ना ५९
 स्वयं जितेन्द्रिय होकर पहिले अपने आपको जीततेहुए इन्द्रियोंके
 परामें रहनेवाले असावधान शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा रखते हो
 ना ॥ ६० ॥ चढ़ाई करते समय पहिले ही साम दान दण्ड भेद
 इन गुणोंका शत्रुओंके ऊपर प्रयोग करलेने हो ना ॥ ६१ ॥ हे
 राजन् ! क्या पहिले अपने राज्यको दृढरूपसे सुरक्षित करके
 शत्रुओंके ऊपर चढ़ाई करते और उनको जीतनेके लिये अपना
 पक्ष विक्रम दिखाते हो तथा जीतकर उनको उनके ही राज्य
 में स्थापित कर देते हो या नहीं ॥ ६२ ॥ अष्टाङ्गयुक्त और

संयुक्ता चतुर्विधबला चमूः । बलमुख्यैः सुनीता तैर्द्विपतां प्रति-
वर्द्धिनी ॥ ६३ ॥ कच्चिन्नलवश्च मुष्टिश्च परराष्ट्रे परन्तप । अवि-
हाय महाराज निहंसि समरे रिपून् ॥ ६४ ॥ कच्चित् स्वपरराष्ट्रेषु
बहवोऽधिकृतास्तव । अर्यान् समधितिष्ठन्ति रत्नन्ति च परम्परम्
॥ ६५ ॥ कचिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शनानि च । घ्रेयाणि च
महाराज रत्नन्त्यनुमतास्तव ॥ ६६ ॥ कच्चित्कोपश्च कोष्ठश्च वाहनं
दारमायुधम् । आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ६७ ॥
कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशाम्पते । रत्नस्यात्मानमेवाग्रे
तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ॥ ६८ ॥ कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु
प्रमदासु च । प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ६९ ॥
कच्चिदापस्य चाङ्गेन चतुर्भागेन वा पुनः । पादभागैस्त्रिभिर्वापि

मुख्य सेनापतियोंकी सुशिक्षा दी हुई तुम्हारी चतुरंगिणी सेना
शत्रुओंका पराजय करने जाती है ना ? ॥ ६३ ॥ क्या शत्रुके राज्य
में अग्न काटने और इकट्ठा करनेके समयकी उपेक्षा न करके
संग्राममें शत्रुओंका संहार करते हो ॥ ६४ ॥ अर्थचिन्ताके लिये
आपके अधिकारी पुरुष तो अपने और दूसरोंके राज्यमें नियुक्त
होकर परस्पर तुम्हारा कार्य साधन करते हैं ? परस्पर विवाद करके
आपके मंत्रको तो प्रकाशित नहीं कर देते हैं ॥ ६५ ॥ हे महाराज !
भृत्य तुम्हारे वशमें रहकर खानेकी सामग्री शरीरको रगड़ने
के वस्त्र चन्दनादि और सूँघनेके पदार्थोंको सुरक्षित तो रखते
हैं ॥ ६६ ॥ आपका मंगल चाहनेवाले भक्त कर्मचारी अग्नभंडार
सवारी द्वार शस्त्र और आमदनीकी तो ठीक-२ देखभाल रखते
हैं ॥ ६७ ॥ हे राजन् ! तुम रणवासके और बाहरके सेवकोंसे
अपनी, अपने कुटुंबियोंसे उनकी तथा उनमें भी परस्पर एक
से दूसरेकी रक्षा तो करते हो ॥ ६८ ॥ दिनके पहिले भागमें
मद्यपान द्यूत खेल वा स्त्रियोंमें व्यसनके कारण होनेवाले तुम्हारे
व्ययको तो लोग नहीं जानते हैं ॥ ६९ ॥ आपकी आमदनीके

व्ययः संशोध्यते तव ॥ ७० ॥ कच्चिज्ज्ञातीन् गुरुन् वृद्धान्
 वणिजः शिल्पिनः श्रितान् । अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन
 दुर्गतान् ॥ ७१ ॥ कच्चिच्चाप्यव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
 अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायं व्ययं तव ॥ ७२ ॥ कच्चिदर्धेषु
 सम्प्रोढान् हितकामाननुमियान् । नापकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्य
 क्लिष्यम् ॥ ७३ ॥ कच्चिद्विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
 त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥ ७४ ॥ कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा
 वा वैरिणो वा विशाम्पते । अप्राप्तव्यब्रह्महारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः
 ॥ ७५ ॥ कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कृपारैः स्त्रीवलेन वा । स्वया
 वा पीडयते राष्ट्रं कच्चिच्चतुष्टा कृपीवलाः ॥ ७६ ॥ कच्चिद्राष्ट्रं
 तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च । भागशो विनिविष्टानि न कृपि-

चतुर्थभाग अर्द्धभाग वा तीन भागोंसे निजी व्ययका निर्वाह तो हो
 जाता है ॥ ७० ॥ वृद्ध लोग जातिके मनुष्य गुरुजन व्यापारी-कारी-
 गर आश्रित दीन दरिद्र और अनाथोंको सदा धन धान्य देकर
 उनके ऊपर अनुग्रह तो करते हो ॥ ७१ ॥ आमदनी और
 खर्च के कामपर नियत क्रिये हुए सब गिनने और लिखनेवालों
 तुम्हारी आमदनी और खर्च नित्य प्रातःकालके समय
 तुम्हें दिखाते तो हैं ॥ ७२ ॥ कार्यकुशल सावधान हितैषी
 कर्मचारियोंको पहिले उनका कोई अपराध बिना देखे तो उनको
 अधिकारसे अलग नहीं करते हो ॥ ७३ ॥ हे महाराज! पुरुषोंकी
 उत्तम मध्यम अधम योग्यताको जानकर तुम उनको यथोचित
 कार्योंपर नियुक्त करते हो ना ॥ ७४ ॥ हे राजन् ! तोभी चोर
 वैरी वा पहिले बिना परीक्षा क्रिये पुरुषोंको तो तुम अपने कार्यों
 पर नियुक्त नहीं करते हो ॥ ७५ ॥ चोर लोभी बालक वा स्त्रियों
 की मयलता अथवासे तुम्हारे अत्याचारसे प्रजा दुःख तो नहीं
 पाती है । राज्यके किसान तो सन्तुष्टचित्तमे समय बिताते हैं ॥ ७६

देवमातृका ॥ ७७ ॥ कच्चिन्न बीजं भक्तश्च कर्पकस्यावसीदति ।
पादिकेच शतं दृष्ट्वा ददास्पृणमनुग्रहम् ॥ ७८ ॥ कश्चित् स्व-
नुष्ठिता तात यार्त्ता ते साधुभिर्जनैः । यार्त्तायां संभितस्तात लोको
ऽयं सुखमेधते ॥ ७९ ॥ कच्चिच्छूराः कृतमहाः पञ्च पञ्चस्व-
नुष्ठिताः । क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजन् जनपदे तव ॥ ८० ॥ कश्चि-
न्नगरमुत्सर्ग्य ग्रामा नगरवत् कृताः । ग्रामवच्च कृताः प्रांतास्ते
च सर्वे त्वदर्पणाः ॥ ८१ ॥ कच्चिद्भलेनानुगताः समानि विपमानि
च । पुराणि चौरा निघ्नन्तश्चरन्ति विपये तव ॥ ८२ ॥ कश्चित्
स्त्रियः सान्त्वयसि कश्चिच्चाश्च सुरक्षिताः । कच्चिन्न अदधास्यासां
कश्चिच्च युद्धं न भापसे ॥ ८३ ॥ कश्चिच्चात्पयिकं भुत्वा तदर्थ-

राज्यमें स्थान स्थान पर जलसे भरे बड़े २ सरोवर तो खुदवा
दिये हैं खेतीका काम केवल वर्षाके ही भरोसे पर तो नहीं है ७७
किसानोंके यहां बीज और अन्न तो कम नहीं होजाता है ? आव-
श्यकता पड़ने पर सैंकड़ों पर चौपाईकी बढौतरी करके अनुग्रह
पूर्वक श्रृण तो देदेते हो ॥ ७८ ॥ साधुपुरुषोंके साथ तुम्हारी
ठीक २ बातचीत तो होती है । हे राजन् ! साधुओंके साथ संभाषण
करते रहनेपर ही यह लोक सुख पाता है ॥ ७९ ॥ जनपद (इलाके)
में प्रजापालन किलोकी रक्षा व्यापारियोंकी रक्षा खेतीकी देखभाल
और दुष्टोंका शासन इन पांच कार्योंपर नियुक्त कियेहुए पाँचों सुखि-
मान् बीर पुरुष मिलकर तुम्हारा हितचिन्तन तो करते हैं ॥ ८० ॥
ज्या नगरकी रक्षाके लिये परगने नगरोंकी समान और छोटे २
ग्राम परगनोंकी समान रखे हैं और वह सब नगर आदि ठीकर
तुम्हारे वक्षमें तो हैं ॥ ८१ ॥ डाकू चोर तुम्हारे राज्यमें सम विपय
स्थलोंमें दल बाँधकर नगरोंको लूटते तो नहीं फिरते हैं ॥ ८२ ॥
स्त्रियोंको संग्रह और सुरक्षित तो रखते हो घनका विस्वास करके
एतन्नात तो सगसे नहीं कहदेते हो ॥ ८३ ॥ किसी अमङ्गल बात

मनुचिन्तय प । भियाण्यनुभवन् शेषे न त्वमन्तःपुरे नृप ॥ ८४ ॥
 कचिवद् द्वौ मयमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशाम्पते । संचिन्तयसि
 धर्मार्थौ याम उत्याय पश्चिमे ॥ ८५ ॥ कचिवदर्थयसे नित्यं मनु-
 ष्यान् सफलंकृतः । उत्थाय काले कालज्ञैः सह पापद्वयमन्त्रिभिः
 ॥ ८६ ॥ कचिवदक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वर्त्तंकृताः । उपासते
 त्वामभितो रक्षणार्थपरिभृद्म ॥ ८७ ॥ कचिवद्वयद्वयेषु यमवत्
 पूजयेषु च विशाम्पते । परीक्ष्य वर्त्तसे सम्यगभियेषु मियेषु च
 ॥ ८८ ॥ कचिवच्छारीरमावाधयौपधैर्नियमेन वा । मानसं वृद्धसे-
 वाभिः सदा पार्थापकर्षसि ॥ ८९ ॥ कचिवद्वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गोपां
 विशारदाः । सुहृदयानुरक्ताश्च शरीरे ते हिता सदा ९० कचिवन्न
 लोभान्माहाहा मानाहापि विशाम्पते । अर्थिभृत्यर्थिनः मात्मान्

को सुनकर उसकी चिन्ता करते २ रणवासमें जाकर पुष्पमाला
 चन्दनादि म्रिय वस्तुओंके अनुभवसुखसे सोचो नहीं जाते हो ८४
 हे राजन् ! रातके पहिले दो पहर सोनेमें बिताकर रात्रिके पड़िले
 पहरमें उठकर धर्मार्थका चिंतन करते हो ना ॥ ८५ ॥ हे पांडव !
 यथासग्य उठकर और वेषभूषणादिसे सजकर समयको जानने
 वाले मंत्रियोंको साथ लिये दर्शन तो देते हो ॥ ८६ ॥ हे शत्रु-
 नाशन ! तुम्हारी रक्षा करनेके निमित्त लाल वस्त्रधारी शोभाय-
 मान रत्नरु हाथोंमें तलवारें लिये खड़े तो होते हैं ॥ ८७ ॥
 हे राजन् दृष्टके योग्य और पूजाके योग्य पुरुषोंकी यथोचित
 परीक्षा करके आप यमराजकी समान वर्त्ताव तो करते हैं,
 म्रिय और अम्रिय पुरुषोंके साथ यथोचित वर्त्ताव तो करते
 हो ॥ ८८ ॥ हे पार्थ ! शरीरकी पीड़ाओं औवध और
 पथ्यके द्वारा सदा मनकी पीड़ाओं निरन्तर वृद्धोंकी सेवासे दूर
 करते हो ना ॥ ८९ ॥ आपके वीच तो अष्टाङ्ग चिकित्सामें मवीण
 हैं ? मिन तो मेम करते हुए सदा आपके शरीरका हिम करनेमें
 तत्पर रहते हैं ॥ ९० ॥ हे राजन् ! आप किसी प्रकार लोभ मोह

पश्यसि कथञ्चन ॥९१॥ कश्चिन्न लोभान्मोहाद्वा विभ्रम्भात् मण्यपेन
 वा । आभितानां मनुष्याणां तृप्तिं त्वं संदृश्यसि वै ॥९२॥ कश्चिच्च
 पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः । त्वया सह विरुध्यन्ते परैः
 क्रीता कथञ्चन ॥९३॥ कश्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्पत्नेन परिपीडितः ।
 मन्त्रेण यत्नवान् कश्चिच्च दुर्भाभ्याश्च कथञ्चन ॥९४॥ कश्चिच्च सर्वेऽनु-
 रक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः । कश्चिच्च मायासिखदर्शेषु सन्त्य-
 जन्ति त्वया हताः ॥९५॥ कश्चित्ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्था प्रवर्तते ।
 ग्राह्याणां च साधूनां तव स्नैः श्रेयसी शुभा ॥९६॥ कश्चिच्चर्मै-
 र्ययीमूले पूर्वैराचरिते जनैः । यतमानस्तथाकर्तुं तस्मिन् कर्मणि
 वर्तते ॥९७॥ कश्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादन्यरन्ति वै द्विजाः ।

वा अभिमानके वशमें होकर तो वादी प्रतिवादीयोंके (मुर्ख
 मुद्दाओंके) कार्योंको नहीं देखते हो ॥ ९१ ॥ कहीं लोभसे
 मोहसे विश्वाससे वा प्रेमभावसे आश्रित मनुष्योंकी नौरूरी तो
 नहीं रोक लेते हो ॥ ९२ ॥ तुम्हारे देशवासी वा नगरनिवासी
 लोग मिलकर शत्रुसे बहुतसा धन ले आपके साथ किसी प्रकार
 का विरोध तो नहीं करते हैं ॥ ९३ ॥ दुर्बल शत्रुको बलात्कारसे
 अत्यन्त पीड़ा तो नहीं देते हो ? मंत्रबलसे यत्नवान् शत्रुको बहुततो
 नहीं दवाते हो ? बल और मंत्रसे किसीका सर्वनाश तो नहीं करते
 हो ॥ ९४ ॥ सब प्रधान २ राजे तो आपसे प्रेम रखते हैं ? वह आप
 के आदरसे घसीभूत होकर आपके लिये भाणतक देनेकी चपत
 रहते हैं क्या ॥ ९५ ॥ आप सब विद्याओंके विषयमें गुणोंका
 विचार करके ब्राह्मण और सज्जनोंका सन्मान करते हो ना ?
 क्योंकि ऐसा करना आपके मोक्षका हेतु और मङ्गलकारी है ॥ ९६ ॥
 हे महाराज ! यत्नके साथ पूर्वपुरुषोंके आचरण क्रियेहुए वेदोक्त
 धर्मका आचरण करनेमें तो मृत्त रहते हो ॥ ९७ ॥ क्या गुण-
 वान् ब्राह्मण तुम्हारे घर स्वादयुक्त सत्तम प्रकारके भोजनोंको

गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाभ्यर्त्ता सदक्षिणम् ॥ ६८ ॥ कचिच्च
 क्रनूनेकचित्तो बामपेयाश्च सर्वशः । पुण्डरीकारव कात्स्न्येन
 यतसे कर्तुमात्मवान् ॥ ६९ ॥ कचिच्चज्ञातीन् गुरुन् ब्रह्मा-
 न्देवतास्तापसानपि । चैत्प्राथ वृत्तान् कन्याणान् ब्राह्मणांश्च नम-
 स्यसि ॥ १०० ॥ कचिच्चश्लोको न मनुष्या स्वया मोरसाद्यतेऽनघ ।
 अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्वेऽमुष्टिति ॥ १०१ ॥ कचिच्चवेषा च ते
 बुद्धिर्दक्षिरेषा च तेऽनघ । आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थ-
 वशिणी ॥ १०२ ॥ एतया वर्त्तमानस्य बुद्ध्या राष्ट्रं न सीदति ।
 विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तं सुखमेधते ॥ १०३ ॥ कचिदा-
 द्यौं विशुदात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि । अदृष्टशास्त्रकुशलोऽर्न् लोभा-
 द्दूष्यते शुचिः ॥ १०४ ॥ दृष्टो गृहीतस्तत्कारि तज्ज्ञेर्दृष्टः सकारणः ।

खाकर दक्षिणा पाते हैं ॥ ९८ ॥ क्या एकाग्रचित्त होकर मनको
 पशमें कियेहुए अनेकों बामपेय और पुण्डरीक नामक यज्ञोंको
 पूर्णरीतिसे करते हो ॥ ६९ ॥ क्या गुरुजन ज्ञातिके वपोबुद्ध
 देवता तपस्वी चैत्यवृत्त और कन्याणकर्ता ब्राह्मणोंको नमस्कार
 करते हो ॥ १०० ॥ हे अनघ ! आप एकपक्षकी शोक वा मोक्षसे
 दब तो नहीं आते हैं लोक माद्वलिक वस्तुओंको हाथमें लेकर तो
 आपके समीप खड़े होते हैं ॥ १०१ ॥ हे महाराज ! आपकी बुद्धि
 और क्रिया तो मेरे बूझनेके अनुसार ही रहती है क्योंकि-ऐसा
 होनेसे बुद्धि और क्रियाएं आयु और यश देनेवाले तथा धर्म
 कामार्थके फलदायक होते हैं ॥ १०२ ॥ इसप्रकारकी बुद्धिसे वर्त्ताव
 करने पर राज्यमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती है और वह
 राजा भी सफल भूमिपल्लको जीतकर परमसुखमें समयको बिताता
 है ॥ १०३ ॥ तुम्हारे लोभाग्र्य अनमिष्ट अधिकारी पुरुषोंके द्वारा
 चोरीका साधन लगाए हुए सचरित्रविशुद्धस्वभाव निष्पाप पुरुष
 मरणका दण्ड तो नहीं पाते हैं ॥ १०४ ॥ हे नृपश्रेष्ठ ! दुष्ट अहित-
 कारी खोले स्वभाववाले दण्डके योग्य चोरको चोरी कीहुई वस्तु

कश्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥ १०५ ॥ उत्पन्नान्
 कश्चिदादृष्ट्य दग्धस्त्वय च मारय । अर्धान्न मिथ्या परयन्ति
 तवामात्या हता धनैः ॥ १०६ ॥ नास्तिक्यममृतं क्रोधं ममादं
 दीर्घसूत्रताम् । अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पंचवृत्तिताम् ॥ १०७ ॥
 एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् । निश्चिन्तानामनारम्भं मन्त्र-
 स्यापरिरक्षणम् ॥ १०८ ॥ मज्जलायमयोगश्च मत्स्युत्थानं च सर्वशः ।
 कश्चित् वर्जयस्येतान् राजदोषाश्चतुर्दश । प्रायशो यैर्विनश्यन्ति
 कृतमूर्त्तापि पार्थिवाः ॥ १०९ ॥ कश्चित् सफला वेदाः कश्चित्
 सफलं धनम् । कश्चित् सफला दाराः कश्चित् सफलं ध्रुमम् ॥ १०
 युधिष्ठिर उवाच । कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम् ।

के साथ पकड़कर भी तुम्हारे कर्मचारी धनके लोभसे छोड़ते नहीं
 देते हैं ॥ १०५ ॥ हे भारत ! तुम्हारे मंत्री धनके लोभमें पड़े हुए
 धनी और दरिद्रका विवाद होनेपर झूठा फैसला तो नहीं देते
 हैं ॥ १०६ ॥ नास्तिकता मिथ्याभाषण क्रोध ममाद दीर्घसूत्रता
 ज्ञानवान् पुरुषोंसे न मिलयी आलस्य विचकी चपलता निरन्तर
 धनकी चिन्ता, अभिमाय न समझने वालोंके साथ सम्मति करना
 निश्चय किये हुए कामको आरंभ न करना मंथनाकी रक्षा न
 करना माहलिक कार्योंको न करना और विना समझे सब
 कामोंमें हाथ डालना राजाओंके इन चौदह दोषोंको तो आप
 सर्वथा त्यागते हैं कि जो दोष जहमूलसे जमे हुए राजाओंको भी
 राज्यसे भ्रष्ट करदेते हैं ॥ १०७—१०८ ॥ आपका वेद पढ़ना
 तो सफल हुआ है ! आपने अपने धनको तो सफल किया है
 आपने अपने स्त्रीस्त्रीकारको तो सफल किया है और आपका
 विद्या पढ़ना तो सफल हुआ है ? ॥ १०९ ॥ युधिष्ठिरने कहा,
 कि—हे तपोधन ! वेद कैसे सफल होते हैं धन कैसे सफल होता
 है; स्त्रीस्त्रीकार कैसे सफल होता है और विद्या पढ़ना कैसे सफल

कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥१११॥ नारद उवाच
 अग्निहोत्रफला वेदा दत्तशुक्तफलं धनम् । रतिपुत्रफला दाराः
 शीलशुक्तफलं श्रुतम् ॥ ११२ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवदारुणाय
 स मुनिर्नारदो वै महावपाः । पमच्छानन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठि-
 रम् ॥ ११३ ॥ नारद उवाच । कचिच्चक्ष्म्यागता दूराद् वणिजो
 लाभकारणात् । यथोक्तमवहार्यन्ते शुष्कं शुष्कोपजीविभिः ११४॥
 कचिच्च ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः । उपानयन्ति
 पयवानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥ ११५ ॥ कचिच्च शृणोपि वृद्धानां
 धर्मार्थसहिता गिरः । मित्यमर्थविदां तात तथा धर्मार्थदक्षिणाम् ।
 ॥११६॥ कचिन् ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च । धर्मार्थश्च द्विजा-
 तिम्यो जीयते मधुसर्पिणी ॥ ११७ ॥ द्रव्योपकरणं किञ्चित् सर्वदा

होता है ॥ १११ ॥ नारदजीने कहा, कि-हे महाराज ! अग्नि-
 होम करनेसे वेदाध्ययन सफल होता है, दान करने या भोगने
 से धन सफल होता है, रतिक्रीड़ा और सन्तान उत्पन्न करनेसे
 स्त्रीस्वीकार सफल होता है और सुशीलता तथा सहचरपहारसे
 विद्या पढ़ना सफल होता है ॥ ११२ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि-
 यह महावपस्वी मुनिवर यह बात कहकर फिर धर्मात्मा युधिष्ठिरसे
 यह पूछने लगे ॥ ११३ ॥ हे राजन् ! लाभकी आशा करके पर-
 देशोंसे आये हुए व्यापारियोंसे आपके महमूल ले नेपर निपत किये
 हुए राजपुत्रन ठीक २ महमूल तो लेलेते हैं ? ॥ ११४ ॥ हे राजन् !
 आपके नगर और राजमें उन व्यापापियोंका सम्मान तो होता है
 और तुम्हारे अधिकारियोंके परीक्षा लेलेने पर ही व्यापारके
 पदार्थों को राज्यमें खानेपाने है ना ॥ ११५ ॥ है तात ! आप
 धर्मार्थदर्शी और उत्तमानी हृद्ध पुरुषोंकी धर्मभरी उपदेशकी
 बातें तो नित्य सुनते हो ॥ ११६ ॥ खेतीके काम में और
 फूल फलोंके विषयमें तथा धर्मार्थ घृत सहद देकर व्यापारों
 को तृप्त तो करते हो ॥ ११७ ॥ चौमासेसे पहिले सकल शिष्य-

सर्वशिल्पिनाम् । चातुर्मास्यावरं सम्पद्य न्यतं सम्पद्यत्यसि १०८
 कचिवत् कृतं विजानीये कर्तारं च प्रशंससि । सतां मध्ये महाराज
 सत्करोषि च पूजयन् ॥ ११६ ॥ कचिवत् सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि
 भरतर्षभ । इस्तिस्त्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥ १२० ॥
 कचिवदभ्यस्यते सम्पद्यगृहे ते भरतर्षभ । धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्र-
 सूत्रञ्च नागरम् ॥ १२१ ॥ कचिवदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च
 तेऽन्य । विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥ १२२ ॥
 कचिवदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात्तथा । रोगरक्षोभयाच्चैव
 राष्ट्रं स्वपरिरक्षसि ॥ १२३ ॥ कचिवदन्धाश्च मूर्खाश्च पंगून् व्यङ्गा-
 नवान्धवान् । पितेव पाप्मि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥ १२४ ॥
 पण्डनर्या महाराज कचिवत्ते पृथुतः कृताः । निद्रालस्यं भयं क्रोधो

कारों (कारीगरों) को शिल्पकारी करनेके सकल पदार्थ तो
 सदा नियमसे देदेते हो ॥ ११८ ॥ हे महाराज ! कोई उपकार
 करे तो उसको पाद तो रखते हो, कोई सत्कर्म करे तो उसका
 प्रशंसा और सज्जनोंमें आदर करके उसका सत्कार तो करते
 हो ॥ ११९ ॥ हे महाराज भरतकुक्षभूषण ! हाथियोंके लक्षण
 घोड़ोंके लक्षण और रथोंके लक्षण ऐसी सब बातोंको क्या आपने
 सीखा है ॥ १२० ॥ हे महाराज ! घरमें बैठकर धनुर्वेदके लक्षण,
 नगर बसानेकी रीति और यन्त्रविद्याका तो अभ्यास किया है १२१
 हे महाराज ! शत्रुओंका नाश करनेवाले अस्त्र ब्रह्मदण्ड और
 विषप्रयोग तो आपको मालूम हैं ॥ १२२ ॥ अग्निके भयसे तथा
 रोग और राष्ट्रसीस्वभाववाले दुष्ट पुरुषोंके भयसे तुम अपने
 सकल राज्यकी रक्षा तो करते हो ॥ १२३ ॥ हे धर्मज्ञ ! अन्य
 गूने पंगू अङ्गहीन अनाथ और निराश्रयोंकी पिताकी समान रक्षा
 तो करते हो ॥ १२४ ॥ हे महाराज ! निद्रा आलस्य भय क्रोध
 अधिक नमी और दीर्घमूर्खीपन इन छः अनर्थोंको तो आपने एक

मार्दवं दीर्घमूत्रता ॥ १२५ ॥ वैशम्पायन उवाच । त
मृगभो महात्मा श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य । मण्डपपादाव-
भिवाद्य दृष्टो राजाववीन्नारदं देवरूपम् ॥ १२६ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।
एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं भज्ञा हि मे भूय एवाभिवृद्धा ।
उत्तरवा तथा चैव चकार राजा लोभे मही सागरमेखलां च ॥ १२७
नारद उवाच । एवं यो वर्त्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणो, स विह-
त्येह सुमुखी शक्रस्येति सलोकताम् ॥ १२८ ॥

इति सभापर्वणि लोकपालसभाखण्डपुनर्पर्वणि कश्चिदध्यायो
नाम पंचमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच । संपूज्यायाभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात् परम् ।
प्रत्युवाचानुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ भगवन् न्याय्यमा-
हृतं यथावद्धर्मनिश्चयम् । यथाशक्ति यथान्पायं क्रियतेऽयं विधि-
त्ताय त्यागदिया है ॥ १२५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि कु-
वंशमें श्रेष्ठ महात्मा युधिष्ठिर देवरूप ब्राह्मणोत्तम नारदजीके ऐसे
उपदेशके वाश्योंको सुन परमप्रसन्न हुए तथा उनको प्रणाम और
अभिवादन करके निवेदन करने लगे ॥ १२६ ॥ युधिष्ठिरने कहा,
कि-हे तपोधन आपने जो आज्ञा की है, मैं ऐसा ही करूंगा, आप
के उपदेशसे मेरी बुद्धि अब और भी बढ़ गई है राजाने नारदजीके
सामने ऐसी प्रतिज्ञा करके उसके अनुसार ही वर्त्ताव भी किया
जिससे कि-सकल भूषणद्वलके स्वामी हुए ॥ १२७ ॥ नारदजीने
कहा, कि-हे महाराज ! जो राजा इसप्रकार चारों वर्णोंकी रक्षा
में लगा रहता है वह इस लोकमें परमसुखमें विहार करके अन्तमें
इन्द्रके लोकको पाता है ॥ १२८ ॥ पञ्चम अध्याय समाप्त ॥ ५ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे महाराज ! ब्रह्मर्षि नारदजीके
ऐसा कहनेके पीछे धर्मराज युधिष्ठिर यथोचित सरकार करके इस
के उत्तरमें क्रमसे कहने लगे कि ॥ १ ॥ हे भगवन् ! आपने जो
धर्मका निश्चयरूप उपदेश दिया वह बहुतही ठीक और यथार्थ है

मया ॥२॥ राजभिर्यद्यथा कार्यं पुरा वै तन्न संशयः । यथा-
न्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥ वयन्तु सत्पथं तेषां
यातुमिच्छामहे भवो । न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः
॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । तन्तु विधान्तपालक्ष्य देवर्षिममि-
तद्युतिम् । एवमुपरवा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च ॥ ५ ॥
सुहृत्तत्मासकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् । नारदं सुस्थमा-
सीनमुपासीनो युधिष्ठिरः । अपृच्छत्पापदवस्तत्र राजमध्ये महाश्रुतिः
॥ ६ ॥ युधिष्ठिर उवाच । भवन्तु सञ्चरते लोकान् सदा नानाविधान्
यहन् । ममस्या निर्मितान् पूर्वं मेक्षमाख्यो मनोजयः ॥ ७ ॥ ईदृशी
भविता काचिददृष्टपूर्वा सभा पृथग्विदुः । इतो वा भवेयसी ब्रह्मं स्व-

आर मैं यथाशक्ति न्यायानुकूल ऐसा ही करता भी हूँ ॥ १ ॥
पहिले राजे न्यायपूर्वक धनका संग्रह कर भिन सकल आवश्यक
कार्योंको करते थे मैं भी तैसा ही करता हूँ ॥ ३ ॥ हे महाराज !
वह भिन सकल सत्कर्मोंके फलकेँ दिखा गये हैं मैं उनके ही मार्गसे
चलना चाहता हूँ परन्तु वह अपने मनको नियममें रखकर जैसा
करगये तैसा मुझसे नहीं बनता ॥ ४ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं,
कि—वह धर्मात्मा युधिष्ठिर ऐसा कहकर और उनकी पातको
सराह कर परम तेजस्वी ब्रह्मर्षि नारदजीको कुछ विभ्राम करते
देखकर मौन हो गये ॥ ५ ॥ फिर कुछ देरमें परम यथापी पाण्डुकुमार
युधिष्ठिर सकल लोकोंमें विचरनेवाले नारदजीको कुछ स्वस्थ होकर
बैठेहुए देख उनकी सेवा करतेहुए अवसर समझकर धूमनेलगे
॥ ६ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे भगवन् ! आपकी गति मनकी
समान है, इसकारण आप पाहते ब्रह्माजीके बनायेहुए अनेकों
प्रकारके पशुतसे लोकोंमें सदा विचरते रहे हैं ॥ ७ ॥ हे ब्रह्मन् ! मैं
सुझता हूँ कि यदि आपने पहिले यहीं हमारी इस अलौकिक सभा
की समान वा इससे भी अच्छी कोई सभा देखी हो तो मुझमें घता

न्मपाचक्ष्व पृच्छतः॥८॥ वशम्पायन उवाच । तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य
धर्मराजस्य भाषितम् । पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन्मधुरया गिरा॥९॥
नारद उवाच । मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता । सभा
मणिमयी राजन् यथेयं तव भारत ॥ १० ॥ सभान्तु पितृराजस्य
बहणस्य च धीमतः । कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासमिलस्य च ११
ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतबलमाम् । दिव्या दिव्यैरभि-
मार्यरूपैतां विश्वरूपिणीम् ॥ १२ ॥ देवैः पितृगणैः साध्यैर्यज्व-
मिन्नियतात्मभिः । जुष्टा मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैसदक्षिणैः॥१३॥
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्त्तते भरतर्षभ । नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो
युधिष्ठिरः ॥ १४ ॥ माञ्जलिभ्रातृभिः सार्द्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ।
नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः ॥ १५ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।
सभाः कथय ता सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम् । किन्द्रव्यास्ताः

इये ॥ ८ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—नारदजी धर्मराजकी
इस बातको सुनकर मुसकुरातेहुए मधुरवाणीमें युधिष्ठिरसे यह बोले
॥ ९ ॥ नारदजीने कहा, कि—हे भरतवंशी राजन् ! तुम्हारा
इस मणिमयी सभाकी समान दूसरी सभा मनुष्यलोकमें तो मैंने
न कहीं देखी है और न कहीं सुनी है ॥ १० ॥ हे भरतसत्तम !
यदि सुननेको तुम्हारी बहुत ही उत्कण्ठा है तो पितृपति यम, बुद्धि-
मान् बहण, देवराज इन्द्र और कैलासनिवासी कुबेरकी सभाका मैं
वर्णन करता हूँ तथा ब्रह्माजीकी दिव्य अभिमायोसे युक्त
दिव्यरूपिणी बलेशापहारिणी एक दिव्य सभा है मैं उस
का वर्णन करता हूँ सुनो यह सभा देवता पितृगण साध्य
और शान्त जितेन्द्रिय यज्ञकरानेवाले मुनियोंकी गणदली तथा
शान्तरूप वेद और दक्षिणसहित साक्षात् यज्ञोंसे सेवित है नारदजी
के इस प्रकार कहनेपर चारों भ्राता और श्रेष्ठ मौखिकोंसहित
वदारचिच धर्मराज युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए उनसे कहनेलागे ११
॥ १५ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि— हे ब्रह्मन् ! हम सुनना चाहते हैं

सभा ब्रह्मन् किञ्चिस्ताराः किमापताः ॥ ६ ॥ पितामहश्च के तस्या
सभायां पर्युपासते । वासवं देवराजश्च यमं वैवस्वतश्च के १७
वरुणश्च कुबेरश्च सभायां पर्युपासते । एतस्सर्वे यथान्यायं
ब्रह्मर्षे वदतस्तव । भोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः १८
एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत । क्रमेण राजन् दिव्यास्ताः
भूयन्तामिह नः सभाः ॥ १९ ॥

इति सभापर्वणि लोकपालसभास्थानपर्वणि सभाजिज्ञासा
नाम पट्टोऽध्यायः ॥ १ ॥

नारद उवाच । शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता ।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्जितार्कसममभा ॥ १ ॥ विस्तीर्णां योजनशतं
शतमध्यद्विमायता । वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २ ॥
जराशोकवत्समापेता निरातङ्गा शिवाशुभा । वेश्मासनवती रम्या
एन सव सभाभ्रोंका वर्णन करिये कि—उन सभाभ्रोंमें क्या २
पदार्थ हैं और कितनी २ लंबाई चौड़ाई है ॥ १६ ॥ पितामह ब्रह्मा,
देवराज, इन्द्र, वैवस्वत यम, वरुण और कुबेरके आपनी २ सभामें
बैठने पर कौन २ उनकी उपासना करते हैं ? हे ब्रह्मर्षे ! आप यह
सब यथोचित रीतिसे वर्णन करिये, हम सबोंको आपसे सुननेका
बड़ा ही चाव है ॥ १७-१८ ॥ हे राजन् ! महर्षि नारदजीने धर्मराजके
इसप्रकार कहनेपर उत्तर दिया कि—हे महाराज ! मैं क्रमसे उन सब
सभाभ्रोंका वर्णन करता हूँ सुनो ॥ १-३ ॥ पष्ठ अध्याय समाप्त ॥ ६ ॥

नारजी कहनेलगे, कि—हे कुचनन्दन ! इन्द्रकी दिव्य सभा
तो बड़ी ही दमकती हुई है, जो देवराज इन्द्रने स्वयं विश्वकर्मासे
सूर्यकी समान कान्तिपती बनवायी है ॥ १ ॥ वह सभा सौ योजन
चौड़ी बड़ेसौ योजन लंबी, पाँच योजन ऊँची, आकाशमें अधर
स्थित और चाहे तहाँ जाने आनेवाली है ॥ २ ॥ उसमें सुढ़ापा
शोक धकाष्ट और भय आदि हैं ही नहीं, किंतु वह सुखरूप शुभा-
दायक है, उस रमणीय सभामें जहाँ तहाँ मन्दिर आसन और

दिव्यपादपशोभिता ॥ ३ ॥ तस्या देवेश्वरः पार्थ सभायां परमा-
सने । आस्ते शय्या महेन्द्राण्या धिया लक्ष्म्या च भारत ॥४॥
विभ्रत्पुरमनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः । विरजोऽम्बरश्चित्रमाल्यो
हीनीक्षिद्युतिभिः सह ॥ ५ ॥ तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं
शतक्रतुम् । मरुतः सर्वशो राजन् सर्वे च गृहमेधिनः ॥६॥ सिद्धा
देवर्षयश्च साध्या देवगणास्तथा । मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो
हेममालिनः ॥ ७ ॥ एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः ।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥८॥ तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ
शक्रमुपासते । अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ ९ ॥
तेजस्विनः सोमसुतो विशोका विगतज्वराः । पराशरः पर्वतश्च
तथा सार्वणिमालवौ ॥ १० ॥ शंखश्च लिखितश्चैव तथा गौर-
शिरा मुनिः । दुर्वासा क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घवमा मुनिः ॥११॥
दिव्यवृक्षोऽस्ती शोभा है ॥ ३ ॥ हे कुंतीनन्दन युधिष्ठिर ! अलौ-
किक रूपलावण्ययुक्त श्रीमान् यशस्वी देवराज इन्द्र, दिव्य किरीट
निमल वस्त्र लाल बाजूबन्द आर विचित्र मालाओंको धारण किये
लक्ष्मीकी समान शोभायमान इंद्राणीसहित उस सभामें बहुमूल्य
आसन पर विराजमान होते हैं ॥४-५॥ उस सभामें सकल गृह-
वासी देवता सिद्ध साध्य सुवर्णकी मालाएं पहिरे तेजस्वी मरुत
तथा और भी सब देवता मिस्र महात्मा इन्द्रकी उपासना करते
हैं ॥ ६-७ ॥ यह सब दिव्यरूपधारी वस्त्राभूषणोंसे सजे देवता
अनुचरोंको साथमें लिये हुए शत्रुनाशन महात्मा देवराज इन्द्रकी
उपासना करते हैं ॥८॥ तथा हे पाण्डव ! निर्मल पापरहित अग्निकी
समान दीप्यमान तेजस्वी और शोक-ज्वररहित देवश्रेष्ठि अनुचरों
सहित प्रतिदिन इस सभामें आकर महेन्द्रकी उपासना करते हैं,
महर्षि पराशर पर्वत सार्वणि मालव शंख लिखित तथा गौरशिरा
मुनि क्रोधी-दुर्वासा श्येन दीर्घतमा मुनि पवित्रपाणि सार्वणि
याज्ञवल्क्य मालुकि उद्दालक श्वेतकेतु ताण्ड्य तथा भाण्डायनि

पवित्रपाणिः सावर्णिर्वायवन्वयोऽथ मालुकिः । उद्दालकः श्वेत-
 पेतुस्ताण्डयो भाग्डायनिस्तथा ॥ १२ ॥ हविष्मन्श्च गरिष्ठश्चरि-
 थन्श्च पाथिवः । हृद्यश्चोदरशाण्डिन्यः पाराशर्यः कृपीवल् १३
 वामस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च । करालदन्तस्त्यष्टा
 च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः ॥ १४ ॥ अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्ता
 द्रुताशनाः । ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥ १५ ॥ सह-
 देवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः । शमीकः सत्यवाक् चैव
 मचेताः सत्यसत्तरः ॥ १६ ॥ मेघातिथिर्वापदेवः पुलस्त्य पुलहः
 क्रतुः । मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चान महातपाः ॥ १७ ॥ कक्षीवान्
 गौतमस्ताचर्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः । मुनिः कालकवक्षीय आश्रा-
 ष्योऽथ हिरण्यमयः ॥ १८ ॥ सम्बर्त्तो देवहव्यश्च विश्वकुसेनश्च
 वीर्यवान् । कण्वो कात्यायनो राजन् गार्ग्यः कौशिक एव
 च । दिव्या आपस्तथापथ्याः श्रद्धा मेघा सरस्वती ॥ १९ ॥
 अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युत्तथैव पाण्डव । जलवाहास्तथा मेघा

हविष्यमान् गरिष्ठ राजा हरिश्चन्द्र हृद्य उदरशाण्डिन्य पाराशर्य
 कृपीवल् वातास्कन्ध विशाख विधाता काल करालदन्त त्वष्टा
 विश्वकर्मा तुम्बुरु तथा अयोनिज और योनिज वायुको खाकर
 रहनेवाले हविष्य पर निर्वाह करनेवाले सर्वलोकेश्वर वज्रधारी
 इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥६॥१५॥ सहदेव सुनीथ महातपस्वी
 वाल्मीकि सत्यवक्ता शमीक सत्यप्रतिज्ञ मचेता मेघातिथि वामदेव
 पुलस्त्य पुलह क्रतु मरुत्त मरीचि महातपा स्थाणु कक्षीवान् गौतम
 ताचर्य तथा वैश्वानर मुनि कालकवक्षीय मुनि आश्राप्य हिरण्य
 सम्बर्त्त देवहव्य वीर्यवान् विश्वकुसेन कण्व कात्यायन गार्ग्य कौशिक
 जल और औषधोंके दिव्य शरीरधारी अधिष्ठात्री देवता श्रद्धा मेघा
 सरस्वती और हे युधिष्ठिर ! अर्थ धर्म काम विजयोंके अधिष्ठात्री
 देवता जलवर्षी मेघ वायु और वज्रनिर्घोषके देवता पूर्वदिशा यज्ञवाह

वायव्य इतनयित्स्नवः ॥ २० ॥ माची दिग्बलराहाश्च पावकाः सप्त-
 विंशतिः । अग्नीषोमी तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सविताऽर्च्यमा ॥ २१ ॥
 भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च । विश्वावसुश्चित्रसेनः
 सुमनस्तत्तणस्तथा ॥ २२ ॥ यज्ञाश्च दक्षिणार्थैव ग्रहास्ताराश्च
 भारत । यज्ञवाहाश्च ये मन्त्रास्सर्वे तत्र समासते ॥ २३ ॥ तथैवाप्स-
 रसो राजन् गन्धर्वाश्च मनोरमाः । नृत्तवादिप्रगीर्तय हास्यैश्च विवि-
 धैरपि ॥ २४ ॥ रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् । स्तुतिभि-
 र्महलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा ॥ २५ ॥ विक्रमैश्च महात्मानं वलदृष्ट-
 निसूदनम् । ब्रह्मराजपथैश्च सर्वे देवर्षयस्तथा ॥ २६ ॥ विमानै-
 र्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाग्नयः । त्रिविणो भूषिताः सर्वे यान्ति
 चायांति चापरे ॥ २७ ॥ बृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्तां हि तत्र
 वै । एते चान्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ॥ २८ ॥ विमानै-
 र्चन्द्रसङ्काशैस्सोमवत्प्रियदर्शनाः । ब्रह्मणाः सदृशा राजन् भृगुः
 सार्वप्यस्तथा ॥ २९ ॥ एषा सभा मया राजन् दृष्टा पुष्कर-
 सत्तार्क्ष्ये अग्नि, अग्नि सहित साम इन्द्रसहित अग्नि मित्र सविता
 अर्च्यमा भग विश्वेदेवता गुरु साध्य शुक्र विश्वावसु चित्रसेन सुमन
 तत्तण यज्ञ दक्षिणा ग्रह तारा और यज्ञवाह सकल मंत्र उस सभामें
 धिरोजमान होते हैं ॥ २६-२३ ॥ हे राजन् ! अप्सरायें और सुरूप
 गन्धर्व जनेका प्रकाशके नाच गाने गाजे और हास्य माङ्गलिक
 स्तुतिपाठ और वीरताके कर्चवोंसे वलदृष्टनाशक इन्द्रको सन्तुष्ट
 करते हैं और हे राजन् ! सकल ब्रह्मर्षि राजर्षि और देवर्षि दिव्य
 भागा आदि धारण किये चन्द्रमाकी समान मनोरम दिव्य विमानों
 में बैठे अग्नियोंका समान मज्जितसे भूष इस सभामें आया जाया
 करते हैं ॥ २४-२७ ॥ बृहस्पति और शुक्रभी तहां नित्य आते
 हैं, चन्द्रमाकी समान प्रियदर्शन ब्रह्मानीकी समान कान्तिमान्
 यह तथा और भी सकल महात्मा भृगु और सप्तऋषि चन्द्रमाकी
 यथा : विमानोंमें बैठकर इस सभामें आते हैं ॥ २ ॥ २८ ॥ २

मालिनी । शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ॥ ३० ॥

इति सभापर्वणि लोकरपालसभाख्यानपर्वणि शक्रसभावर्णनं

नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

नारद उवाच । कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम् ।
वैवस्वतस्य पां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥ तैजसी सा सभा
राजन्, वभूव शतयोजना । विस्तारायामसम्पन्ना भूपती चापि
पाण्डव ॥ २ ॥ अर्कमकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी ।
नातिशीता न चात्युष्णा मलसञ्च महर्षिणी ॥ ३ ॥ न शोको न
जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाभियम् । न च दैन्यं क्लमो वापि
प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४ ॥ सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या
ये च मानुषाः । रसवच्च प्रभूतञ्च भक्ष्यम्भोज्यमरिन्दम । लेखं
चोष्यञ्च पेयञ्च द्रव्यं स्वादु मनोहरम् ॥ ५ ॥ पुष्पगन्धाः स्रजस्तस्या
नित्यं कामफला द्रुमाः । रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि

राजन् । मैंने यह कमल पंक्तियोंसे सुशोभित इन्द्रकी सभा पहिले
अपने नेत्रोंसे देखी है, अब यमराजकी सभाको बखान करता हूँ
उसको सुनो ॥ ३० ॥ सप्तम अध्याय समाप्त ॥ ७ ॥

नारदजीने कहा, कि-हे राजन् युधिष्ठिर ! वैवस्वत यमराज
की जिस सभाको विश्वकर्माने बनाया था उसका वर्णन करता
हूँ सुनो ॥ १ ॥ हे पाण्डुनन्दन ! वह सभा तेजोमयी सौ योजन
चाड़ी बहुत ही लंबी ॥ २ ॥ चारों ओरसे सूर्यकी समान दमकने
वाली और गयेच्छरूपधारिणी है उसमें अधिक ठंड वा गरमी
नहीं पड़ती तथा देखनेवालोंके मनको मसन्न करदेती है ॥ ३ ॥
उसमें शोक दुःखाया भूख प्यास दीनता श्रम आदि कोई भी अमिय
वा वित्तके प्रतिकूल वात नहीं है । ४ ॥ देवता वा मनुष्योंके सब
ही इच्छित पदार्थ यहाँ स्थित हैं हे शत्रुनाशन ! रस और स्वाद
भरे सुंदर २ बहुतसे चूसने चाटने और पीने आदिके मनचाहे
पदार्थ हैं ॥ ५ ॥ तहाँ पवित्र गन्धवाली मात्साएं नित्य इच्छानुसार

चैव ॥ ६ ॥ तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तया ब्रह्मर्षयोऽमला ।
 यमं वैवस्वतं तात महताः पृथुपासते ॥ ७ ॥ ययातिर्ननुपः
 पूरुमान्धाता सोमको नृगः । असदस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्यः श्रुत-
 श्रवाः ॥ ८ ॥ अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः । मतर्दनः
 शिविर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्वयः ॥ ९ ॥ वार्त्तो मरुचः कुशिकः सांकारयः
 सांकुतिध्रुवः । चतुरश्वः सदस्वोर्मिः कार्त्तवीर्यश्च पार्ष्विः ॥ १० ॥
 भरतः सुरयश्चैव सुनीयो निशठो नलः । दिवोदासश्च सुमना
 अम्बरीषो भगीरथः ॥ ११ ॥ व्यश्वः सदस्वो बध्रश्चश्चः पृथुवेगः पृथु-
 श्रवाः । पृषदस्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः । वृषद्वयुर्दृषसेनश्च
 पुरुकुत्सा ध्वजारथी ॥ १२ ॥ आर्ष्टिपेणो दिलीपश्च महात्मा
 चाप्युशीनरः । औशीनरिः पुण्डरीकः शर्पातिः शरभः सुधिः ॥ १३ ॥
 अङ्गोऽरिष्टश्च वेणश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः । भाङ्गाश्रुतिः सुनीयश्च
 निपदोऽय बहीनरः ॥ १४ ॥ करन्धमो बाह्लिकश्च सुधुम्नो पलवान्मधुः

फल देनेवाले वृक्ष और रसीले ठंडे तथा गरम जल हैं ॥ ६ ॥ हे
 महाराज ! उक्त सभामें पुण्यात्मा राजर्षि तथा निर्मल ब्रह्मर्षि
 आकर मत्स्य चित्तसे वैवस्वत यमराजकी उपासना करते हैं ७
 ययाति नहुप पूरु मान्धाता सोमक नृग राजर्षि-असदस्यु कृतवीर्य
 श्रुतश्रवा ॥ ८ ॥ अरिष्टनेमि सिद्ध कृतवेग कृति कृतिनिमि मतर्दन
 शिवि मत्स्य पृथुलाक्ष ॥ ९ ॥ वार्त्त मरुच कुशिक सांकारय सांकुति
 ध्रुव चतुरश्व सदस्वोर्मि महाराज कार्त्तवीर्य ॥ १० ॥ भरत
 सुरय सुनीय निशठ नल दिवोदास-सुमना अम्बरीष भगीरथ
 ॥ ११ ॥ व्यश्व सदस्व बध्रश्चश्च पृथुवेग पृथुश्रवा पृषदस्व
 वसुमना महाबली क्षुप वृषद्वय वृषसेन सुन्दर ध्वजाराला
 महारथी पुरुकुत्स ॥ १२ ॥ आर्ष्टिपेण दिलीप महात्मा उशीनर
 औशीनरि पुण्डरीक शर्पाति सुधात्मा-शरभ ॥ १३ ॥ अङ्ग अरिष्ट
 वेण दुष्यन्त सृञ्ज र जय भाङ्गाश्रुति सुनीय और बहीनर ॥ १४ ॥

ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान् पृथिवीपतिः ॥ १५ ॥ कपोतरोमा
 तृणकः सहदेवाञ्जुनौ तथा । व्यश्वः साश्वः कृशाश्वश्च शशविन्दुश्च
 पार्थिवः ॥ १६ ॥ राघो दशरथिश्चैव लक्ष्मणोऽथ मत्तर्दनः । अलर्कः
 कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ॥ १७ ॥ जामदग्न्योऽथ रामश्च
 नाभागसगरी तथा । भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा
 ॥ १८ ॥ राजा वैश्यो वारिपेणः पुरुजिज्जनमेजयः । ब्रह्मदत्तक्षि-
 गर्त्तश्च राजोपरिचरस्तथा ॥ १९ ॥ इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठो
 नलो गयः । पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्न मत्सेनजित् ॥ २० ॥
 अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा । शतं मत्स्या नृपतयः
 शतं नीपाः शतं हयाः ॥ २१ ॥ धृतराष्ट्राश्चैव शतमशीतिर्जनमेजयाः
 शतञ्च ब्रह्मदत्तानामीरिणां च शतं तथा ॥ २२ ॥ भीष्माणां द्वे शते-
 ऽप्यत्र भीमानान्तु तथा शतम् । शतञ्च मतिविन्ध्यानां शतं नागाः
 शतं हयाः ॥ २३ ॥ पलाशानां शतं श्रेयं शतब्रूशकृशादयः । शान्त-
 करन्धम बाह्लीकं सुद्युम्न पत्तयान्-मधु ऐल तथा महाबली राजा
 मरुत्त ॥ २४ ॥ कपोतरोमा तृणक सहदेव तथा अञ्जुन व्यश्व
 साश्व कृशाश्व राजा शशविन्दु ॥ २५ ॥ दशरथनन्दन राम
 लक्ष्मण और मत्तर्दन अलर्क कक्षसेन गय और गौराश्व ॥ २६ ॥
 जामदग्निके पुत्र परशुराम नाभाग तथा सगर भूरिद्युम्न महाश्व
 पृथाश्व तथा जनक ॥ २७ ॥ भूपति वैश्य वारिपेण पुरुजित्
 ब्रह्मदत्त निर्गर्त्त तथा राजा उपरिचर ॥ २८ ॥ इन्द्रद्युम्न भीमजानु
 र्गौरपृष्ठ अन्तल गय एव मुचुकुन्द भूरिद्युम्न मत्सेनजित् ॥ २९ ॥
 अरिष्टनेमा सुद्युम्न पृथुलाश्व तथा अष्टक मत्स्य वंशके सौ राजे
 नीपवंशके सौ मपाल तथा हयवंशके सौ राजे ॥ ३० ॥ एतर्सा
 धृतराष्ट्रवंशी जनमेजयके वंशके अस्तौ ब्रह्मदत्तके वंशके सौ
 तथा इतिवंशके सौ ॥ ३१ ॥ भीष्मवंशी देहर्ता मतिविन्धवंशी
 सौ नागवंशके तथा हयवंशके सौ ॥ ३२ ॥ पलाशवंशी सौ तथा
 कृशाश्व आदि सौ तथा द्वे राजेन्द्र शान्तन् और तुम्हारे पिता

नुश्चैव राजेन्द्र पांडुश्चैव पिता तव ॥ २४ ॥ अश्वत्थः शतरथो
 देवराजो जयद्रथः । वृषदर्भश्च राजपिबुद्धिमान् सह मन्त्रिभिः २५
 अथापरे सहस्राणि ये गताः शशविन्दवः । इन्द्राश्वमेधैर्बहुभिर्मह-
 द्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २६ ॥ एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः ।
 तस्यां सभायां राजेन्द्र वैवस्वतमुपासते ॥ २७ ॥ अगस्त्योऽथ
 मतङ्गश्च कालो मृत्पुस्तथैव च । यज्वानश्चैव सिद्धार्च ये च
 योगशरीरिणः ॥ २८ ॥ अग्निष्वात्ताश्च पितरः केनपाश्चोष्म-
 पाश्च ये । स्वभावन्तो बर्हिपदो मूर्त्तिमन्तस्तथापरे ॥ २९ ॥ काल-
 चक्रश्च सात्ताश्च भगवान् इष्यवाहनः । मरा दुष्कृतकर्माणो दाक्षि-
 णायनमृत्यवः ॥ ३० ॥ कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये ।
 तस्यां शिशपपालाशास्तथा काशकुशादयः ॥ ३१ ॥ उपासते धर्म-
 राजं मूर्त्तिमन्तो जनाधिप । एते चान्ये च बहवः पितृराजसभासदाः
 ॥ ३२ ॥ न शक्यः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा । अस-
 पांडु ॥ २४ ॥ वपङ्गव शतरथ देवराज जयद्रथ मंत्रियों सहित बुद्धि-
 मान् राजपि वृषदर्भ ॥ २५ ॥ तथा और भी बहुतसी दक्षिणावाले
 यद्दे २ अश्वमेध यज्ञोंके करमेसे स्वर्गमें पहुँचे हुए शशविंदुवंशी
 सहस्रों राजे ॥ २६ ॥ हे राजन् ! यह सकल परमविभ्र कीर्त्तिमान्
 और पूर्ण विद्वान् राजपि तिस सभामें आकर यमराजकी उपासना
 करते हैं ॥ २७ ॥ अगस्त्य मतङ्ग काल तथा मृत्पु यज्वा योग शरीर
 धारी सिद्ध ॥ २८ ॥ अग्निष्वात्त केनप ऊष्मप स्वभावान् और
 बर्हिपद् आदि तथा और भी शरीरधारी पितर ॥ २९ ॥ कालचक्र
 सात्तात् भगवान् अग्नि दक्षिणायनमें मरनेवाले दुष्कर्म मनुष्य ३०
 कालके पहुँचानेमें नियत क्रियेहुए यमराजके पुरुष शिशप पालाश
 तथा काशकुशा आदि हे राजन् । यह सब मूर्त्तिमान् तिस सभा
 में पितृपति यमराजके सभासद् बनकर उपासना करते हैं इनके
 सिवाय और भी बहुतसे आकर धर्मराजको उपासना करते हैं
 ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ जिनके कि नाम और कर्मोंकी गिनती नहीं की

म्याया हि सा पार्य रम्या कामगमां सभा दीर्घकालं तपस्तप्त्वा
निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ३३ ॥ ज्वलन्ती मासमाना च तेजसा
स्वेन भारत । तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३४ ॥
शान्ता सन्त्यातिनः शुद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा । सर्वे भास्वर-
देहाश्च सर्वं च विरजोऽम्बराः ॥ ३५ ॥ चित्राङ्गदाधिप्रमाण्याः सर्वे
ज्वलितकुण्डलाः सुकुतैः कर्मभिः पुण्यैः पारिवर्हेश्च भूषिताः ॥ ३६ ॥
गन्धर्वाश्च महात्मानः संघराश्चाप्सरोगणाः । वारिर्ध्नं नृत्यगीतं च
हास्यं लास्यञ्च सर्वशः ॥ ३७ ॥ पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तर्पाण्यार्थ
समन्ततः । दिव्यानि च व माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥ शतं
शतं सहस्राणि धर्मिणां च प्रजैरवरम् । उपासते महात्मानं रूपयुक्ता
मनस्विनः ॥ ३९ ॥ दशो सा सभा राजन् पितुराहो महात्मनः । वरुण-
स्यापि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम् ॥ ४० ॥ इति सभापर्वणि लोक-
पाल समाख्यान पर्वणि यमसभा वर्णनं नाम अष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

जा सक्ती हे राजन् ! देवशिष्यी विरर्षारूपने बहुत समय तक
तपस्यां करके उस परमरमणीय सभाको बनाया था यह सभा
इच्छानुसार चाहे तहाँ जासक्ती है ॥ ३३ ॥ हे राजन् ! यह अपने
तेजके प्रभावसे मानो हर समय प्रज्वलित रहती है उग्रतपस्वी
श्रेष्ठ व्रत करने वाले मानो सत्यवादी शान्तस्वभाव विशुद्ध परम
पवित्र सन्त्यासी और तेजोमय शरीरधारी दिव्य वस्त्र पहिरे विभिन्न
वाज्यन्द रंगविरंगी माला और तन्मयलकुण्डला आदि नानाप्रकार
के भूषणोंसे शोभित सत्कर्म करनेवाले पुण्यशील महात्मा गन्धर्व
और अप्सरायें तिस सभामें जाते हैं तहाँ विविध प्रकारका गाना
वजाना हास्य और नाच होता है ॥ ३४-३७ ॥ हे पार्थ ! उस सभा
में चारों ओर पवित्र गन्ध और शब्द तथा दिव्य मालाएं नित्य
आती हैं ॥ ३८ ॥ सैकड़ों लाख दिव्यरूपधारी मनस्वी धार्मिक
महात्मा यमराजकी उपासना करते हैं ॥ ३९ ॥ हे राजन् ! महात्मा
धर्मराजकी यह सभा इस प्रकारकी है अब कमलमालाशोभिता
वरुणकी सभाका वर्णन करता हूँ ॥ ४० ॥ अष्टम अध्याय समाप्त ॥ ८ ॥

नारद उवाच । युधिष्ठिरसभा दिव्या वरुणस्यामिरपभा । मना-
 योनं यथा याम्या शुभमाकारतोरणा ॥ १ ॥ अन्तःसलिलमा-
 स्थाप विहिता विश्वकर्मणा । दिव्यै रत्नमयैर्दृक्षैः फलपुष्पमदै-
 र्युता ॥ २ ॥ नीलपीतासितश्यामैः सितैर्नलोहितकैरपि । अव-
 तानैस्तथा गुण्यैर्मञ्जरीजालधारिभिः ॥ ३ ॥ तथा शकुनपस्तस्यां
 विचित्रा मधुरस्वराः । अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः
 ॥ ४ ॥ सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च वर्मदा । वेश्मा-
 सनवनी रम्या सिता वरुणपालिता ॥ ५ ॥ यस्यापास्ते स वरुणो
 वाहण्या च समन्विनः । दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः
 ॥ ६ ॥ स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलपनाः । आदिस्था-
 स्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासने ॥ ७ ॥ वासुकिस्तत्तत्कथं व नामाश्चै-

देवर्षि नारद नीने कहा कि—हे युधिष्ठिर ! देवशिष्पी विश्व-
 कर्मने वरुण की वड़े प्रभाववाली बहुत ऊँची और स्वेत परकोटों
 से विराजमान राजकी समान ही लंबी चौड़ी एक सभा जलके भीतर
 बनाई है यह सभा दिव्य फल फल देनेवाले रत्नजड़े रमणीय
 वृक्षोंसे शोभित है ॥ १ ॥ २ ॥ नीले पीले लाल फाले इरे
 चंदोखेके समान फैले हुए और भद्देदार मंजरीके समूहोंसे युक्त
 वृक्षोंसे शोभित है ॥ ३ ॥ तथा उस सभामें भीठी बालीवाले नाना
 प्रकारके सैंकड़ों सहस्रों पहिचानमें न आनेवाले पक्षी इधर उधर
 विहार करते हैं ॥ ४ ॥ उस सभामें न अधिक गर्मी और न अधिक
 ठंड है उसका स्पर्श भी सुखदायक है, वरुणदेवकी उस स्वेतसभा
 में जहाँ तहाँ रहनेके स्थान और बैठनेको चौतरी बनी हैं ॥ ५ ॥
 जहाँ वरुणदेव दिव्य वस्त्र धारण किये और दिव्य आभूषणों
 को पहिरे अपनी सदृशभिणी वाहुणी देवीके साथ विराजमान
 होते हैं ॥ ६ ॥ तहाँ सुगंधित चंदनचर्चित दिव्य मालाधारी आदित्य
 जलनाथ वरुणकी उपासना करते हैं ॥ ७ ॥ वासुकि तत्तत्-
 नाम पुराणत फाले लाल तथा विचित्र वर्णके वीर्यवान् पद्म

राजस्तथा । कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ॥ ८ ॥
 कम्बलारत्नरो नागी घृताष्ट्रवलाहकौ । मणिमान् कुण्डलधारश्च
 कर्कोटकधनञ्जयो ॥ ९ ॥ पाणिमान् कुण्डलश्चैव बलवान् पृथिवीपते ।
 महादो मृषिकादश्च तथैव जनमेजयः ॥ १० ॥ पताकिनो मण्डलिनः
 पद्मावन्तरश्च सर्पशः । एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर
 ॥ ११ ॥ उपासने महात्मानं वरुणं विगतक्रमाः । वलिर्द्विरो-
 चनो राजा नरकः पृथिवीञ्जयः ॥ १२ ॥ सहादो विमचित्तिश्च
 कालखञ्जाश्च दामवाः । सुहनुदुर्मुखः सखः सुमनाः सुमतिस्ततः
 ॥ १३ ॥ घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा । निखरूपः
 स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ॥ १४ ॥ दशग्रीवश्च वाली य
 मेघवासा दशावरः । दिट्ठिभो विट्भूतश्च सहादस्चेन्द्रनापनः १५
 दैत्यदानवसंधारश्च सर्वे अनिरकुण्डलाः । सन्विणो मौलिनश्चैव
 तथा दिव्यपरिज्जदाः ॥ १६ ॥ सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगत-

नामक नाग ॥ ८ ॥ कम्बल अश्वतर घृतराष्ट्र, बलाहक मणिमान
 कुण्डलधार कर्कोटक और धनञ्जय नामक नाग ॥ ९ ॥ हे राजन् !
 पाणिमान् बलवान् कुण्डल महाद मृषिकाद तथा जनमेजय पताकी
 फणावान् अनेकों मण्डली सर्प हे राजन् युधिष्ठिर ! यह तथा
 और भी बहुतसे सर्व उस सभामें विश्रामके साथ महात्मा वरुण
 की उपासना करते हैं और विरोचनकुमार वलि पृथिवी विजयी
 राजा नम्क ॥ १०-१२ ॥ सहाद विमचित्ति कालखञ्ज सकल दानव
 सुहनु शम्भु दुर्मुख सुमना सुमति ॥ १३ ॥ घटोदर महापार्श्व क्रथन
 पिठर निखरूप स्वरूप विरूप महाशिरा ॥ १४ ॥ दशग्रीव वाली
 मेघवासा दशावर दिट्ठिभ विट्भूत सहाद इन्द्रनापन ॥ १५ ॥ दिव्य
 कुण्डलधारी वर पाये हुए धीरोंमें अग्रणी और मृत्युतकने जीतने
 वाले अनेकों दैत्य दानवों के समूह माला मुकुट और दिव्य वस्त्रोंने
 धारण किये हुए तस सभामें सुनियमके साथ धर्मशाशधारी महात्मा

मृत्यवः । ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा ॥ १७ ॥ उपा-
सते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः । तथा समुद्राश्चत्वारो नदी
भागीरथी च सा ॥ १८ ॥ कालिन्दी विदिशा वेणवा नर्मदा
वेगवाहिनी । विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती ॥ १९ ॥
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा । गोदावरी कृष्णवेणवा
कावेरी च सरिद्धरा ॥ २० ॥ किम्पुना च विशल्या च तथा वैत-
रणी नदी । तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चापि महानदः । चर्म-
पवती तथा चैव पर्णाशा च महानदी ॥ २१ ॥ सरयुर्वारवत्याथ
लाङ्गली च सरिद्धरा । करतोया तथात्रेयी लौहित्यश्च महानदः
॥ २२ ॥ लघन्ती गोमती चैव सन्ध्या त्रिस्रोतसो तथा । एनाश्चा-
न्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः ॥ २३ ॥ सरितः सर्वतश्चा-
न्यास्तीर्थानि च सरांसि च । कृपाश्च समस्तवणा देहवन्तो युधिष्ठिर
॥ २४ ॥ पञ्चलानि तद्भागानि देहवन्त्यथ भारत । विशास्तथा
मही चैव तथा सर्वे महीधराः ॥ २५ ॥ उपासते महात्मानं सर्वे

वरुणदेवकी सदा उपासना करते हैं तथा चारों समुद्र जगत्प्रसिद्ध
भागीरथी नदी ॥ १७-१८ ॥ कालिन्दी विदिशा वेणवा वेगसे बहनेवाली
नर्मदा विपाशा शतद्रु चन्द्रभागा सरस्वती ॥ १९ ॥ वितस्ता देवनदी
सिन्धु गोदावरी कृष्णा वेणवा नदियोंमें श्रेष्ठ कावेरी ॥ २० ॥
किम्पुना विशल्या तृतीया वैतरणी ज्येष्ठिला महानद शोण
चर्मपवती महानदी पर्णाशा ॥ २१ ॥ सरयु वारवत्या सरिद्धरा लाङ्गली
करतोया आत्रेयी तथा महानद लौहित्य ॥ २२ ॥ लघन्ती गोमती
सन्ध्या त्रिस्रोतसी हे राजेन्द्र ! यह सब जगत्प्रसिद्ध श्रेष्ठ तीर्थ-
रूप नदियें तथा और भी सब औरकी नदियें तीर्थसरोवर कृप
और भरने हे युधिष्ठिर ! यह सब मूर्ति धारण किये १३-२४
हे राजन् ! देहधारी पञ्चल तालाव और दिशाएँ तथा सकल
पर्वत ॥ २५ ॥ और सकल जलचर जीव महात्मा वरुणकी उपा-

जलचरास्तथा । गीतवादिप्रवन्तरच गं यर्गप्तिरसाङ्गणाः ॥ २६ ॥
 स्तुवन्तो बहून् तस्यां सर्व एव सभासते । गङ्गीरसा रत्नवन्तो रसा
 ये च पतिष्ठिताः ॥ २७ ॥ कौपिन्यं सुधाधुगः कथासात्रसभासते ।
 वारुणश्च तथा मन्त्री सुनाभः पट्युपासते ॥ २८ ॥ पुत्रपौत्रैः
 परिष्टुतो गोनाम्ना पुष्करेण च । सर्वे मिश्रहवन्तस्ते तवीरवरमुपा-
 सते ॥ २९ ॥ एषा मया सम्पन्नता वारुणो भरतर्षभ । दृष्टपूर्वा
 सभा रम्पा कुबेरस्य सभां शृणु ॥ ३० ॥ छ । छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकागलसभास्थानपर्वणि
 बहूयसभायर्णनं नाम नवमोऽध्यायः ॥ ६ ॥

नारद उवाच । सभा वैश्रवणी राजन् शायोजननायका ।
 नितीर्णा सप्ततिरचैव योजनानि सितमभा ॥ १ ॥ तपसा मिजिता
 राजन् स्वयं वैश्रवणेन सा । शशिप्रभाभावरणा कैलासशिखरो-
 पणा ॥ २ ॥ गुणकैरुद्यमाना सा खे त्रिपक्तेन शोभते । दिव्या हेम-
 सना करते हैं, गाने बजानेमें लगे हुए गन्धर्व और अप्सराओं
 के समूह बहूण ही मरांसा करते हुए सब ही वस सभामें उपस्थित
 होते हैं, रत्नोंवाले पर्वत और पतिष्ठिता रस तहां बैठेहुए सुंदर
 मनुष्य कथायें कहते हैं और बहूणका सुनाभ नामक मंत्री भी उपा-
 सना करता है ॥ २६—२८ ॥ गानावा पुष्कर भी पुत्रपौत्रादि
 से युक्त यह सब शरीर धाम्ण करके जलशि कुबेरकी उपासना
 करते हैं ॥ २९ ॥ हे भरतकुलोत्पन्न ! मैंने बिचरतेहुए पहिले यह
 बहूणकी रमणीय सभा देखीहै अब कुबेरकी सभाको सुनो ॥ ३० ॥
 नवम अध्याय समाप्त ॥ १ ॥ छ ॥ छ

नारदजीने कहा कि—हे राजन् ! कुबेरकी सभा सौ योजन
 लंबी सत्तर योजन चौड़ी और स्वयं कांतिवाली है ॥ १ ॥ यह
 चन्द्रमाकी कान्तिसे ज्यैर्दुर्ग सभा कैलासके शिखरकी ममान
 है, कुबेरने बहुत दिनोंतक तप करके इनको पाया था ॥ २ ॥ जब
 उसको गुणक उठाते हैं तब आकाशमें लटकती हुई सी प्रतीत

मयेकचै प्रासादैरुपशोभिता ॥ ३ ॥ महारत्नवती चित्रा दिव्य-
गन्धामनोरमा । सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेम दृश्यते ॥ ४ ॥ दिव्या
हेममयैरंगैर्निद्युज्जिरिव चित्रिता । तस्या वैश्रवणो राजा विचित्रा
भरणाम्बरः ॥ ५ ॥ स्त्रीसहस्रैर्हृता श्रीमानास्ते उपलितकुण्डलः ।
दिगाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंहृते ॥ ६ ॥ दिव्यपादोपधाने
च निगण्यः परमासने । मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोढ-
यन् ॥ ७ ॥ सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवद्बो वहन् । नलिन्या
श्चातृकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च । शीतो हृदयसद्मादी चायु-
स्तमुपसेवते ॥ ८ ॥ तत्र देवाः सगन्धर्वाः गणैरप्सरसां वृताः ।
दिव्यनानैर्महाराज गायन्ति स्म सभागताः ॥ ९ ॥ मिश्रकेशी च
रम्भा च विप्रसेना शुचिस्मिता । चारुनेत्रा घृणाचो च मेनका

होती है, वह दिव्य सभा ऊँचे २ सुनदरी गहलों पे शोभायमान
है ॥ ३ ॥ बहुमूल्य अनेकों रत्न उसकी विचित्र शोभाको बढ़ाते
हैं, दिव्यगंधसे सबकी नासिकाओंको तृप्त करती है और स्वेत
मेवते शिखरोंकी समान कूड़ी हुई सी मतीत होती है, दिव्य
सुनदरी भागोंमे ऐसी मीन होती है मानो विजलिये ची।दी
है, इस सभामें भीमान् महाराज कुनेर विचित्र वस्त्र और आभूषण
धारणकर सहस्रों स्त्रियोंमे घिरेहुए सूर्यही समान प्रकाशमान
परम परिमल स्तनमे बहेहुए पादवीठयुक्त बहुमूल्य आसनपर विरा-
जमान होते हैं मनोहर शीतल पवन मन्दारके वनोंको कम्पायमान
करता और अनेकों प्रकारके कमल फहार अलकापुरा और
नन्दनके सुगन्धको लेता हुआ वरुणही उपासना करता है ॥ ४ ॥
॥ ५ ॥ हे महाराज उस सभामें देवता गन्धर्वा और अप्सराओं
से घिरे हुए आकर दिव्य तानोंसे गान करते हैं ॥ ६ ॥ मिश्र-
केशी, रंभा, सुन्दर मुसकुरानवाली विप्रमेना, सुन्दर नेत्रोंवाली
घृणाचो, मेनका पुष्पि कस्थवी प्रित्वाची सहजन्मा मन्मोया उर्वशी

पुञ्जिरुत्थली । विराजीवी सहजन्वा च प्रम्लोचा उर्वशी इरा । १० ।
 वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्धबुदा लता । एताः सहस्रशथान्या
 नृत्पगीतविशारदाः ॥ ११ ॥ उपतिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसा-
 ज्ञाः । अनिश दिव्यमादित्रैर्नृत्पगीतेरच सा सभा ॥ १२ ॥
 अशून्या रुचिरा भात गन्धर्वाप्सरसां गणैः । निन्नरा नाम गन्धर्वा
 नरा नाम तथापरे ॥ १३ ॥ मणिमद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च
 गुह्यकः । कशेरको गण्डकंदूः प्रद्योतरच महाबलः ॥ १४ ॥ कुस्तु-
 न्बुहः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः । वराहकर्णस्तार्ज्जुः फल-
 कन्तः फलोदकः ॥ १५ ॥ हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभा-
 पणः । पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः मयालकः ॥ १६ ॥ वृक्ष-
 वाष्पनिकेतश्च चीरवासश्च भारत । एते चान्ये च बहवो यक्षाः
 शतसप्तशः ॥ १७ ॥ सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूरः । अहश्च
 बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधा ॥ १८ ॥ ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा
 देवर्षयोऽपरे । क्रव्यादाश्च तथैवान्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः । उपासते
 इरा वर्गा सौरभेयी समीची बुद्धबुदा लता यह तथा और भी सहस्रों
 नाचने गानेमें प्रवीण गन्धर्व और अप्सराओं कुबेरकी उपासना
 करते हैं वर सभा दिव्य वाजे नाच गान और गन्धर्व अप्सराओं
 के समूहोंसे भरी रहकर सुन्दर शोभा से विराजने लगे हैं ॥ १० ॥
 ॥ १३ ॥ मणिमद्र धनद श्वेतभद्र गुह्यक कशेरक गण्डकंदू महाबल
 प्रद्योत कुस्तुन्बुह पिशाच गजकर्ण विशालक वराहकर्ण तार्ज्जु
 फलकन्त फलोदक हंसचूड शिखावर्च हेमनेत्र विभिपण । पुष्पानन
 पिङ्गलक शोणितोद मयालक वृक्षवाष्पनिकेत चीरवासा यह तथा
 और भी सहस्रों यक्ष उस सभामें जाकर बैठते हैं ॥ १४ ॥
 ॥ १७ ॥ जिस सभामें भगवती लक्ष्मी नियमसे रहती हैं नलकूर
 और मैं भी आया करता हूं तथा शुभसे अनेकों व्यक्ति न जाने
 कितनी बार उहां आते हैं ॥ १८ ॥ जिस सभामें ब्रह्मर्षि, देवर्षि
 उपस्थित होते हैं और राज्ञम तथा महारानी गन्धर्व धनेश्वर

महात्मानं तस्यां धनदमीश्वरम् ॥ १६ ॥ भगवान् भूतसंवेद्यं दृढः
 शतसहस्ररौः । उमापतिः पशुपतिः शूचभृद्भगनेत्रहा ॥ २० ॥ उग्र-
 म्वहो राजशार्दूल देवी च विगतकलपा । वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षत-
 जाक्षैर्महारथैः ॥ २१ ॥ मेदोमांसाशनैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः ।
 नानाप्रहरणैरुग्रैर्वतिरिव महाजवैः ॥ २२ ॥ दृढ सखायमन्वास्ते
 सदैव धनदं नृप । महृष्टाः शतरथान्ये बहुशः सपरिच्छदाः
 ॥ २३ ॥ गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्दहाद्बुधः । तुम्बुरुः
 पर्वतश्चैव शैलपञ्च च तथापरः ॥ २४ ॥ चित्रसेनश्च गीतज्ञः तथा
 चित्ररथोऽपि च । एते चान्ये च गन्धर्वा ननेश्वरमुपासते ॥ २५ ॥
 विद्याधराभिपश्चैव चक्रवर्मा सहानुजैः । उपाचरति तत्र स्म धना-
 नामीश्वरं प्रभुम् ॥ २६ ॥ किन्नरा शतशस्तत्र धनानामीश्वरं
 प्रभुम् । आसते चापि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ॥ २७ ॥ द्रुमः

कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ १६ ॥ हाथमें त्रिशूल धारण किये
 भगनेत्रहारी भवान् उमापति भगवान् त्रिनयन महादेव प्रसन्नमुखी भग-
 वती पार्वती सहित वाँने निकट कुबड़े लावा १ नेत्र और बड़ी
 गर्जनावाले तथा मेरे और मांस खाने वाले सैकड़ों सहस्रों भूत
 गणोंसे घिर कर यहाँ विराजमान होते हैं । और हे राजन् ! वायु
 की समान बड़े वेगवाले अनेकों शास्त्रोंको धारण किये महाबली
 इन्द्र सर्वदा अपने मित्र कुबेरके साथ तहाँ बैठते हैं । विश्वावसु
 दहाद्बुध, तुम्बुरु पर्वत, शैलप, गानका जाननेवाला चित्रसेन तथा
 चित्ररथ आदि गन्धर्वपति तथा और भी बहुतसे सहस्रों प्रसन्न
 गन्धर्व अपनी सामग्री सहित तहाँ आकर कुबेरकी उपासना करते
 हैं ॥ २०—२४ ॥ तहाँ अपने भ्रान्ताओं सहित विद्यारथोंका
 स्वामी चक्रवर्मा आकर अपने प्रभु धनपति कुबेरकी उपासना करता
 है ॥ २६ ॥ तहाँ सैकड़ों किन्नर तथा भगदत्त आदि राजे आकर
 कुबेरकी उपासनामें लगे रहते हैं ॥ २७ ॥ विष्णुराजका स्वामी

किम्पुरुषेस्य उपासते धनदेश्वरम् । राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो
 गन्धमादन ॥ २८ ॥ सह यज्ञैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्गिशावरैः ।
 विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते भ्रातरं प्रभुम् ॥ २९ ॥ हिमयान् पा-
 रियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः । मलयो दर्दरश्चैव महेन्द्रो गन्धमा-
 दनः ॥ ३० ॥ इन्द्रकील सुनाभश्च तथा दिव्यो च पर्वतौ । एते
 चान्ये च बहवः सप्त मेरुपुरोगमाः ॥ ३१ ॥ उपासते महात्मानं
 धनानामीश्वरं प्रभुम् । नन्दीश्वरश्च भगवान् महाकालस्तथैव च
 ॥ ३२ ॥ शंकुकर्णपुष्पाः सर्वे दिव्याः पारिपदास्तथा । काष्ठः
 कुटीमुखो दन्ती विजया च तपोऽधिकाः ॥ ३३ ॥ स्वैतश्च वृषभ-
 स्तन नर्दनास्ते महाबलः । धनदं राक्षसाश्चान्ये पिशाचाश्च उपा-
 सते ॥ ३४ ॥ पारिपदः परितृप्तमुपापाति महेश्वरम् । सदा हि
 देवदेवेशं शिरं ब्रह्मलोक्यमाधनम् ॥ ३५ ॥ मण्डप्य सुधर्मा पौलस्त्यो
 बहुरूपमुपापतिम् । ततोऽभ्यजुर्वा सम्पाप्य महादेवाद्भनेश्वरः ।
 ॥ म राक्षसपति, महेन्द्र, गन्धमादन और महात्मा विभीषण यज्ञ,
 गन्धर्व तथा सकल राक्षसों सहित आकर अपने भाई कुबेरकी
 उपासना करते हैं ॥ २८ ॥ २९ ॥ हिमालय, पारियात्र, विन्ध्य
 कैलाश, मन्दर, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, गंधमादन, इन्द्रकील, सुनाभ
 दो दिव्य पर्वत तथा मेरु आदि और भी अनेकों पर्वत मूलिमान्
 होकर धनपति महात्मा कुबेरकी उपासना करते हैं । नन्दीश्वर, भग-
 वान् महाकाल शंकुकर्ण आदि सकल पार्षद काष्ठ, कुटीमुख, दन्ती,
 परमतपस्विनी वृषभ, महाबली दहादनेवाला स्वैतवर्ण वृषभ और
 भी अनेकों राक्षस तथा पिशाच कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३० ॥
 ॥ ३४ ॥ पुलस्त्य कुमार सर्वदा ही अपने पारिपदोंसे घिरे हुए
 भ्रिके रत्नक, अनेकरूपधारी, उपापति, देवदेव शिवको मस्तक
 नम्रा मणाम कर्क और उन महादेवसे आज्ञा पाकर कभी २ उन
 को समीप जाया करते हैं और कभी भगवान् शिव भी त्रिभाज
 से कुबेरके पास आने हैं ॥ ३५ ॥ ३६ ॥ धन भंडारके प्रधानरत्नक

आस्ते कदाचिद्भगवान् भवो धनपतेः सखा ॥ ३६ ॥ निधिपवर-
मुख्यौ च शंखपद्मौ धनेश्वरौ । सर्वान्निधीन् प्रगृह्याथ उपास्तां वै
धनेश्वरम् ॥ ३७ ॥ सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टान्तरिक्षा
पितामहसभा राजन् कीर्त्तयिष्यमि वोधताम् ॥ ३८ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि धनद-
सभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

नारद उवाच । पितामहसभां तात कथ्यमानां निषोष मे ।
शक्यते या न निर्दोष्टमेवंरूपेति भारत ॥ १ ॥ पुरा देवधुगे राज-
न्नादित्यो भगवान्निधवः । आगच्छन्मानुषं लोकं दिदत्तुर्विगतवक्त्रतः
॥ २ ॥ चरन्मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वपम्भुवः । सतामकथयन्महो
दृष्ट्वा तत्त्वेन पांडव ॥ ३ ॥ अग्रेषां सभां दिव्यां मानसीं भरत-
पंभ । अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ४ ॥ श्रुत्वा गुणा-
नहं तस्याः सभायाः पांडवपंभ । दर्शनेऽस्तुस्तथा राजन्नादित्यमि-
शंख और पद्म सकल रत्नोंको लेकर कुवेरकी उपासना करते
हैं ॥ ३७ ॥ हे महाराज । मैंने ऐसी रमणीय आकाशमें रहनेवाली
तिस सभाको बहुत बार देखा है, अब ब्रह्माजीकी सभाको वर्णन
करता हूँ उसको भी सुनो ॥ ३८ ॥ दशम अध्याय समाप्त ॥ १० ॥

नारदजी कहते हैं, कि—हे भरतकुलोत्पन्न युधिष्ठिर ! अब मैं
पितामह ब्रह्माकी सभाका वर्णन करता हूँ सुनो, उस सभाको
यह नहां कहाना सकता कि—अमुककी सगान हैं ॥ १ ॥ हे महा
राज ! पहिले सत्ययुगमें एक समय भगवान् आदित्य मर्त्यलोक
को देखनेकी इच्छा करके परममुखसे भूलोकमें चलेआये थे ॥ २ ॥
उन्होंने मनुष्यविग्रह धारण करके प्रसन्नचित्तसे इधर उधर विच-
रते हुए ब्रह्माजीकी मानसी सभाको देखा और हे युधिष्ठिर !
उन्होंने मुझसे उसका यथावत् वर्णन किया ॥ ३ ॥ हे नारद !
ब्रह्माकी मानसी सभा अवर्णनीय, अग्रेष्य और सकल प्राणियों
के मनोको प्रसन्न करनेवाली है ॥ ४ ॥ हे पांडवोत्तम ! मैंने आदित्य

दमयुवम् ॥ ५ ॥ भगवन् द्रष्टुमिच्छामि पितृमहसभां शुभाम् ।
येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते ॥ ६ ॥ औपधैर्वा तथा
युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी । तन्मन्त्राद्यैश्च भगवन् परयेयं तां सभां
यथा ॥ ७ ॥ स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाश्रुः । प्रोवाच
भारतधेष्टु व्रतं वर्षसहस्रकम् ॥ ८ ॥ ब्रह्मव्रतमुपास्व त्वं मयतेनान्तरा-
त्मना । ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्ध महाव्रतम् ॥ ९ ॥ ततः स
भगवान् सूर्यो पाशुपादाय धीर्यवान् । आगच्छतां सभां ब्राह्मीं
विषाम्ना विगतबलपः ॥ १० ॥ एवंप्रतिपत्तिं शक्या न निर्देष्टुं
नराधिप । ज्ञेयं हि विभर्त्यन्यदनिर्देश्यं बहुस्तथा ॥ ११ ॥ न
वेद परिमाणं वा संस्थानं वापि भारत । न च रूपं मया तादृग्
दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ १२ ॥ सुमुखा सा सदा राजन् शीता न च

से ब्रह्मसभाके वर्णनको सुनकर उसी समय उसको देखने
के चावमें भरकर उनसे कहा, कि-॥ ५ ॥ हे भगवन् ! सकल
पापनाशिनी उत्तम शुभा ब्रह्मसभाका दर्शन करनेकी मेरी बहुत
ही इच्छा है, इसकारण मैं जिस प्रकारकी तपस्या, औपध, योग
वा कर्मके द्वारा उस सभाका दर्शन वा सकूँ उसको बताइये ॥ ६ ॥
॥ ७ ॥ हे भरतकुल-भूषण ! उन सहस्रों करणधारी आदिस्थने
मेरे वचनको सुनकर सहस्रवर्षमें होमे योग्य व्रत धत्ताया ॥ ८ ॥
उन्होंने कहा कि-पवित्रचित्त होकर ब्रह्मव्रतकी उपासना करो,
तब मैंने हिमालयके ऊपर जाकर उस महाव्रतका आरंभ किया
॥ ९ ॥ उस व्रतके पूर्ण होजाने पर वह धीर्यवान् निष्पाप प्रसन्न-
रूप आदित्य भगवान् मुझे लेकर तिस ब्रह्माजीकी सभामें गए
॥ १० ॥ हे राजन् ! वह सभा ऐसी परम उत्तम थी, कि-मैं कोई
वृष्टान्त ही नहीं पाता कि- जिससे उसका वर्णन करसकूँ वह
सभा ज्ञान २ में दूसरे अकथनीय रूपको धारण करलेती है ११
हे युधिष्ठिर ! वह कितनी लंबी चौड़ी है और किस प्रकार स्थित
है, यह जाननेमें नहीं आता ऐसी सुंदर कोई भी वस्तु पहिले कभी
देखी ही नहीं ॥ १२ ॥ हे राजन् - उस सभामें परम सुख मिलता

पर्मदा । न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत ॥ १३ ॥
 नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः । स्वम्भैर्न च धृता
 सा नु शाश्वती न च सा क्षरा ॥ १४ ॥ दिव्यैर्नानाविधैर्भावि-
 र्भासश्चिरमितमभैः । अतिचन्द्रश्च सूर्यश्च शिखिनश्च स्वयं प्रभा ॥ १५ ॥
 दीप्यते नाकपृष्ठस्या भर्त्सयन्तीष भास्करम् । तस्यां तु भगवाना-
 स्ते विदपदेवमायया ॥ १६ ॥ स्वयमेकोऽनिशं राजन् सर्वलोक-
 पितामहः । उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रभानां पतयः प्रभुम् ॥ १७ ॥
 दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः । करपपः प्रभुः । भृगुरभिर्वशिष्ठश्च
 गौतमोऽप्य तथाक्षिराः ॥ १८ ॥ पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः
 कर्दमस्तथा । अथर्वाक्षिरसश्चैव बालखिल्य मरीचिपाः ॥ १९ ॥
 मनाऽन्तरीक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही । शब्दस्पर्शा तथा
 रूपं रसो गन्धश्च भारत ॥ २० ॥ प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत्
 हे न ठह सताती है, न गरमी लगती है, जो प्राणी तहां पहुंच जाते
 हैं उनको भूख, प्यास वा ग्लानि नहीं सताती ॥ १३ ॥ वह
 परम प्रकाशमय मणियोंसे घनाई गई है वह सदा रहनेवाली सभा
 लंभोंके आधार पर नहीं है तथा अपने स्थानसे गिरती भी
 नहीं है ॥ १४ ॥ तहां नाना प्रकारके दिव्यऔर परमकान्तिमान्
 पदार्थ प्रकट रहते हैं, उस सभाकी कान्तिका समूह, चन्द्र सूर्य
 और अग्निका उपहास करके आकाशमें अपनी शोभाको फैला-
 रहा है ॥ १५ ॥ स्वर्गकी पीठपर स्थित वह सभा अपने तेजसे
 मानो सूर्यको ललकारती है, हे राजन् ! उस सभामें अद्वितीय
 भगवान् सर्वलोकपितामह ब्रह्माजी स्वयं देवमायাকে स्वीकार करके
 विराजमान होते हैं, और सकल प्रजापति उन प्रभुकी उपासना
 करते हैं ॥ १६-१७ ॥ दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, महाराज
 करपप, भृगु, अत्रि, वशिष्ठ, गौतम, अक्षिरा ॥ १८ ॥ पुलस्त्य,
 क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम, अथर्वा, आक्षिरस, बालखिल्य मरीचि ॥ १९ ॥
 मन, अन्तरिक्ष, विद्या, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, शब्द स्पर्श, हे
 राजन् ! रूप, रस तथा गंध ॥ २० ॥ प्रकृति, विकृतिके अन्य

कारणं भुवः । अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥
 जमदग्निर्भरद्वाजः सम्बर्त्तरक्ष्यवनस्तथा । दुर्वासाश्च महाभागः
 ऋष्यशृङ्गश्च धार्मिकः ॥ २२ ॥ सनत्कुमारो भगवान् योगाचार्यो
 महातपाः । असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ॥ २३ ॥
 ऋषभोऽजितशत्रुश्च महावीर्यस्तथा मणिः । आयुर्वेदस्तथाष्टाङ्गो
 देहवांस्त्रय भारत ॥ २४ ॥ चन्द्रमा सहनक्षत्रैरादित्यश्च गभस्ति
 मान् । वायवः क्रतवश्चैव सङ्कल्पः माण एव च ॥ २५ ॥ मूर्तिमन्तो
 महात्मानो महाव्रतपरायणः । एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुप-
 स्थिताः ॥ २६ ॥ अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः । आयाति
 तस्यां सहिताः गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २७ ॥ विशतिः सप्त
 चैवान्ये लोकापालाश्च सर्वशः । शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक
 एव च २८ शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च । मन्त्रो रथन्तर-
 श्चैव हरिमान् वसुमानपि ॥ २९ ॥ आदित्याः साधिराजानो

सकल कारण, महातेजस्वी, अगस्त्य, वीर्यवान् मार्कण्डेय ॥ २१ ॥
 जमदग्नि, भारद्वाज, संवर्त्त, च्यवन, महाभाग दुर्वासा, धर्मात्मा
 ऋष्यशृङ्ग ॥ २२ ॥ महातपस्वी योगके आचार्य-भगवान् सन-
 त्कुमार, असित, देवल, तत्त्ववेत्ता जैगीषव्य ॥ २३ ॥ शत्रुविजयी
 ऋषभ महावीर्य मणि तथा हे भारत । शरीरधारी अष्टांग आयु-
 र्वेद ॥ २४ ॥ नक्षत्रो सहित चन्द्रमा, किरणमालाधारी आदित्य,
 वायु, यज्ञ, संकल्प, माण ॥ २५ ॥ महाव्रत करनेवाले मूर्तिमान् यह
 सत्र महात्मा तथा और भी बहुतसे पुण्यात्मा ब्रह्माजीकी उपासना
 करते हैं ॥ २६ ॥ अर्थ, धर्म, काम, हर्ष, द्वेष, तप, दम और सत्ताईस
 गन्धर्व और अप्सराओंके समूह यह सब तहाँ इकट्ठे होकर आते हैं
 और सकल लोकपाल, शुक्र, बृहस्पति, बुध तथा मङ्गल २७-२८
 शनैश्चर, तथा और भी सब ग्रह, मन्त्र रथन्तर हरिमान् वसुमान्
 ॥ २९ ॥ दोर नामोंमे कहेहुए अधिराजाओं सहित आदित्य, मरुत,

नामद्वन्द्वैरदाहताः । मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ॥३०॥
 तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ । ऋग्वेदः सामवेदश्च
 यजुर्वेदश्च पाण्डव ॥ ३१ ॥ अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव ह ।
 इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ॥३२॥ ग्रहा यज्ञाश्च सौम्य
 देवताश्चापि सर्वशः । सावित्री दुर्गतरुणी चाणी सप्तविधा तथा ॥
 ३३ ॥ मेधा, धृतिः स्मृतिश्चैव मज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा । सामानि
 स्तुतिशास्त्राणि गाथाश्च विविधास्तथा ॥ ३४ ॥ भाष्याणि तर्क-
 युक्तानि देहवन्ति विशाम्पते । नाटका विविधाः काव्याः फथा-
 रूपायिककारिकाः ॥ ३५ ॥ तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चान्ये
 गुरुपूजकाः । क्षणा लगा मुहूर्त्ताश्च दिवारात्रिस्त्वथैव च ॥ ३६ ॥
 अर्द्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः पट् च भारत । संवत्सराः पञ्चयुग-
 महोरात्रश्चतुर्विधः ॥ ३७ ॥ कालचक्रञ्च तद्विष्यं नित्यमक्षयमक्षय-
 यम् । धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर ॥ ३८ ॥ अदिति-
 रितिर्विदुश्चैव सुरसा विमता इरा । कालिका सुरभी देवी सरमा

विश्वकर्मा और हे राजन् ! वसु ॥३०॥ तथा सकल पितृगण सकल
 हवि और हे पाण्डव ! ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद ॥ ३१ ॥ अथर्ववेद,
 सकल शास्त्र, उपवेद इतिहास, सकल वेदाङ्ग ॥३२॥ ग्रह यज्ञ, साम,
 सकल देवता, दुर्गति तारिणी सावित्री सात मकारकी बाणी ॥३३॥
 मेधा, धृति, स्मृति, मज्ञा, बुद्धि, यश, क्षमा, साम, स्तुतिशास्त्र,
 नाना मकारकी गाथा ॥ ३४ ॥ देहधारी तर्कयुक्त सब भाष्य
 नानामकारके नाटक, काव्य बहुत प्रकारकी कथा, आख्यायिका
 और कारिकायें ॥ ३५ ॥ यह सब पुण्यात्मा तथा अन्य गुरुपूजक
 पुरुष भी तहाँ उपस्थित होते हैं । क्षण, लग्न, मुहूर्त्त, दिन तथा
 रात्रि ॥ ३६ ॥ हे भारत ! पञ्च, मास, ऋतु, सम्वत्सर, पञ्च-
 युग, (मानुष आदि) चार प्रकारकी दिन रात ॥ ३७ ॥ दिव्य
 नित्य अक्षय-अक्षय कालचक्र, और धर्मचक्र, हे युधिष्ठिर ! तदां
 नित्य उपस्थित रहने हैं ॥ ३८ ॥ इति अदिनि, वसु, सुरसा,

चाथ गौतमी ॥ ३६ ॥ मभा कद्रूश्च वै देव्यौ देवतानां च मातरः ।
 रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा पृथ्वी तथापरा ॥ ४० ॥ पृथिवी गाङ्गता
 देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेव च । सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टि-
 ररुन्धती ॥ ४१ ॥ सन्वृत्तिराशा नियतिः सृष्टिदेवी रतिस्तथा । एता-
 श्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः मजापतिम् ॥ ४२ ॥ आदित्या वसवो
 रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि । विश्वे देवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनो-
 जवाः ॥ ४३ ॥ पितॄणां च गणान्विद्धि सप्तैव पुरुषर्षभ । मूर्तिमन्तो
 हि चत्वारस्त्रयर्थापि शरीरिणः ॥ ४४ ॥ वैराजाश्च महाभागा
 अग्निष्वात्ताश्च भारत । गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविभु ताः
 ॥ ४५ ॥ सोमपा एकशृङ्गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा । एते चतुर्षु
 वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ॥ ४६ ॥ एतैराप्यायितैः पूर्व सोमरचा-

विनता इग, कालिका, सुरभि, देवी सरमा और गौतमी ॥ ३६ ॥
 मभा और कद्रू यह दोनों देवियें देवमाताएं रुद्राणी श्री, लक्ष्मी
 भद्रा और पृथ्वी ॥ ४० ॥ रूपधारिणी पृथिवी देवी, ह्री, स्वाहा,
 कीर्ति, सुरा, शची देवी, पुष्टि, अरुन्धती ॥ ४१ ॥ संवृत्ति, आशा
 नियति सृष्टि तथा रतिदेवी यह सब तथा और भी देवियें मजापति
 की उपासना करती हैं ॥ ४२ ॥ आदित्य, वसु, रुद्र, दोनों अश्विनी
 कुमार, विश्वदेवा, साध्य और मनकी समान वेगवाले पितर अस्त्र
 जीकी उपासना करते हैं ॥ ४३ ॥ हे राजन् ! इन पितरोंके सात
 गण हैं, उनमें चार शरीरधारी हैं ॥ ४४ ॥ हे युधिष्ठिर ! यह सब
 विराट्से उत्पन्न, जगत्प्रसिद्ध और चतुर्वर्णसे पूजित हैं इनमें पहिले
 गणका नाम अग्निष्वात्त, दूसरेका नाम गार्हपत्य, तीसरेका नाम
 नाकचर, चौथे गणका नाम सोमप, पाँचवेंका नाम एकशृङ्ग, छठे
 का नाम चतुर्वेद और सातवें गणका नाम कला है ॥ ४५-४६ ॥
 हे राजन् ! पहिले इनके वृत्त होवाने पर सोम वृत्त होता है, यह सब
 पितर मजापतिके समीप उपस्थित होते हैं और बड़े मसन्न होकर

प्याय्यते पुनः । तं येते पितरः सर्वे प्रजापतिगुणस्थिताः । उपासते च संहंष्टा ब्रह्माणामितौजसम् ॥ ४७ ॥ राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा । नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहसुपासते ४८ ॥ स्थविरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथापरैः । पुरंदरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः ॥ ४९ ॥ महादेवः सद्योमोऽथ सदा गच्छति सर्वशः । महासेनश्च राजेन्द्र सद्योपास्ते पितामहम् ॥ ५० ॥ देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये । श्रुपयो बालखिल्याश्च योनिजा योनिजास्तथा ॥ ५१ ॥ यच्च किञ्चित् त्रिलोकेऽस्मिन् दृश्यते स्थाणु जङ्गम् । सर्पं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप ॥ ५२ ॥ अष्टाशीतिसहस्राणि श्रुपीणामूर्ध्वरेतसाम् । प्रजायताश्च पञ्चाशदृपीणामपि पांडव ॥ ५३ ॥ ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिव्यौकसः । मणम्य शिरसा तस्मै सर्वे पाति यथा गतम् ॥ ५४ ॥ अतिपीनागतान् देवान् दैत्यान्तार्गास्तथा द्विजान् । यत्तान् सुपर्णान् कालेयान् गंधर्वाप्सरसस्तथा परमतेजस्वी ब्रह्माजीकी, उपासना करते हैं ॥ ४७ ॥ राक्षस, पिशाच दानव गुह्यक, नाग सुपर्ण तथा पशु ब्रह्माजीकी आराधना करते हैं ॥ ४८ ॥ सकल स्थावर जङ्गम और महाभूत, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर और यम ॥ ४९ ॥ और पार्वती सहित महादेव तहां सदा आया करते हैं और हे राजेन्द्र । स्वामि कार्तिकेयके साथ रहकर ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ॥ ५० ॥ उस सभामें नारायण देव, बालखिल्य श्रुपि ॥ ५१ ॥ इस त्रिलोकीमें जो कुछ भी स्थावर वा जङ्गम देखने में आता है हे राजन् ! तुम समझलो कि-वह सब ही मैंने तहां देखा ॥ ५२ ॥ हे पांडव ! अष्टासी हजार ऊर्ध्वरेता श्रुपि और पचास प्रजावान् श्रुपि ॥ ५३ ॥ यह तथा और सकल देवता भी इच्छानुसार ब्रह्माजीका दर्शन और मनको शिरसे मणम करके अपने २ स्थान को चले जाते हैं ॥ ५४ ॥ सकल माणियोंके ऊपर दया करने वाले परम निष्ठ लोकपितामह भगवान् ब्रह्माजी अभ्यागत अदिशिदेवता, दैत्य, नाग, द्विज,

॥ ५५ ॥ महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः । दयावान् सर्व
भूतेषु यथाहं प्रतिपद्यते ॥ ५६ ॥ मतिशून्यं तु विस्वात्मा रजयम्भू-
रमितद्युतिः । सान्त्वभगार्थसम्भोगैर्षु नक्ति मनुजाधिप ॥ ५७ ॥
तथा तैरुपयातैश्च मतियद्भिश्च भारत । आकुला सा सभा तात भवति
स्म सुखमदा ॥ ५८ ॥ सवर्तेजोगयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ।
ब्राह्मणा श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा ॥ ५९ ॥ सा सभा
तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा । समेयं राजशादू ल मनुष्येषु
यथा तव ॥ ६० ॥ एता मया दृष्टपूर्वाः सभा र्वेषु भारत ।
समेयं मानुषे लोके न्यर्थश्चेष्टतमा तव ॥ ६१ ॥

इति सभापर्वणि लोकपालसम्भारूपानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णनं
नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच । मायशो राजलोकस्ते कथितो वदताम्बर ।

यज्ञ, सुवर्ण, कालेय अम्बरा और मकल गन्धर्वाका यथोचित
सन्मान करते हैं ॥ ५५ ॥ ५६ ॥ हे राजन् ! यथोचित आदर करके
शान्ति सन्मानके साथ इच्छित भोग पदार्थ देकर उनको सन्न
करते हैं ॥ ५७ ॥ हे राजन् ! इन सब अभ्यागतोंके समागम और
प्रावाजाई से गुंजारती हुई वह सभा बड़ा सुख वेती है ॥ ५८ ॥
सकल तेजोंसे दिपती हुई, दिव्य, ब्रह्मर्षियोंसे सेवित और श्रम,
को हरनेवाली वह सभा ब्रह्मानीकी शोभासे दीप्तिमान् और,
श्रमहारिणी होकर परम शोभा पाती है ॥ ५९ ॥ हे महाराज !
जैसे तुम्हारी यह सभा मनुष्यलोकमें दुर्लभ है वैसे ही ब्रह्मानीकी
सभा भी त्रिलोकीमें दुर्लभ वस्तु है ॥ ६० ॥ हे भरतकुलश्रेष्ठ
मैंने देवलोकमें पहिले यह सब सभा देखी है इस समय मनुष्य-
लोकमें सबसे उत्तम इस तुम्हारी इस सभाको देख रहा हूं ॥ ६१ ॥
एकादश अध्याय समाप्त ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने कहा कि-हे परमोत्तम वक्ता नारदजी ! आपने मुझ

कैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो ॥ १ ॥ वरुणस्य सभायां
तु नागास्ते कथिता विभो । दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः साग-
रास्तथा ॥ २ ॥ तथा धनपतेर्यज्ञा शुद्धका राज्ञसास्तथा । गन्धर्वा-
प्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः ॥ ३ ॥ पितामहसभायां तु कथितास्ते
महर्षयः । सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥ ४ ॥ शक्रस्य
तु सभायां तु देवाः सङ्कीर्तिता मुने । उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च
महर्षयः ॥ ५ ॥ एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने । कथितस्ते
सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः ॥ किं कर्म तेनाचरितं तपो वा
नियतव्रत । येनासौ सह शक्रेण स्पृष्टः सुमहायशाः ॥ ७ ॥
पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम । दृष्टः पाण्डुर्महाभागः
कथं वापि समागतः ॥ ८ ॥ किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाचक्ष्व
सुव्रत । त्वत्तः भोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे ॥ ९ ॥

से कहा, कि-मायः सबही राजे यमराजकी सभामें थे ॥ १ ॥
और हे प्रभो ! आपने वरुणकी सभामें अनेकों नाग, अनेकों षडे
षडे दैत्य, नधियों और समुद्र कहे ॥ २ ॥ तथा कुवेरकी सभामें
यज्ञ, सुयज्ञ, राजस, गन्धर्व अप्सराएं और भगवान् शिवका
विराजमान होना बताया ॥ ३ ॥ और ब्रह्मानीकी सभामें आपने
सकल महर्षि और देवताओंके समूह और सकल शास्त्र बताये
॥ ४ ॥ और हे मुने ! इन्द्रकी सभामें आपने देवता और उनके
साथमें कहीं २ गन्धर्व और अनेकों महर्षियोंका वर्णन किया ५
परन्तु हे महामुने ! आपने देवराज इन्द्रकी सभामें राजर्षि एक
हरिश्चंद्रका ही वर्णन किया ॥ ६ ॥ हे तपोपन ! राजा हरिश्चंद्रने
कौनसा तप वा सत्कर्म किया था कि-जिसके प्रभावसे वह महा-
यशस्वी इन्द्रकी बराबरी करते हैं ॥ ७ ॥ हे विप्र ! पितृलोकमें गये
हुए मेरे पिता महाभाग पांडुके साथ आपका साक्षात्कार कैसे हुआ
॥ ८ ॥ और हे भगवन् ! लौटते समय सन महापुरुषने आपसे क्या
कहा ? यह सब आपसे विस्तारके साथ सुननेको मुझमें बड़ा ही

नारद उवाच ॥ यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो ।
 तत्तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि माहात्म्यं तस्य धीमतः ॥ १० ॥ स राजा
 बलवानासीत् सम्राट् सर्वमहीक्षिताम् । तस्य सर्वे महीपालाः
 शासनावनताः स्थिताः ॥ ११ ॥ तेनैकं रथमास्थाय जग्रं द्वे-
 विभूषितम् । शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर ॥ १२ ॥ स
 निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकीननाम् । आजहार महाराज
 राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १३ ॥ तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजहु-
 राज्ञया । द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन् यज्ञे च तेऽभयम् ॥ १४ ॥
 मादाच्च द्रविणं प्रीत्या याजकानां नरेश्वरः । यथोक्तवन्तास्ते
 तस्मिन्स्ततः पञ्चगुणाधिकम् ॥ १५ ॥ अतर्पयच्च विविधैर्वस्तुभिर्ब्राह्म-
 णांस्तदा । प्रसर्पकाले सम्प्राप्ते नाना दिग्भ्यः समागतान् ॥ १६ ॥
 भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः । रत्नौघतपितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च

कुतूहल हो रहा है ॥ ६ ॥ नारदजीने कहा कि-हे महाराज युधि-
 ष्ठिर! आपने जो मुझसे राजेन्द्र हरिश्चन्द्रके विषयमें प्रश्न किया
 सो मैं आपसे उन राजपिं हरिश्चन्द्रका माहात्म्य कीर्तन करता
 हूँ सुनो ॥ १० ॥ यह बली राजा हरिश्चन्द्र सब भूपालोंके सम्राट्
 थे, भूमण्डलके सब राजे उनके शासनसे नमकर रहते थे ॥ ११ ॥
 हे राजन् ! उन्होंने जयशील सुवर्णसे शोभित एक रथमें बैठकर
 अस्त्र शस्त्रोंके प्रतापसे सार्धो द्वीपोंको जीतलिया ॥ १२ ॥ हे महा-
 राज उन्होंने पर्वत और वनों सहित सकल पृथ्वीको जीतकर
 राजसूय महायज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १३ ॥ उनकी आज्ञा पाते
 ही सब राजे बहुत सा धन लाये और वेही उस यज्ञमें द्विजोंको
 भोजन परोसनेके कामपर नियुक्त हुए ॥ १४ ॥ उस यज्ञमें आये
 हुए याजकोंने जितना धन मांगा राजा हरिश्चन्द्रने प्रसन्न होकर
 उससे पांच गुणा दिया ॥ १५ ॥ उस यज्ञमें चारों दिशाओंसे
 जो ब्राह्मण आये थे राजा हरिश्चन्द्रने लौटनेके समय उनको
 अनेकों प्रकारके धनोंसे वृत्त करके विदा किया ॥ १६ ॥ इत्या-
 नुसार परोसेहुए नाना प्रकारके भक्ष्य, भोज्य और रत्नोंसे वृत्त

समुदाहृतम् ॥ १७ ॥ नेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिको-
ऽभवत् । एतस्मात् कारणाद्राजन् हरिश्चन्द्रो विराजते ॥ १८ ॥ तेभ्यो
राजसहस्रेभ्यस्तद्विद्धि भरतर्षभ । समाप्य न हरिश्चन्द्रो महायज्ञं
प्रतापवान् ॥ १९ ॥ अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ।
ये चान्ये च महोपाला राजसूयं महाक्रतुम् ॥ २० ॥ यजन्ते ते सहे-
म्ब्रेण मोदन्ते भरतर्षभ । ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वलपायिनः ।
ते तत्सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ । तपसा ये च तीव्रेण त्यज-
न्तीह क्लेश्वरम् ॥ २२ ॥ ते तत्स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भाम्नि
निस्पृशः । पिता च त्वाह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन ॥ २३ ॥
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः । विज्ञाय मानुषं लोक-
मायान् मां नराधिप ॥ २४ ॥ प्रोवाच प्रणतो भूत्वा घटेपास्तवं

हुए ब्राह्मणोंमें सन्तुष्ट होकर आशीर्वाद दिये ॥ १७ ॥ राजा
हरिश्चंद्र यज्ञकैफल्य और ब्राह्मणोंके आशीर्वादसे सब राजाओं
की अपेक्षा अधिक तेजस्वी और कीर्तिमान् हुए हे युधिष्ठिर !
इसी कारणसे हरिश्चंद्र सहस्रों राजाओंसे ऊपर विराजमान हुए
और प्रतापी राजा हरिश्चंद्र उस महायज्ञको समाप्त करके साम्राज्य
पदपर अभिषिक्त हो परम शोभाको प्राप्त हुए । हे राजन् !
और भी जो राजे राजसूय यज्ञका ॥ १८-२० ॥ अनुष्ठान
करते हैं वह बड़े आनन्दपूर्वक इन्द्रके साथ समयको बिताते
हैं और जो युद्धमें पीठ न देकर रणभूमिमें प्राण दे देते
हैं जयवा अतिकठोर तपस्या करके शरीरको त्यागते हैं वे भी
इन्द्रलोकमें जाकर परममुखसे समयको बिताते हैं ॥ २१-२२ ॥
वह इन्द्रलोकके भी पार होकर परम शोभाको धारण करते हुए
दिपते हैं । हे कुन्तीमन्दन ! तुम्हारे पिता पांडु राजा हरिश्चन्द्रकी
अलौकिक शोभाको देख आश्चर्यमें होगए और मुझ भूलोकमें आते
देखकर विनयके साथ निवेदन किया, कि-हे महर्षे ! आप मनुष्य-
लोकको जा रहे हैं, वहां युधिष्ठिरसे कहना, कि-तुम भूमण्डलका

युधिष्ठिरम् । समर्थोऽसि महीं जेतुं आतरस्ते स्थिता वशे ॥ २५ ॥
 राजसूयं क्रतुभ्रेष्ठाहरस्वेति भारत । त्वयीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्र-
 वदाशु वै ॥ २६ ॥ योदिष्ये बहुलाः शश्वत् समाः शक्रस्य संसदि ।
 एवम्पयतु वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम् ॥ २७ ॥ भूलोकं याद
 गच्छे यमिति पाण्डुमथाग्रुवम् । तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र सद्गुणं कुरु
 पांडव ॥ २८ ॥ गन्तासि त्वं यद्रेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम् ।
 यद्विघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान् ॥ २९ ॥ क्षिद्राण्यस्य नृ
 चाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः । शुद्धञ्च क्षमशमनं पृथिवीक्षय-
 कारणम् ॥ ३० ॥ किञ्चिदेव निमित्तञ्च भवत्यत्र क्षयावहम् । एतत्
 सञ्चिन्त्य राजेन्द्र यत्क्षेमं तत्समाचर ॥ ३१ ॥ अपमत्तोऽस्यतो

विजय करसक्ते हो क्योंकि चारों भाई तुम्हारे वशमें हैं ॥ २५-२५ ॥
 हे राजन् ! उन्होंने कहा, कि—युधिष्ठिर सर्वोत्तम राजसूय यज्ञ
 कर, क्योंकि—तुम्हें पुत्रके यज्ञ करने पर मैं भी शीघ्र ही हरि-
 चन्द्रकी समान ॥ २६ ॥ अनेकों वर्षों पर्यन्त निरन्तर सुख भोगता
 हुआ इन्द्रकी समामें समयको बिताऊंगा, तब मैंने तुम्हारे पिता
 से कहा, कि—महाराज ! यदि मैं भूलोकमें जाऊंगा तो अवश्य
 ही तुम्हारे पुत्रसे कहूंगा, से हे भरतकुलभूषण पांडव ! अब तुम
 परम मयज्ञ करके अपने पिताके मनोरथको सिद्ध करनेका संकल्प
 करो ॥ २७-२८ ॥ ऐसा करने पर निःसन्देह तुम भी अपने
 पूर्वपुरुषोंके साथ इन्द्रलोकमें पहुँचोगे, परन्तु हे राजन् ! करते हैं
 कि— इस महापक्षमें विघ्न बहुत हुआ करते हैं ॥ २९ ॥ इस यज्ञ
 का नाश करनेवाले ब्रह्मराक्षस सदा इसके क्षिद्रोंको खोजा करते
 हैं और इसके करनेमें क्षत्रियोंके नाशका तथा पृथिवीके क्षय तक
 का अवसर आजाता है ॥ ३० ॥ जरासा ही हेतु सबका क्षय
 कर दासता है और कोई न कोई निमित्त अवश्य ही होजाता है
 इस कारण इस सबका विचार करके जिसमें क्षेम होय सो करना ॥ ३१

नित्यं चातुर्ययस्य रक्षणे । भव एषस्व मादस्व धनैस्तर्पय च द्विजान् ॥ ३२ ॥ एतत्ते विस्तरेणोक्तं यन्मा त्वं परिपृच्छसि । आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हणगरीं प्रति ॥ ३३ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय । जगाम तैर्हृतो राजन्वृषिभिर्नैः समागतः ॥ ३४ ॥ गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कीरव- राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥ ३४ ॥

इति सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्ममभाषणं नाम द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥ समाप्तं लोकपालसभाख्यानपर्वं ॥

॥ अथ राजसूयारम्भः ॥

वैशम्पायन उवाच । ऋषेस्तद्वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः । चिंतयन् राजसूयेष्टिं न लेभेशर्म भारत ॥ १ ॥ राजर्षीणाञ्च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम् । यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य

नित्यं सावधानीसे बैठकर चारों वर्णोंकी रक्षा करो, शरीरसे योगातुष्टान तथा भनसे आमेद ममेद और ब्राह्मणोंकी तृप्त करो ॥ १ ॥ तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था वह सब मैंने तुमसे विस्तारके साथ कहा, अब तुमसे विदा होता हूँ, क्योंकि—अब मैं द्वारकापुरी को जाऊँगा ॥ ३३ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि—हे जनमेजय ! नारदजी पाण्डवोंसे ऐसा कहकर जिन ऋषियोंके साथ आये थे धनकी लिये हुए तहाँसे चलेगये ॥ ३४ ॥ हे जनमेजय ! नारदजी के चलेजानेपर राजा युधिष्ठिर अपने भ्राताओंके साथ परमोत्तम राजसूय यज्ञके विषयमें विचार करनेलगे ॥ ३५ ॥ द्वादश अध्याय समाप्त ॥ १२ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

वैशम्पायनजीने कहा, कि—हे भरतकुलतिष्ठाक जनमेजय ! महाराज युधिष्ठिरने महर्षि नारदजीकी इस बातको धुनकर लंबा सांस लिया और राजसूय यज्ञके विषयकी चिन्ता करतेहुए बहुत ही व्याकुल हुए ॥ १ ॥ उन्होंने महात्मा राजर्षियोंकी महिमा और पुण्यकर्मोंके द्वारा यज्ञ करनेवालोंमें उत्तम लोककी प्राप्ति तथा

च ॥२॥ हरिश्चन्द्रश्च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः । यज्वानं यज्ञ-
गाहन्तुं राजसूयमियेष सः ॥१॥ युधिष्ठिरस्तत्र सर्वानर्चयित्वा सभा-
सदः । मत्प्रचित्तश्च तैः सर्वयज्ञायैव मनो दधे ॥ ४ ॥ स राजसूयं
राजेन्द्रं कुरुणामृषभस्तवा । आहन्तुं प्रवणञ्चक्रे मनः संचिन्त्य
चासकृत् ॥ ५ ॥ भूयश्चाद्भुतवीर्यांजा धर्ममेवानुचिन्तयन् किं हितं
सर्वलोकाणां भवेदिति मनो दधे ॥६॥ अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः सर्व-
धर्मभृताम्बरः । अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ॥७॥ सर्वेषां
दीयतां देयं शृण्वन् कोपयद्वाबुधौ । साधु धर्मोत धर्मति नान्य-
चक्षुषेव भाषितम् ॥८॥ एवं गते ततस्तस्मिन् पितरीवाह्यसम्-
जनाः । न तस्य विद्यते द्वेषा ततोऽस्या जातशत्रुता ॥९॥ परिग्रहा-
न्मरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात् । शत्रूणां क्षपणार्थैव दीभस्तोः

विशेषकर तेजस्वी राजर्षि हरिश्चन्द्रके विषयकी आलोचना करते
राजसूययज्ञ करनेकी मनमें इच्छा की ॥ २ ॥ ३ ॥ उस समय
उन कुरुवंशावतंस पांडुकुमार युधिष्ठिरने सब राधासखोंकी पूजा
करके और आपभी उनसे आदर पाकर बारंबार द्विचार करते
हुए राजसूय यज्ञ करनेका दृढ़ निश्चय किया ॥ ४ ॥ ५ ॥
तदनन्तर वह अद्भुततेजा धर्मनन्दन युधिष्ठिर प्रजाओंके हित-
साधनमें मनको लगाकर निष्पक्षभावसे सब लोगोंका व्यवहार
करने लगे ॥ ६ ॥ ७ ॥ राजा युधिष्ठिर ने क्रोध और मद
से रहित होकर सर्वोंका श्रेष्ठ चुका देनेकी आज्ञा दी उनके राज्य
में धर्म सयसे उत्तम है, धर्म सबसे उत्तम है इसके सिवाय और
बात ही सुननेमें नहीं आती थी ॥ ८ ॥ इस प्रकार यत्नाय करने
पर प्रजाके पुरुष उनमें पिताकी समान विश्वास करने लगे, कोई
उनसे द्वेष करनेवाला हा नहीं रहा इसकारण वह अज्ञातशत्रु
कहलाने लगे ॥ ९ ॥ महाराज युधिष्ठिरके अपनानेसे भीमसेनके
रक्षा करने में भयदायक अर्जुनके शत्रुओंका नाश करनेसे

सव्यसाचिनः ॥ १० ॥ धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात् ।
 धेनव्यात् सर्वतथैव नकुलस्य स्वभावतः । अविग्रहा वीतभयाः
 स्वरूपनिरताः सदा ॥ ११ ॥ निकामवर्षा स्फुलिताश्च आसन् जन-
 पदास्तथा । वाङ्मुपी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्पणं बलिम् ॥ १२ ॥
 विशेषात्सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणा । अनुकर्षं च निष्कर्म
 व्याधिपावकमुच्छ्रितम् ॥ १३ ॥ सर्वमेव न तत्रासीद्धर्मनिरत्ये युधिष्ठिरे ।
 दस्युभ्यो वचकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ॥ १४ ॥ राजवत्सलभ
 भूतश्चैव नाभूयत मृपाकृतम् । मियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म
 स्वकर्मजम् ॥ १५ ॥ अभिहर्तुं वृषा, पट्सु पृथक्जात्यैश्च नैगमैः । प्रवृधे
 विषयस्तत्र धर्मनिरत्ये युधिष्ठिरे ॥ कामतोऽप्युपयुज्जानै राजसै-
 बुद्धिमान् सहदेवके धर्मानुसार शासन करनेसे और नकुलके
 स्वाभाविक हो सबके साथ नम्र होनेसे उनके अधिकारमें जितना
 देश था उस सबमें कहीं लड़ाई भगड़े और भयका नाम भी नहीं
 रहा मजाके सब लोग सदा, अपने २ कामोंमें संलग्न रहते थे
 ॥ १० ॥ ११ ॥ मेघ ठीक समय पर वर्षा करने लगे मजाके सब ही
 लोग धन सम्पत्तिवाले होगये व्याजकी जीविका यज्ञोंकी शक्तियों
 गोरक्षा खेती व्यापार आदि सब कार्योंमें बहुत कुछ उन्नति हुई
 राजकार्यका प्रबंध विशेषरूपसे ठीक ाकया गया निर्धनोसे
 पित्रले वर्षका कर माँगना मजाको पीड़ा देना और मजा पर कर
 बढ़ाना बंद कर दिया गया रोग अग्निका भय मूर्खा यह कुछ भी
 निरत्य धर्मानुष्ठान करने वाले युधिष्ठिरके राज्यमें नहीं था, चोर
 और ठगोंसे राज्यको व राजासे चोर और ठगोंको कुछ भय
 नहीं था ॥ १२-१४ ॥ जो राजाके प्रेमपात्र थे वह भी मजाओंको
 वृषा पीड़ा नहीं देते थे सब राजे महाराज युधिष्ठिरको प्रसन्न करने
 उनके पास बैठने वार्षिक कर देने और रात्रि विग्रह आदि छः
 गुणोंमें व्यापारियोंके समान होगए और उनके राज्यकी बढ़ी
 वृद्धि हुई ॥ १५ ॥ ॥ १६ ॥ महाराज युधिष्ठिरने जिस २ देश

लोभजैर्जनैः । सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट् ॥ १७ ॥
 यस्मिन्नधिकृतः सम्राट् भ्राजमानो महायशः । यत्र राजन् दश
 दिशः पितृतो मातृतस्तथा । अनुरक्ताः मजा आसन्नागोपाल-
 द्विजातयः ॥ १८ ॥ वैशम्पायन उवाच । स मन्त्रिणः समानाख्य
 भ्रातृश्च वदताम्वरः । राजसूयं मतिं तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥ १९ ॥
 ते पृच्छयमानाः सहिता वचोऽर्घ्यं मन्त्रिणस्तदा । युधिष्ठिरं महा-
 भागं वियत्नुमिदमब्रुवन् ॥ २० ॥ येनाभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुण-
 मृच्छति । तेन राजापि तं कुरुस्त्वं सम्राट् गुणमभीप्सति ॥ २१ ॥
 तस्य सम्राट्गुणार्हस्य भवतः कुतनन्दन । राजसूयस्य समयं
 मन्यन्ते सुदुदस्तव ॥ २२ ॥ तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीन-
 पर अधिकार किया तहांके राजे व्यापारी रजोगुणी लोभी पुरुष
 और साधारण जातियोंके पुरुष सब सब ही हर समय राजाके
 भिय काम देबोपासना और अपने २ भारव्यके अनुसार ऐरव्यों
 को भोगते थे, वह चक्रवर्ती राजा युधिष्ठिर सकल गुणोंसे भूषित
 सर्वसह सर्वव्यापी और महान् कीर्तिमान् ये द्विजतियोंसे ग्वालों
 पर्यन्त मजाके सब ही दिशाओंके लोग राजाके पिनाके कर्त्तव्य
 नीतिशिक्षा देना आदि और माताका कर्त्तव्य वात्सल्यगुण आदि
 के द्वारा उपकार पाकर उनके बहुत ही प्रेमी होगये ॥ १७ ॥
 ॥ १८ ॥ वह उनाम वक्ता युधिष्ठिर अपने मन्त्री और भार्योंको
 बुलाकर बारंबार राजसूय यज्ञकी बात पूछनेलगे ॥ १९ ॥ यशा-
 नुष्ठान करनेके अभिलाषी परमबुद्धिमान् युधिष्ठिरकी तात्पर्य भरी
 बातको सुनकर वह सब एकसाथ प्रसन्न होते हुए कहनेलगे कि-
 ॥ २० ॥ राजसूय यज्ञके द्वारा अभिषेक होने पर राजा वरुणने
 सम्राट् पद पाया था इसकारण राजा भी राजसूय यज्ञके द्वारा
 सब भूषणहलको जीतकर सम्राट् होना चाहै ॥ २१ ॥ हे कुतनन्दन !
 आपके मित्रोंकी संपत्ति है कि आप सम्राट् (चक्रवर्ती राजा) होने
 के योग्य हैं और अब आपके राजसूय यज्ञ करनेका समय आपहुं पा
 है ॥ २२ ॥ सन्निधकी सम्पत्तिरूप वला होनेसे तिस यज्ञके

सम्राट् । साम्ना पद्मनयो यस्मिंश्चीयन्ते शंसितव्रतैः ॥ २३ ॥
 दर्वाडोपानुपादाय सर्वान्यः प्राप्नुते क्रतून् । अभिषेकं च मस्यान्ते
 सर्वजित्तेन सोवपते ॥ २४ ॥ समर्थोऽसि महाशहो सर्वे ते वशगा
 वयम् । अचिरात्त्वं महाराज रामसूयमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥ अति-
 चार्य्य महाराज राजसूये मनः कुरुः । इत्येवं सुहृदः सर्वं पृथक्च
 सह चाब्रुवन् ॥ २६ ॥ स धर्म्यं पापदृष्टस्तेषां वचः श्रुत्वा विशा-
 पते । शृष्टमिष्टं चरिष्टं च जग्राह मनसारिहा ॥ २७ ॥ श्रुत्वा सुहृ-
 द्वचस्तच्च जानंथाप्यात्मनः क्षमम् । पुनः पुनमनो दधौ राम-
 सूयाय भारत ॥ २८ ॥ स आबुधिः पुनर्धीमानृत्विगमिष्य महात्मभिः ।
 मन्त्रिभिश्चापि सहिनो धर्मराजो युधिष्ठिरः । धौम्यद्वैपायमाद्यैश्च
 मन्त्रयामास मन्त्रवित् ॥ २९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । इयं या राज-
 करनेका समय अपने अभीम है इस यज्ञमें उत्तम व्रतधारी
 ब्राह्मण सामवेदके मंत्रोंका गाण करके छद्म प्रकारकी अग्निको
 स्थापन किया करते हैं ॥ २३ ॥ इस यज्ञको करनेसे पर-अग्नि-
 होम आदि सब यज्ञोंका फल प्राप्त होता है और इस यज्ञके अन्त
 में अभिषेक होजाने पर लोकमें सर्वविजयी कहलाता है ॥ २४ ॥
 हे महाराज ! आप राजसूय यज्ञ करनेकी शक्ति रखते हैं, हम
 सब ही आपके आज्ञाकारी हैं, इसकारण आप शीघ्र ही राजसूय
 यज्ञके फलको प्राप्तकोमे ॥ २५ ॥ हे महाराज ! अब आप कुछ
 विचार न करके राजसूय करनेका संकल्प कर लीजिये, इसप्रकार
 महाराज युधिष्ठिरके मित्रोंने अलग २ और इकट्ठे होकर कहा २६
 शत्रुनाशक युधिष्ठिरने उनके मुखसे ऐसे अपनी इच्छानुसार धर्म-
 पुक्त वाक्यको सुनकर स्वीकार करलिया ॥ २७ ॥ इसप्रकार
 मित्रोंके वचनको सुनकर और मन ही मनमें बार २ अपनी शक्ति
 को समझकर राजसूय यज्ञ करनेका निश्चय करलिया ॥ २८ ॥
 तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिरने फिर अपने आता, महात्मा ऋत्विक्
 मन्त्रिमंडल और धौम्य व्यास आदिके साथ संमति की ॥ २९ ॥
 युधिष्ठिरने कहा कि-हे मंत्रियों ! मेरी इच्छा है, कि-चक्रवर्ती राजा

सूयस्य सन्नाहर्हस्य सुकतोः अदधानस्य वदत स्पृहा मे सा कथं
 भवेत् ॥ ३० ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा
 राजीवलोचनाः । इमं पूर्ववत् काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥
 अर्हस्त्वपि धर्मज्ञ राजसूयं महाकृतम् । अयं वसुक्तं नृपताम्र-
 गृभिष्ट पिबिस्तथा ॥ ३२ ॥ पन्निणो आतरआस्य तद्वचः प्रत्य-
 पूनयन् । न तु राजा महापातः पुनरेवात्मनास्मवान् ॥ ३३ ॥
 भूयो विमृषे पाथो लोकानां हितकाम्यया । सामर्थ्ययोगं संक्षेप-
 देशकालौ व्यवगमौ ॥ ३४ ॥ विमृष्य सम्पक् च धिया कुर्वन्
 माशो न सीरति । न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मनि निश्चयात् ॥ ३५ ॥
 भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्रहन् । स निश्चयार्थं कायस्य
 कृष्णमेव जनार्दनम् ॥ ३६ ॥ सर्वलोकात्परं यत्वा जगाम मनसा
 हरिम् । अममेयं महाबाहुं कामज्जातमजं नृपुं ॥ ३७ ॥ पाँडव-

के योग्य राजसूय यज्ञ करूँ, उस भोग्य यज्ञको करनेमें मेरी वही
 ही श्रद्धा है, अतः यथाश्रो कि-यह मेरी अभिलाषा कैसे सफल
 होगी? ॥ ३० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि हे कमललोचन जनमेजय ।
 धर्मराजने इस वाक्यको सुनकर अवि श्रुतिज्ञोंने कहा, कि-हे
 धर्मराज । आप राजसूय महायज्ञ करनेके योग्य हैं, अतः अवश्य
 करिये ॥ ३१-३२ ॥ इस समय उनके भ्राताओंने और मंत्रियोंने इस
 बातका अनुमोदन किया तब परमपवीण जितेन्द्रिय राजा युधिष्ठिर
 मन्त्रियोंका हित करनेकी इच्छासे फिर चिन्तन करनेलागे । जो
 पुरुष अपनी शक्ति, संपत्ति, देश, काल, आमदनी और तत्त्वको
 भलीबकरी बुद्धिसे विचारकर कार्य करता है उसको विपत्तिमें नहीं
 फँसना पड़ता है, महाराज युधिष्ठिर ने केवल अपनी ही बुद्धिसे
 अवश्य करना चाहिये ऐसा समझकर यज्ञका आरंभ करना अनु-
 चित है यह विचारकर अममेय महाबाहु सर्वलोकोत्तम जनार्दन
 श्रीकृष्णके साथ सम्पत्ति करनेका निश्चय किया ॥ ३३-३६ ॥
 उन्होंने विचारा कि-श्रीकृष्ण सर्वज्ञ तथा सब कुछ करनेमें
 समर्थ हैं और अजन्मा होकर भी अपनी इच्छासे मनुष्योंमें भक्त

स्तर्कपापास कर्मभिर्देवसम्मतैः । नास्य किंचिद्विज्ञातं नास्य
 किंचिदकमजम् ॥ ३८ ॥ न स किंचिन्न विपहेदिति कृष्णमममृत ।
 स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥ गुरु-
 वदभूतगुरवे श्रीहिणोददत्तपञ्जसा । शीघ्रगेन रथेनाशु सदूतः प्राप्य
 यादवान् ॥ ४० ॥ द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवर्त्या समासदत् ।
 दर्शनाकाक्षिणं पार्थ दर्शनाकाक्षयाच्युतः ॥ ४१ ॥ इन्द्रसेनेन
 सहित इन्द्रप्रस्थमगात्तदा । व्यतीस्य विविधान्देशान् स्वराशाम्
 क्षिप्रवाहृतः ॥ ४२ ॥ इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छजनावर्धनः ।
 गृहे पितृवदभ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ॥ ४३ ॥ भीमेन च ततो-
 ऽपश्यत् स्वसारं भीतिमान् पितुः । प्रीतः प्रीतेन गृहदा रमे स
 सहितस्तदा ॥ ४४ ॥ अर्जुनेन यमाभ्याश्च गुरुवत् पर्युपासितः ।

होगये हैं, क्योंकि आज तक उन्होंने जितने काम किये उनको देवता
 के सिवाय कोई मनुष्य नहीं कर सकता, इस कारण वह अवश्य ही
 मुक्त होकर सम्मति देंगे, ऐसा मनमें निश्चय करके कुन्तिानन्दन युधि-
 स्थिरने गुरुको समान सकल प्राणियोंके मान्य श्रीकृष्णजीके पास
 तत्काल दूत भेज दिया ॥ ३७-३९ ॥ वह शीघ्रगामी रथमें चढ़
 कर यादवोंकी द्वारकापुरीमें पहुँचकर द्वारकावासी श्रीकृष्णजी
 के पास गया ॥ ४० ॥ भगवान् चक्रपाणि दूतके मुखसे युधिष्ठिर
 की दर्शन करनेकी इच्छाको सुनकर इन्द्रसेन दूतको साथ लिये
 हुए इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) की बलदिये और शीघ्रताके कारण
 शीघ्रगामी रथमें सवार हुए श्रीकृष्ण कथ २ से अनेकों देशोंको
 साँघते हुए इन्द्रप्रस्थमें युधिष्ठिरके पास पहुँच गये ॥ ४२ ॥
 युधिष्ठिरने उनको अपने घर आया देख यह आदरके साथ पिता
 का समान पूजन किया, फिर भीम, अर्जुन और मकुल सहदेवने
 भी गुरुकी समान सत्कार किया तदन्तर भगवान् वासुदेव अपनी
 फूकी कुन्तीसे मिलकर अन्य मित्रोंके साथ प्रसन्नतापूर्वक आयोद
 करने लगे ॥ ४३ ॥ ४४ ॥ इस प्रकार सुखदायक स्थानमें कुछ

तं त्रिभुक्तं सुमे देशे क्षणितं कल्पमवधुतम् । धर्मराजः ममागम्य
 ज्ञापयत् स्वमयोजनम् ॥ ४५ ॥ युधिष्ठिर उवाच । मार्थितो राज-
 स्यो मे न चासौ केवलेऽसया । प्राप्यते येन तत्ते हि विदितं कृष्ण
 सर्वशः ॥ ४६ ॥ यस्मिन् सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते । यश्च
 सर्वेश्वरो राजा राजस्यं स विन्दति ॥ ४७ ॥ तं राजस्यं
 सुहृदः कार्यपादुः समेत्य मे । तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा
 भवेत् ॥ ४८ ॥ केचिदिदं तौहदादेव न दोषं परिचक्षते । स्वार्थ-
 हेतोस्तथैरान्ये विषमेव वदन्त्युत ॥ ४९ ॥ विषमेयं परीक्षन्ते
 केचिदात्मनि यद्विदितम् । एवम्प्रापाद्य दृश्यन्ते जनबाधाः मयोजने
 ॥ ५० ॥ त्वन्तु हेतुनतीत्येतान् कामक्रोधी व्युदस्य च । परमं यत्

देर विश्राम करलेमेपर धर्मराजने श्रीकृष्णजीके पास जाकर अपना
 मयोजन कहा ॥ ४५ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे श्रीकृष्णजी !
 मेरी इच्छा है, कि—राजस्य यश करूं परन्तु यह यश केवल इच्छा
 करने से ही पूर्ण नहीं होसकता और जिस प्रकार भिद् होसकता
 है सो सब तुम जानते ही हो ॥ ४६ ॥ देखिये जो पुरुष सब
 प्रकारकी सामग्री रखता हो, जिसकी सर्व पूजा होती हो, और
 जो रामा सब पृथिवीका अधिपति हो वह ही राजस्य करसकता
 है ॥ ४७ ॥ जो मेरे भिन हैं वह तो इकठे होकर यहो कहते हैं,
 कि—राजस्य करना चाहिये परंतु हे कृष्ण ! इस विषयमें मैं
 आपकी बातको ही परम निश्चय मानूंगा ॥ ४८ ॥ कोई तो मित्रता
 के कारण से कोई स्वार्थवश प्यारी २ बातें कहदेते हैं, यह नहीं
 बताते, कि—इस यज्ञको करनेके विषयमें सुभ्रममें कोई कभी तो
 नहीं है ॥ ४९ ॥ और कोई ऐसे हैं कि—निश्चयमें अपना हित हो
 उसको ही मित्र समझते हैं, हे महात्मन् ! इस विषयमें हमारी हां
 में हैं मिलाने वाले लोग ही अधिक हैं ॥ ५० ॥ सो आप इन
 सब कारणोंको और काम क्रोधको त्यागकर जो बात शीघ्र हो

क्षमं लोके यथायद्वक्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि

वासुदेवागमने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच । सर्वेषु एतद्द्वाराज राजसूयं त्वमर्हसि । जान-
तस्त्वेवं ते सर्वे किंचिद्वक्ष्यामि भारत ॥१॥ जामदग्न्येन रामेण
क्षत्रं यद्वशोपितम् । तस्मादक्षरजं लोके यदिदं क्षमसंज्ञितम् ॥ २ ॥
कृतोऽयं कुलसङ्क्षयः क्षत्रियैर्वसुधाधिप । निदेशभागिभस्तत्ते हि
विदितं भरतर्षभ ॥ ३ ॥ ऐतस्पेक्षशकुवंशस्य भवति परिचक्षते ।
राजानः श्रेष्ठिष्वद्वाथ तथान्ये क्षत्रियाश्च ॥ ४ ॥ ऐतारण्याथ
ये राजस्तथैवेक्षकानो नृपाः । तानि चैकशतं विद्धि कुलानि
भरतर्षभ ॥ ५ ॥ ययातेस्त्वदेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान् ।

और दुष्कसे होसकै सो ठीक २ वतलाइये ॥ ५१ ॥ त्रयोदश
अध्याय समाप्त ॥ १३ ॥ छ ॥ छ ॥

श्रीकृष्णने कहा, कि-हे महाराज! तुममें सब गुण हैं, इस
कारण राजसूय यज्ञ करना तुम्हारे लिये कुछ अनुचित नहीं है, तुम
सर महारसे राजसूय करनेके अधिकारी हो यह सब तुम जानते
हो हो तथापि तुमसे कुछ कहता हूँ सुनो ॥ १ ॥ पहिले जमदग्नि-
कुमार परशुरामने पृथिवीको निःक्षत्रिय किया था उसके अनन्तर
जो क्षत्रियकुलोंमें जन्मे हैं वह वास्तविक क्षत्रिय नहीं हैं वित्तु
क्षत्रियोंकेसा आचार व्यवहार करते हैं ॥ २ ॥ हे राजन् ! यह भी
तुम्हें मालूम ही है कि—उस समय जिन आशक्तकारियोंको परशु-
रामजीने नहीं मारा था उन्होंने इकट्ठे होकर संकल्प किया कि—
हममें से जो सबको जीतलेगा वह सम्राट् होगा, बहुतसे राजे
और क्षत्रिय ऐतवंश और इक्ष्वाकुवंशको फिर भूतलपर क्षत्रियों
का मूलवंश कहते हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥ हे युधिष्ठिर ! जिन राजाओंने
ऐतवंश और इक्ष्वाकुवंशमें जन्म धारण किया उनसे एकसौ
कुल उत्पन्न हुए हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् उनमेंसे भोजपुलके राजा

भजतेऽयं महाराज विस्तरं स चतुर्विंशम् ॥ ६ ॥ तेषां तथैव तां
 लैर्द्वीं सर्वज्ञमनुपासते । इदानीमेव वै राजन् जरासन्धो महीपतिः ।
 अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिपेक्षितः ॥ ७ ॥ स्थितो मूर्ध्नि
 नरेन्द्राणामोजसाक्रम्य सर्वशः । सोऽर्ध्वनि मध्यमां भुक्त्वा मिथो
 भेदमन्यत ॥ ८ ॥ मभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्मेकवशो जगत् । स
 साम्राज्यं महाराज मातो भवति योगतः ॥ ९ ॥ तं स राजा जरासन्धः
 संश्रियं कृत्वा सर्वशः । राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः मताप-
 वान् ॥ १० ॥ तमेव च महाराज शिष्यवत् समुपस्थितः । वचनं
 करुणाधिपतिर्मायायोधी महाबलः ॥ ११ ॥ अपरां च महावीर्यां
 महात्मानौ समाश्रितौ । जरासन्धं महावीर्यं तौ हंसदिग्भकावुभौ
 ॥ १२ ॥ दन्तवक्त्रः करुणश्च करभो मेघवाहनः । मूर्ध्ना दिग्भमणिं

ययातिका वंश अपने गुणोंसे भूगण्डलमें चारों ओर फैल रहा है
 ॥ ६ ॥ और वह क्षत्रिय अपने २ वंशकी राजलक्ष्मी पर अधिकार
 करते आ रहे हैं इस समय राजा जरासन्ध अपने बाहुपलसे
 सकल राजाओंके जीतकर अपने देशमें ले आया और उनसे
 अपनी सेवा कराता हुआ सकल भूगण्ड पर एकलव्य राज्य कर
 रहा है उसने मध्यम देशोंमें राज्य करते हुए अपनेमें कभी समझी
 ॥ ७ ॥ = ॥ क्योंकि-हे महाराज ! जो राजा सबका प्रभु होता
 है और सब जगत् जिसके वशमें होता है नियमानुसार वह
 ही चक्रवर्ती पदको पाता है ॥ ९ ॥ हे राजन् ! देखो वह मतापवान्
 शिशुपाल भी सप्रकारसे उस राजा जरासन्धका ही आश्रय लेकर
 उसका सेनापति बन गया है ॥ १० ॥ हे महाराज ! मायाके द्वारा
 युद्ध करनेवाला पराक्रमी करुण देशका राजा दन्तवक्त्र भी शिष्य
 की समान पास रहकर उसकी सेवा करता है ॥ ११ ॥ दूसरे
 उन मसिद्ध महाबली महात्मा हंस और दिग्भने भी महाबली
 जरासंधका ही आश्रय लेलिया है ॥ १२ ॥ मस्तक पर पणियोंके
 धारण किये दन्तवक्त्र, करुण, करभ और मेघवाहन उस जरासंध

विभ्रममद्भुतमणि विदुः ॥ १३ ॥ मूरञ्च नरकं चैव शास्ति यो
 यवनाधिपः । अपर्यन्तस्त्रो राजा प्रतीच्या वरुणो यथा ॥ १४ ॥
 भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा । स वाचा प्रयातस्तस्य
 कर्मणा च विशेषतः ॥ १५ ॥ स्नेहवद्भ्य मनसा पितृवद्भक्तिमा-
 स्त्वयि । प्रतीच्या दक्षिणञ्चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः ॥ १६ ॥
 मातुलो भवतः शूरः पुरुजित् कुण्ठिवर्द्धनः । ते सन्नतिमानेक
 स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥ १७ ॥ जरासन्धं गतस्त्वेव पुरा यो न मया
 हतः । पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १८ ॥ आत्मानं
 प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमम् । आदत्ते सततं मोहाया
 स चन्द्रश्च मामकम् ॥ १९ ॥ वज्रपुण्ड्रकिरातेपु राजा यथासमन्वितः ।
 पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥ २० ॥ चतुर्थ-
 भारुमहाराज भोज इन्द्रसखो बली । विद्यापलायो व्यजयत् स-

को अपना मुकुटमणि मानते हैं ॥ १३ ॥ मूर और नरक देशया
 शासन करनेवाला यवनाधिपति, जो कि पश्चिममें वरुणकी समान
 अगाधबल मानाजाता है वह भी इसके वशमें है ॥ १४ ॥ हे महा-
 राज ! तुम्हारे पिताके भिन्न वृद्ध भगदत्त जरासन्धसे बात करनेमें भी
 नम्र रहते हैं और राजकार्य तो उससे बहुत ही दबकर करते हैं ॥ १५ ॥
 जो वित्तसे तुम्हारे प्रेमी है और तुममें पिताकी समान भक्ति करते
 हैं जो पश्चिम और दक्षिण सीमाके स्वामी हैं ॥ १६ ॥ और जो
 प्रेमवश सदा तुमसे नम्र रहते हैं वह कुन्तीवंशवर्द्धन शत्रुनाशक
 तुम्हारे मामा पुरुजित् भी उस जरासन्धके अनुगामी है ॥ १७ ॥
 जो दुष्टात्मा चेदिदेशमें पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध है, जो सदा अज्ञान-
 वश मेरे विन्नोंको पारण करे रहता है, जो वज्र पुण्ड्र और किरात
 देशका स्वामी है जो भूमण्डल पर वासुदेव नामसे प्रसिद्ध है, जो
 इस लोकमें अपनेको पुरुषोत्तम जानता है और निमको पहिले
 मैंने मारनेसे छोड़ दिया था उस महाबली परम पराक्रमी पौण्ड्रके
 भी इस समय जरासन्धसाही आश्रय लेलिया है ॥ १८-२० ॥

पाण्ड्यकथकैशिकान् ॥२१॥ भ्रातापस्याकृतिः शूरो जामदग्न्य-
समोऽभवत् । स भक्तो मानवं राजा भीष्मकः परिवीरहा ॥ २२ ॥
प्रियाएपाचरतः प्रधानं सदा सम्पन्निनस्वतः । भजतो न भजत्य-
स्मानमियेषु व्यवस्थितः ॥ २३ ॥ न कुलं न वलं राजन्नभ्यजाना-
त्तथात्मनः । पश्यमानो यशो दीप्तं जरासन्धमुपस्थितः ॥ २४ ॥ उदीच्याश्च
तथा भोजाः कुलान्यष्टादश ममो । जरासन्धमयादेव मत्प्रीतिं दिश-
मास्थिताः ॥ २५ ॥ शूरसेनो भद्रकारा घोषाः शान्वाः पट्वराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दः कुन्तिभिः सह ॥ २६ ॥ शान्वायनाश्च
राजानः सोदर्या अनुचरैः सह । दक्षिणा ये च पाञ्चालाः पूर्वाः
कुन्तिषु कोशलाः ॥ २७ ॥ तथोत्तरी दिशं चापि परित्यज्य भया-
दिता । म स्याः संनस्तपायाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ २८ ॥

हे महाराज ! जो चौथाई पृथिवीको भोगता है, भोज और देवराज
इंद्र जिसके मित्र हैं, जिस पत्नीने पांड्य, क्रथ और कैशिक देशों
का विनय किया है, परशुरामकी समान तेजस्वी आकृति जिसका
भ्राता है वह विद्याबलसम्पन्न शत्रुनिहृदन राजा भीष्मक भी जरा-
संधके वशमें है ॥ २१-२२ ॥ भीष्मक हमारा संबंधी है, हम सदा
उसका प्रियकार्यही करते हैं और विनीतभावसे अनुगामी रहते
हैं परंतु तो भी वह हमसेमेल नहीं रखता, वह जरासंधकी कीर्तिको
सुन सुगंध हुआ अपने कुलाभिमान और बलाभिमान सबको
तिर्ताजलि देकर जरासंधकी ही शरणमें रहता है ॥ २३-२४ ॥
हे राजन् ! उत्तर देशके राजे और अठारह भोजकुल जरासंधके
ही भयसे पश्चिम दिशाको भाग गये हैं ॥ २५ ॥ शूरसेन, भद्रकार,
घोष, शान्व, पट्वर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति, शान्वायन
वंशके राजे, दक्षिण, पांचालदेशके राजे और पूर्वकोशल
देशके राजे अपने परिवार और अनुचरों सहित पश्चिम
दिशाको भाग गये तथा मत्स्य और संन्यस्तपाद देशके राजे
भी जरासंधके भयसे उच्चरदिशाको छोड़कर दक्षिणमें चले

तथैव सर्वपांश्चाला जरासन्धमयादिताः । स्वराज्यं सम्परित्यज्य
 विद्रुताः सर्वतो दिशम् ॥ २६ ॥ कस्यचित्त्वथ कालस्य कंसो
 निर्वध्य यादरां । बार्हद्रथसुते देव्यानुपागच्छधयामतिः ॥ २७ ॥
 अस्तिः प्राप्तिथ नाम्ना ते सहदेवानुजेऽवले । वक्षेन तेन स्वशाती-
 नभिभूय वृथापतिः ॥ २८ ॥ श्रेष्ठयं प्राप्तः स तस्यासीदतीवाप-
 नयो महान । भोजराज्यवृद्धेय पीडयमानैर्दुरात्मना ॥ २९ ॥
 शातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्सम्भावना कृता । दत्वाक्रूराय सुतनुं
 तामाहुकसुतां तदा ॥ ३० ॥ सङ्कूर्पणद्वितीयेन शातिकार्यं मया
 कृतम् । इतो कंसमुनामानो मया रामेण चाप्युत ॥ ३१ ॥ भये
 तु समतिक्रान्ते जरासन्धे समुद्यते । मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजम् कुलै-
 रष्टादशावरैः ॥ ३२ ॥ अनारमन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रु-
 चातिभिः । न हन्यायो वयन्नस्य विभिर्षयैर्वशतैर्वलम् ॥ ३३ ॥ तस्य
 गण है ॥ ३४—३८ ॥ तैसे ही पांचालदेशके सब राजे भी जरा-
 संधके भयसे अपने-राज्यको छोड़कर इधर उधर भाग गए हैं २६
 कुछ ही समय बीता कि—दानवराज कंस यादवोंका पराजय
 करके अस्ति और प्राप्ति नामक सहदेवकी बहिने बार्हद्रथ
 की दोनों कन्याओंको विवाहकर ले गया था और वह दुष्टात्मा
 अपने बाहुबलसे अपनी जातिवालोंको दबाकर सबसे प्रधान बन बैठा
 था, जब उस की अनीति बहुत बढ़ गई तब भोजनवंशके वृद्ध क्षत्रियों
 ने मूढमति कंसकी दुष्टतासे अस्पन्त ही दुःखित हो जातिवालों
 की रक्षाके लिये मुझसे कहा मैंने उस समय अक्रूरको आहुक
 का कन्या देदी और जातिवालोंका हित करनेके लिये मैंने बलराम
 को साथमें लेकर कंस और सनापका वध किया ॥ ३०—३४ ॥
 हे राजन् ! ऐसा करनेपर कंसका भय तो जाता रहा, परन्तु कुछ
 ही दिनोंमें जरासन्ध प्रबलपराक्रमी हो उठा, तब मैंने जाति बान्धवों
 के साथ बैठकर सम्पत्तिकी कि—यदि हम शत्रुनाशक अस्त्रोंसे
 तीनसौ वर्ष पर्यन्त निरन्तर जरासन्धकी सेनाका संहार करेंगे

क्षमरसद्गुणो जलेन बलिर्नाम्बरी । मामभ्यां हंसदिम्भावशस्त्र-
 निधनावुभौ ॥ ३७ ॥ तावुभौ सहितौ वीरौ जरासन्धश्च वीर्यवान्
 जपस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ ३८ ॥ नहि धेवल-
 मस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः । तथैव तेषामासीच्च बुद्धि-
 बुद्धिमतांवर ॥ ३९ ॥ अथ हंस इति ख्यातः । कैश्चिदासीनमहा-
 न्नृपः । रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥ ४० ॥ हतो
 हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत । तच्छ्रुत्वा दिम्भको राजम्
 यमुनाम्भस्यमज्जत ॥ ४१ ॥ विना हंसेन लोकेऽस्मिन्नाहं जीवितु-
 मुत्सहे । इत्येतां मतिमास्थाय दिम्भको निधनं गतः ॥ ४२ ॥
 तथा तु दिम्भकं भ्रुत्वा हंसः परपुरज्जयः । प्रपेदे यमुनामेव
 सोऽपि तस्यां गम्यमज्जत ॥ ४३ ॥ तौ स राजा जरासन्धः
 भ्रुत्वा च निधनं गतौ । पुर शुन्येन मनसा ययौ भरतर्षभ
 तय भी निःशेष नहीं कर सकेंगे देवतुल्य तेजस्वी महाबली परम-
 पराक्रमी हंस और दिम्भ नामक दो वीर उसके अनुगामी हैं वह
 शास्त्रके आघातसे कदापि मारे ही नहीं जायेंगे ॥ ३५-३७ ॥
 मेरी समझमें यह दोनों वीर और पराक्रमी जरासन्ध तीनों मिल-
 कर निःसन्देह भिलोहीकी विजय करसकते हैं ॥ ३८ ॥ हे धर्म-
 राज ! यह विचार केवल मेराही नहीं है किंतु और भी जितने
 राजे हैं उनका भी ऐसा ही निश्चय है ॥ ३९ ॥ हंस नामक एक बड़ा
 प्रसिद्ध राजा था वह किसी संग्राममें बलरामजीके हाथसे मारा
 गया ॥ ४० ॥ दिम्भक लोगोंसे यह सुनकर, कि-हंस मारागया
 अपने साथी हंसके मारेजानेका अनुमान करके यमुनामें डूबनेको
 गया ॥ ४१ ॥ फिर हंसके विना मुझ जीवित रहनेकी इच्छा नहीं
 है ऐसा विचारकर उसने यमुनामें डूबकर प्राण खोदिये ॥ ४२ ॥
 हे राजन् ! चर उसका साथी हंस भी अपने मेरी दिम्भकका
 अपनी मृत्युके झूठे समाचारसे प्राणत्याग करना सुनकर यमुना
 पर गया और उसमें डूबकर अपने प्राण देदिये ॥ ४३ ॥ राजा
 जरासन्ध इन दोनों वीर पुरुषोंके मरणका समाचार पाकर मन

॥ ४४ ॥ ततो वयमपि नृप तस्मिन् प्रतिगते नृपे । पुनरानन्दिनः
 सर्वे मथुरायां वसामहे ॥ ४५ ॥ यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीव
 लोचना । कंसभाट्या जरासन्धं दुहिता मागधं नृपम् ॥ ४६ ॥
 बोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता । पतिघ्नं मे जहीत्येवं
 पुनः पुनरिन्दम ॥ ४७ ॥ ततो वयं महाराज तन्मंत्रं पूर्वमपितम् ।
 संस्मरंतो विमनसो व्यपयाता नराधिप ॥ ४८ ॥ पृथक्त्वेन
 महाराज संक्षिप्य महतीं श्रियम् । पलायामो भयात्तस्य समुत-
 श्रान्तिवान्पदाः ॥ ४९ ॥ इति सञ्चिष्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥
 कुशस्थलीं गुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम् ॥ ५० ॥ ततो निवेशं
 तस्यां च कृतवन्तो वयं नृप । तयैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम्
 ॥ ५१ ॥ त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारपाः । तस्यां
 मनमै बहुतरी उदास हाता हुआ अपने नगरको लौट आया ॥ ४४ ॥
 हे शत्रुनाशन ! उस जरासंधके लौट जानेपर हम सब भी फिर
 मथुरामें आकर आनंदके साथ रहने लगे ॥ ४५ ॥ हे महाराज !
 कुछ दिनोंके अनन्तर पतिके वियोगसे दुःखित हुई जरासंधकी
 दोनों पुत्रियें कमलनयनी कंसकी स्थियें अपने पिता जरासंधके
 पास आकर पारंवार कहने लगी, कि—हमारे पतिका वध करनेवाले
 को मारी ॥ ४६ ॥ ४७ ॥ हे राजन् ! जरासन्धके बल विक्रमका
 हमको पहिलेसे ही निश्चय था, इस समय हमको यादकरकै बहुत
 ही चिंतामें पड़े और अपनी बड़ीभारी संपदाके विभाग करके सब
 धोड़ी २ लौकर चलेंगे ऐसा निश्चय कर हम सब जरासंधके भय
 से अपने स्थानको त्याग पुन जाति धांधलों सहित भागकर पश्चिम-
 दिशामें चले गए तहां रैवत पर्वतसे शोभायमान कुशस्थली नामक
 नगरीमें रहने लगे ॥ ४८-५० ॥ तहां हमने रहनेका स्थान
 ठीक करके ऐसा किला बना लिया है, कि—उसमें देवता भी
 नहीं पहुंच सकते ॥ ५१ ॥ हे राजन् ! तहां रहकर वृष्णि
 वंशी महारथियोंकी तो बातही दूर है, किन्तु स्त्रियें भी अनायास
 पेड़ी युद्ध करसकती हैं, हे महाराज ! उस नगरीमें हम निर्भय

यतमपिघ्न निवसामोऽङ्कुतोभयाः ॥ ५२ ॥ आलोचयं गिरिमुखं
तं गागपं तीर्णमेव च । माधवाः कुरुशास्त्रं परां मुदमवाप्नुवन् ५३ ॥
एवं वयं जरासंधादभितः कृतकिन्विपाः । सामर्थ्यवन्तः संवन्धाद्
पर्यंतं समुपाभिताः ॥ ५४ ॥ प्रियोजनायतं सप्त त्रिंशत् योजना-
वधि । योगनांते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम् ॥ ५५ ॥ अष्टादशा-
वर्नैर्नलं क्षत्रियैर्बुद्धदुर्मदैः । अष्टादश सहस्राणि भ्रातॄणां सति नः
कुले ॥ ५६ ॥ आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिंशं वरः । चारु-
देवणः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽयं सात्यकिः ॥ ५७ ॥ ब्रह्मच रोहि-
ण्येष्व सांघः मधुम्न एव च । पवमेते रथाः सप्त राजन्नन्यान्निबोध
मे ॥ ५८ ॥ कृतवर्मा श्वनादृष्टिः समीकः समितिजयः । कङ्कः
शंकुश्च कुन्तीश्च सप्तैते वै महारथाः ॥ ५९ ॥ पुत्रौ चांशुकभोजस्य
दृढौ राजा च ते दश । भजसंज्ञना वीरा वीर्यवन्तौ महारथाः
॥ ६० ॥ स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः । स त्वं सम्रा

होकर रहते हैं ॥ ५२ ॥ हे महाराज ! माधव मगधदेशव्यापी रैवतक
पर्वतको देखकर बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ ५३ ॥ हे राजन् ! हम
सामर्थ्यवाले होकर भी जरासंधके उपद्रवके भयसे पर्वतका आश्रय
करके रहते हैं ॥ ५४ ॥ यह पर्वत तान योजन लंबा, एक योजन
से भी बड़े २ इक्कीस शिखरों वाला, एक २ योजनके अनंतर
सी २ द्वार और अति ऊँचे तोरणों वाला है ॥ ५५ ॥ युद्धके
मत्थाले महाबली पराक्रमी क्षत्रिय उसमें रहते हैं, हे राजन् ! हमारे
कुलमें अठारह सहस्र भाई हैं ॥ ५६ ॥ आहुकके एकसौ पुत्र हैं,
उगमें हर एक देवताकी समान है, चारुदेव और उसका भ्राता
चक्रदेव तथा सात्यकी ॥ ५७ ॥ मैं, बलदेव, युद्धमें विष्णुकी
समान सांघ, यह हम सातों रथी हैं, हे राजन् ! औरोंको भी मुक्त
से सुनिये ॥ ५८ ॥ कृतवर्मा, श्वनादृष्टि, समीक, समितिजय, वज्र,
शंकु और कुन्ती यह सात महारथी ॥ ५९ ॥ और अंशुक भोजके
दोनों बड़े पुत्र तथा राजा उग्रसेन यह महाबल-पराक्रमी दृढ़ गरीर
वाले दशों महावीर और महारथी हैं ॥ ६० ॥ हे युधिष्ठिर ! यह

इष्टुर्गुणैः कृतः सदा भरतसत्तम ॥ ६१ ॥ क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तु-
मर्हसि भारत । न तु शक्यं जरासन्धे जीवमाने महाबले ॥ ६२ ॥
राजसूयस्त्वयापाप्तुमेषा राजन्मतिर्मम । तेन रुद्धा हि राजानः
सर्वे भित्त्वा गिरित्रजे ॥ ६३ ॥ कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महा-
द्विपाः । स हि राजा जरासन्धो यियक्षुर्वसुधाधिपैः ॥ ६४ ॥ महा-
देवं महात्मानमुपापत्तिमरिन्दमम् । आराध्य तपसोग्रैश्च निर्जिता-
स्तेन पार्थिवः ॥ ६५ ॥ प्रतिज्ञायाश्च पारं ॥ गढः पार्थिवसत्तम ।
स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतञ्जगतान् ॥ ६६ ॥ पुरमानीय
यथा च चकार पुरुषव्रजम् । वयञ्चैव महाराज जरासन्धमयात्तदा
॥ ६७ ॥ मथुरां संपरित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् । यदि त्वेनं
महाराज यत्नं प्राप्तुमभीक्ष्णसि ॥ ६८ ॥ यतस्व तेषां मोक्षाय

सब ही जरासंधके अधिपारमेंके मन्थम देशका स्मरण करके यदु-
यंशियोंमें भिला गए हैं, सो हे भरतकुलभूषण ! तुम चक्रवर्ती राजाके
तुज्य संपत्तिवाले हो, इसकारण क्षत्रियसमूहमें आपको अवश्य
ही सत्राट् बनना चाहिये, परन्तु महानला राजा जरासंधके जीते
हुए मेरी सभामें राजसूय यज्ञ करनेमें तुम सफल मनोरथ नहीं
हो सकते, उसने अपने बाहुबलसे सब राजाओंको जीतकर जैसे
सिंह पर्वतकी गुफामें हाथियोंको रखता है तैसे ही उनको पहाड़ी
किलेमें बंद करके रक्खा है, उस राजा जरासंधकी इच्छा है कि इन
से राजसूययज्ञ करे ॥ ६१—६४ ॥ इसीकारण हे राजन् ! उसने
फडोर तपस्यासे पार्वतीसहित महात्मा शिवकी उपासना करके
सब राजाओंको जीता है ॥ ६५ ॥ उस राजा जरासंधने अपनी पहिवा
पूरी करली, सेनाके सहित राजाओंको जीतकर अपने नगरमें ले
आया और सबको कैद कर रक्खा है हे महाराज ! उस समयसे हम
जरासंधके भयसे मथुरापुरीमें छोड़कर द्वारकापुरीमें आगये हैं,
हे महाराज ! यदि आपको राजसूय यज्ञ करने की इच्छा है ६६-६८

जरासन्धवधाप च । समारंभो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दना ॥ ६६ ॥
 राजसूयस्य कात्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर । इत्येषा मे मती राज-
 न्यया वा मन्यसेऽनघ । एवं गते समाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ॥ ७० ॥

इति सभापर्वणि राजसूयारंभपर्वणि कृष्णयावये
 चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच । उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति ।
 संशयानां हि निर्मोक्ता त्वं नान्यो विद्यन्ते भुवि । गृहे गृहे हि राजानः
 स्वस्य स्वस्य म्रियद्वराः । न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्शब्दो हि
 कृच्छ्रात् ॥ २॥ कथं परानुभावज्ञः स्वं मशसितुमर्हति । परेण सम-
 वेतस्तु यः मशस्यः स पूज्यते ॥ ३ ॥ विशाला बहुला भूमिर्गु-
 ररत्नसमाचिता । दूरं गत्वा विजानात श्रेयो वृष्णिकुलोद्भव ॥ ४ ॥

तो पहिले जरासंधके मकड़ें हुए राजाओंको छुटानेका और जरा-
 संधके वधका यत्न करो, नहीं तो हे कुरुनन्दन ! तुम किसी प्रकार
 भी राजसूय यज्ञको सुसिद्ध नहीं कर सकोगे ॥ ६६ ॥ हे चतुर-
 शिरोमण ! राजसूययज्ञको करनेमें मेरा तो यह मत है, अगर तुम
 ने इस विषयमें सब ओरके विचारसे जो कुछ निश्चय किया हो
 उसको कहो ॥ ७० ॥ चतुर्दश अध्याय समाप्त ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि—हे धीमन् ! तुमने मुझै जैसी समिति दी
 दूसरा कोई भी ऐसी संगति नहीं दे सकता, क्योंकि—भूतल पर
 सदेहोंको दूर करनेवाला तुम्हारे समान कोई नहीं है ॥ १ ॥ इस
 भूतलपर अपना मिय कार्य करनेवाले घर २ अनेकों राजे हैं उन
 में से साम्राज्य किसीने नहीं पाया क्यों कि—सम्राट्पद यही कवि-
 नतासे प्राप्त होता है ॥ २ ॥ जो पुरुष दूसरोंकी मर्यादाको जानता है
 वह अपनी मशसा कभी नहीं करता क्योंकि—दूसरे जिनकी
 मशसा करते हैं वही पूज्य होता है ॥ ३ ॥ हे कृष्ण ! यह पृथ्वी
 बहुत बड़ा है और अनेकों बहुमूल्य रत्नोंसे भरी हुई है, हे
 वृष्णिवंशावन्त ! लोभमें मदीयताके बिना कन्याएँमाप्ति कभी

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम । आरम्भे पारमेष्ठ्यन्तु न
 माप्यमिति मे मतिः ॥ ५ ॥ एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मन-
 स्विनः । कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन ॥ ६ ॥ यद्य-
 श्च महाभाग जरासन्धभयाचदा । शङ्किताः स्म महाभाग वीरा-
 त्म्यात्तस्य चानय ॥ ७ ॥ अहं हि तव दुर्दर्प भुजवीर्याश्रयः प्रभो ।
 नात्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद्विशङ्किते ॥ ८ ॥ त्वत्सकाशाच्च
 रामाच्च भीमसेनाच्च माधव । अर्जुनाद्वा महाबाहो हन्तुं शक्यो न
 वेति वै ॥ ९ ॥ एवं जानन्ति वाष्पण्येक विमृशामि पुनः पुनः ।
 त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकाम्येषु केशव । तच्छ्रुत्वा चाश्रवी-
 श्मीमो वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ १० ॥ भीम उवाच । अनारम्भ-
 परो राजा वाष्पमीक इव सीदति । दुर्बलश्रानुपायेन बलिनं योऽधि-

नही होता ॥४॥ मेरी समझमें शान्ति ही सबसे अच्छी है शान्ति
 से ही मंगल होता है, युद्ध आदिसे उत्तम फलकी प्राप्ति कभी
 नहीं हो सकती ॥ ५ ॥ हमारे कुलके जितने शूरवीर हैं उन सब
 का भी यही मत है, हे जनार्दन ! मतीत होता है कि—इनमें कोईभी
 सर्वविजयी नहीं होसकता ॥ ६ ॥ हे महाभाग ! इस दशमें तो
 उस दुष्टात्मा जरासन्धसे हमको भी संदेह ही है ॥ ७ ॥ क्योंकि—
 हमने तो बड़ा भारी बल और भरोसा आपके ही भुजबलका है
 जब आपही उससे भयभीत हो रहे हैं तब उसके सामने मैं अपने
 को बलवान् कैसे मानसकता हूँ ॥ ८ ॥ हे महाबाहो माधव ! आप
 बलराम, भीमसेन और अर्जुन इन चारोंमेंसे कोई उसका वध
 करसकेगा या नहीं ॥ ९ ॥ हे कृष्ण ! बार २ ध्यान देकर मैं उस
 बातका ही विचार करता हूँ अब हे केशव ! आप अपनी संगति
 बताइये क्योंकि—मैं आपकी संगतिसे ही सब कामोंको निपा
 करता हूँ राजा युधिष्ठिरकी इस बातको सुनकर बात करनेमें
 मवीण भीमसेन बोल उठे ॥ १०॥ भीमसेनने कहा, कि—जो
 राजा युद्धके आरंभसे मुख मोड़ता है और जो दुर्बल या उपाय

तिष्ठति ॥ ११ ॥ अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्वलो बलिनं रिपुम् । जयेत्
सम्पक् प्रयोगेण नीत्यार्यानात्मनो हितान् ॥ १२ ॥ कुप्ये नयो
ययि बलं जय पार्थे धनञ्जये । मागधं साधयिष्यामि इष्टिं त्व
इवाग्नय ॥ १३ ॥ श्रीकृष्ण उवाच । अर्षानारभते बालो नाशु-
धन्यपवेक्षणे । तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम् ॥ १४ ॥
जित्वा जय्यार्यान्नाश्वः पालनाच्च भगीरथः । कार्त्तवीर्यस्तपो-
वीर्याद्विलानु भरतो विभुः ॥ १५ ॥ अर्द्धया मरुतस्तान् पञ्च
सम्राजस्तनुमुभुम् । सार्धार्णमिच्छास्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर
॥ १६ ॥ मन्वान् परयाननुमृशन्नेवमेव सतां युगे । निग्राह्य राज्ञां

हीन होकर बलवानके साथ युद्ध करनेको चढाई करता है यह
दोनों कष्टापाते हैं ॥ ११ ॥ जो राजा दुर्वल होते हुए भी आलस्य-
रहित होता है वह भले प्रकार युद्ध आदिके द्वारा पलवान्
शत्रुको भी जीत सकना है और नीतिके द्वारा अपने हितकारी
पदार्थों का पाजाता है ॥ १२ ॥ देखो श्रीकृष्णमें नीति है मुक्त
में बल है और धनञ्जय अर्जुनमें विजय पानेकी योग्यता है इस
कारण जैसे तीन अग्नियोंसे यज्ञ सिद्ध होजाता है तैसे ही हम
तीनों इकट्ठे होकर जरासंधके वधका काम सिद्ध करलेंगे ॥ १३ ॥
यह सुनकर श्रीकृष्णजीने कहा, कि—हे युधिष्ठिर ! अज्ञानी
पुरुष परिणामका विचार बिना किये ही कार्यका आरंभ करदेता
है इसकारण स्वार्थपरायण भूल शत्रुको नहीं सहते हैं ॥ १४ ॥ पहिले
महाराज र्योवनाश्व जीतनेयोग्य राजार्थोंको जीतकर भगीरथ
मनापालन करके कार्त्तवीर्य तपोबलसे भरत माधुपलसे और मरुत
धमबलसे चम्पकी हुए थे, ऐसा मुनते हैं, परन्तु हे युधिष्ठिर ! इस
समय सम्राट् होनेकी इच्छा करनेवाले आपमें तो सप ही गुण
हैं ॥ १५—१६ ॥ हे राजन् ! इन धतापे हुए सब राजाओंने
सुखसाध्य मंत्रके अनु तनसे ही धर्म, अर्थ और नीतिके साथ
साञ्जान्यको पाया था, इस समय यहद्रवका पुत्र जरासंध सम्राट्

प्राप्तिर्भर्पार्थनयलक्षणः । बार्हद्रथो जरासन्धस्तद्विद्धि भरतर्षभ १७
 न चैतमनुरुध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः । तस्मादिह वलादेव सा-
 म्राज्यं कुरुते हि सः ॥ १८ ॥ रत्नभाजो हि राजानो जरा
 सन्धमुपासते । न च तुष्यति तेनापि घाल्यादनयमास्थितः ॥ १९ ॥
 मूर्धाभिपिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो वलात् । आदत्ते न च नो दृष्टो-
 ऽभागः पुरुषतः क्वचित् ॥ २० ॥ एवं सर्वान् वशे चक्रं जरा-
 सन्धः शतावरान् । तं दुर्वलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ॥ २१ ॥
 भोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुवतेष्ट्वहे । पशूनामिव का प्रीतिर्जी-
 विते भरतर्षभ ॥ २२ ॥ क्षत्रियः शस्त्रपरैर्यो यदा भवति स
 रक्तः । ततः स्म मागधं संख्ये प्रतिवाधेम यद्वयम् ॥ २३ ॥ पद-
 शीतिः समानीताः शोषा राजन्श्चतुर्दश । जरासन्धेन राजानस्ततः

हुआ है ॥ १७ ॥ राजाओंके एकसौ कुल उसके सामने नहीं
 पड़ते हैं इसकारण उसने वलात्कारसे साम्राज्य पद पर अधिकार
 कर लिया है ॥ १८ ॥ रत्नरूप पदार्थोंको भोगनेवाले राजे निरंतर
 उसकी उपासना करते हैं, परन्तु वह नीतिके विरुद्ध वर्त्ताव करने
 वाला जरासंध मूर्खतावश इससे भी संतुष्ट नहीं होता
 है ॥ १९ ॥ वह वड़े २ राजाओंको वलात्कारसे पकड़कर वशमें
 करता है, हमने तो उसको किसीसे हारते नहीं देखा है ॥ २० ॥
 इसप्रकार कुछ कम सौ राजाओंको जरासंधने वशमें करलिया है,
 हे कुन्तीनन्दन ! तुम दुर्बल होकर उसके साथ कैसे युद्ध करोगे ?
 ॥ २१ ॥ हे भरतवंशावतंस ! बलि देनेके लिये लायेहुए राजे
 भोक्षित और संस्कार किये जाकर पशुओंकी समान पशुपतिके
 घरमें निवास करते हुए वड़े कष्टसे जीवनको धितारहे हैं ॥ २२ ॥
 क्षत्रिय शस्त्रसे माराजाय यही उसका सत्कार है, इसीकारण हम
 जरासंधको युद्धमें मारना चाहते हैं ॥ २३ ॥ वह जरासंध द्विधासी
 राजाओंको तो लेआया, चौदह राजाओंकी कमी रही है, सो

अरं प्रवर्त्यते ॥ २४ ॥ प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्न-
माचरेत् । जयेद्यश्च जरासन्धं स सम्राट् निपतं भवेत् ॥ २५ ॥

इति समापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये

पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर उवाच । सम्राट्गुणमभीप्सन् वै युष्मान् स्वार्थपरा-
यणः । कथं ग्रहिण्युषां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात् ॥ १ ॥
भीमाजुर्नाधुभी नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम् । मनुश्चलुर्विहीमस्य कीदृशं
जीवितं भवेत् ॥ २ ॥ जरासन्धपत्नं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम् ।
यमोपि न विजेताजौ तत्र र्वः किं विचेष्टितम् ॥ ३ ॥ अस्मिन्स्व-
र्थान्तरं युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते । तस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्प्या युक्ता
मता मम ॥ ४ ॥ यथाहं विमृषाम्येकस्तथावच्छ्रयतां मम । सन्निपासं

चौदह राजाओंको लाते ही सबको मर करवालेगा ॥ २४ ॥ हे
धर्मराज ! अब जो पुरुष दुष्टात्मा जरासंधके इस क्रूरकर्ममें विघ्न
बालसकेगा, उसका यश भूषणद्वयमरमें फैल जायगा और जो
जरासंधको जीतसकेगा वह निश्चय ही चक्रवर्ती राजा होगा २५
पञ्चदश अध्याय समाप्त ॥ १५ ॥ ल ॥ ल

युधिष्ठिर कहने लगे, कि—हे कृष्ण ! मैं साम्राज्य पानेकी इच्छा
से केवल साहसमात्र करके परम स्वार्थी पुरुषकी सगाम तुम्हें
तहां कैसे भेज दूं ॥ १ ॥ हे देव ! भीम और अर्जुन मेरे दो नेत्र
रूप हैं और आप साक्षात् मेरा मन हो, अतएव मैं तुम तीनोंको
तहां भेजकर मनोहीन और नेत्रहीन हो कैसे जीवित रह सकूंगा ?
। २ । विशेषकर जरासन्धकी महाबलवाली पराक्रमी दुर्जय सेनाको तो
संग्राममें धर्मराज भी नहीं जीतसकते, फिर तुम युद्ध करके उसका
यश करसकोगे ? ॥ ३ ॥ हे जनार्दन ! जब स्पष्ट मालूम होता है, कि—
इस काममें हाथ डालनेसे अनर्थ ही होगा, तब मेरी समझमें तो
इस काममें मट्टत होना अनुचित है ॥ ४ ॥ इस समय अकेले मैंने जो
विचार किया है उसको मुझे हे जनार्दन ! इस कामके विचारका

रोचये साधु कार्यस्यास्य जनार्दन । प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राज-
सूयो दुराहरः ॥ ५ ॥ वैशम्पायन उवाच । पार्थः प्राप्त्य धनुः
श्रेष्ठपक्ष्या च महेष्टुषी । रथं ध्वजं सर्भा चैव युधिष्ठिरमभाषत
॥ ६ ॥ अर्जुन उवाच । धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो
बलम् । प्राप्तयेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम् ॥ ७ ॥ कुले
जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधुस्तु निष्ठिताः । बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं
तु मम रोचते ॥ ८ ॥ कुतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते ॥ ९ ॥ क्षत्रियः
सर्वशो राजन्यस्य वृत्तिर्द्रिपजगये । सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान्
हि तरेद्रिपून् ॥ १० ॥ सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति ।
गुणीकृता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे ॥ ११ ॥ जयस्य हेतुः

तो एक साथ त्यागदेना ही ठीक है इस समय मेरे मनमें तो दुष्कर
राजसूय यज्ञका विचार ध्वजासा लगाता है ॥ ५ ॥ वैशम्पायन
कहते हैं, कि—जिस अर्जुनमे पहिले उत्तम धनुष, अक्षय भाषे, रथ
आर ध्वजा पाई थी वह सभामें जाकर युधिष्ठिरसे कहने लगा,
॥ ६ ॥ अर्जुनमे कहा, कि—हे राजन् ! धनुष, शस्त्र, बाण, वीर्य
अपने पक्षके सहायक कार्यका निश्चय यश और बल यह सब वही
कठिनतासे मिलता है परन्तु हमको यह सब पदार्थ इच्छानुसार मिला
गये हैं ॥ ७ ॥ विद्वान् पूर्य अमुभवी पुरुष श्रेष्ठकुलमें जन्मकी प्रशंसा
करते हैं परन्तु मेरी समझमें तो जो पुरुष बल रखता हो और बल
के समान ही वीरता दिखा सकता हो वह ही वास्तव में प्रशंसा
के योग्य है ॥ ८ ॥ देखो वीर्यवानोंके कुलमें उत्पन्न होकर भी
दुर्बल पुरुष क्या करसकता है ? परन्तु निर्वीर्य कुलमें भी उत्पन्न
हुआ वीर पुरुष प्रतिष्ठा पाता है ॥ ९ ॥ शत्रुओंको जीतनेपर जिसकी
चन्नति होती है वास्तवमें वह ही क्षत्रिय है, वीर पुरुष और सब गुणों
से हीन होनेपर भी शत्रुओंको जीतसकता है ॥ १० ॥ सकल गुण-
संपन्न होनेपर भी निर्वीर्य पुरुषसे कोई काम सिद्ध नहीं होसकता
पराक्रम होनेपर ही और गुण भी गुण रूतसे प्रसिद्ध होते हैं ॥ ११ ॥

सिद्धिर्हि कर्म दैवञ्च संश्रितम् । संयुक्तो हि बलैः कश्चित् ममा-
 दान्नोपयुज्यते ॥ १२ ॥ तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो
 रिपुः । दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते । तावुभौ नाशकौ
 हेतू राज्ञा स्याज्यौ जयार्थिना ॥ १३ ॥ जरासन्धविनाशञ्च राज्ञाञ्च
 परिरक्षणम् । यदि कुर्याम यज्ञार्थं किन्ततः परमं भवेत् ॥ १४ ॥
 अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिधयः । गुणान्निःसंशयाद्राज-
 न्नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥ १५ ॥ कापायः सुलभः पश्चान्मुनीनां शम-
 मिञ्जताम् । साम्राज्यन्तु मवेच्छ्वयं वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १६ ॥
 इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धवधमन्त्रणे
 षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

वासुदेव उवाच । जातस्य भारते वंशे तथा कुम्भ्याः सुतस्य च ।

घरसाह जयका हेतु है वह कर्म और प्रारब्ध दोनोंके अयीम है जो
 पुरुष बलवान् होकर भी ममाद के कारण कार्यके समय उदासीनता
 धारण करलेता है वह सेना सहित, शत्रुसे पराजय पाता है इसमें
 संदेह नहीं है, जैसे निर्बल शत्रुके ऊपर दया दिखाना हानिकारक
 है तैसे ही पलवान् शत्रुसे असावधान रहना भी हानिकारक
 है इसकारण जो रामा अपनी विनय चाहता हो उसको विनाश
 करनेवाली इन दो बातोंको त्यागदेना चाहिये ॥ १२-१३ ॥
 देखो यदि हम यज्ञ करनेके निमित्तसे जरासंधका वध और अन्य
 रामाओंकी रक्षा करलें तो इससे अच्छी और कौन बात होगी १४
 युद्धादिको चेष्टा न करनेवालेको लोग गुणहीन समझते हैं तो
 आप किस कारणसे गुणका पत्र न लेकर गुणहीन बनना चाहते
 हैं ? ॥ १५ ॥ जो लोकमें निकम्मे कहलाकर मुनिपोंकेसी शान्ति
 चाहते हैं उनको तो गेरुआ वस्त्र पहनके वनमें चलेजाना अच्छा
 है, इसलिये हमतो-पेसा न करके साम्राज्यके लिये शत्रुओंके साथ
 संग्राम करेंगे ॥ १६ ॥ षोडश अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥

यह सुनकर श्रीकृष्णजी कहनेलगे, कि-भरतवंशमें उत्पन्न हुए

या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥ १ ॥ न स्म मृत्युं वयं
 विघ्न राशौ वा यदि वा दिवा । न चापि कश्चिदमरमयुद्धेनानुशुभम्
 ॥ २ ॥ एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम् । नयेन विधिदृष्टेन
 यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥ सुनयस्यानपायस्य संयोगे परमः क्रमः ।
 सद्भृत्या जायतेऽसाम्य साम्यञ्च न भवेद्द्वयोः ॥ ४ ॥ अनयस्या-
 नुपायस्य संयुगे परमः क्षयः । सशयो जायतेसाम्याज्जयश्च न भवेद्
 द्वयोः ॥ ५ ॥ ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः । कथमन्तं न
 गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः । पररन्ध्रे समाक्रान्ताः स्वरन्ध्रापरणो
 स्थिता ॥ ६ ॥ व्यूढानीकेरतिपलैर्न युष्केन्द्रिभिः सह । इति बुद्धि-
 मता नीतिस्तम्भमापीह रोचते ॥ ७ ॥ अनवद्या ह्यसम्बुद्धाः प्रविष्टाः

कुन्तीके पुत्रको जैसी बुद्धि होना चाहिये, महानुभाव अर्जुनमें वह
 स्पष्ट दीखती है ॥ १ ॥ हमें नहीं मालूम कि मृत्यु दिनमें होगी या
 रातमें और कोई पुरुष युद्ध न करनेस अमर होगया हो यह भी हमने
 नहीं सुना ॥ २ ॥ इसकारण पुरुषको अपने हृदयके सन्तोषके
 लिये इतना तो करही लेना चाहिये, कि-विधिके अनुसार नीति
 पूर्वक शत्रुओंके ऊपर चढ़ाई करे ॥ ३ ॥ जिसको किसी प्रकार
 की बाधा न हो और जो नीतिसे चल रहा हो उसको चाहिये, कि-
 शत्रुके ऊपर चढ़ाई करे युद्धमें एक की उन्नति और दूसरेकी अघ-
 नात अवश्य ही होती है, दोनोंकी समता कभी नहीं होती ॥ ४ ॥
 और जो पुरुष न नीतिसे चलता है और न उपाय ही करता है
 संग्राममें अवश्य ही उसको क्षय होता है और दोनों पक्ष समान
 पराक्रमी होने पर संशय ही रहता है, विजय दोनोमेंसे किसीकी
 नहीं होनी ॥ ५ ॥ अतएव हम नीतिमार्गके अनुसार अपने छिद्रों
 को ढरुकर शत्रुके छिद्रपर आक्रमण करेंगे तो जैसे नदीके वेग
 वृक्षको उखाड़ डालते हैं तैसे ही हम शत्रुके शरीरके पाम पहुँचकर
 विजय क्यों नहीं पावेंगे ? ॥ ६ ॥ बुद्धिगनोंका नीति है कि-जो
 शत्रु बहुतसी संनद्ध सेनाका स्वामी और चलचान हो उसके साथ
 युद्ध नहीं करना चाहिये, इस बातको मैं भी मानता हूँ ॥ ७ ॥

शत्रुसद्व तत् । शत्रुदेहसुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥ ८ ॥ एको
 ह्येव धियं नित्यं विभक्तिं पुरुषर्षभ । अंतरात्मेव भूतानां तज्ज्ञयं नैव
 सज्ज्ञये ॥ ९ ॥ अथर्वेनं निहस्याजौ शोषेणापि समाहताः ! प्राप्नुयाम
 ततः स्वर्गं क्षातिप्राणपरामणाः ॥ १० ॥ युधिष्ठिर उवाच ॥ कृष्ण
 कोऽयं जरासन्धः किंवीर्य्यः किंपराक्रमः । यस्त्वा स्पृष्ट्वाग्निमहशं
 न दग्धः शलभो यथा ॥ ११ ॥ श्रीकृष्ण उवाच ॥ मृणु राजन्
 जरासन्धो यद्वीर्य्यो यत्पराक्रमः । यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्वहुशः
 कुतविमिशः ॥ १२ ॥ अक्षौहिणीनां तिसृणां पक्षिः समरवर्षितः ।
 राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्वली ॥ १३ ॥ रूपबान्धीर्यसंपन्नः
 श्रीमानतुल्यविक्रमः । नित्यं दीक्षाकिततनुः शतक्रतुरियापरः १४

हम गुप्तरूपसे शत्रुके घरमें घुसकर उसके ऊपर आक्रमण करतेहुए
 अपना काम सिद्ध करलेंगे ॥ ८ ॥ दुष्टात्मा जरासंध खचसे श्रेष्ठ
 वनकर अकेला ही प्राणियोंके अन्तरात्माकी समान नित्य राज-
 तत्वकी भोगता है मैंने उसका घब करना ही कर्तव्य समझा
 है ॥ ९ ॥ यदि हम युद्धमें उस दुष्टात्माका संहार करके उसके अन्य
 साधियोंके हाथसे मारे भी गये तो उसके कारागारमें बंदी होकर
 पड़ेहुए क्षातिप्राणियोंकी रक्षा होनेसे अवश्य ही स्वर्गगति पावेंगे १०
 यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा, कि हे कृष्ण ! यह जरासंध कौन है
 इसकी क्या वीरता है और कैसा पराक्रम है ? जो दुष्टात्मा तुमसे
 शत्रुता करके मज्जालित अग्निका स्पर्श करनेवाले पतंगेकी समान
 भस्म नहीं हुआ ॥ ११ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-हे राजन् ! जरा-
 संध जैसी वीरता और पराक्रमवाला है तथा जिसकारण
 से उसके अनेकों बार हमारे प्रतिकूल व्यवहार करनेपर भी हमने
 उसपर ध्यान नहीं दिया है सो सुनो ॥ १२ ॥ पहिले समयमें
 तीन अक्षौहिणियोंका स्वामी, युद्धका घमण्डी, रूपवान्, धनसम्पन्न
 महाबली, परम पराक्रमी, नित्य दीक्षित इंद्रकी समान बृहद्रथ नाम-

तेजसा सूर्यसदृशः क्षमया पृथिवीसमः । यमान्तकसमः क्रोधे
 श्रिया वैश्रवणोपमः ॥ १५ ॥ तस्याभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम ।
 व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः ॥ १६ ॥ स काशि-
 राजस्य सुते यमने भरतर्पण । उपयेमे महावीर्यं रूपद्रविणसंयुते
 ॥ १७ ॥ तयोश्चकार समयं मिथः स पुष्पर्पणः । नातिवर्त्तिष्य
 इरवेवं पत्नीभ्यां सन्निधौ तदा ॥ १८ ॥ स ताभ्यां शुशुभे राजा
 पत्नीभ्यां वसुधाधिपः । प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव
 द्विपः ॥ १९ ॥ तयोर्मध्यगतश्चापि रघुज वसुधाधिपः । गङ्गा-
 यमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः ॥ २० ॥ विषयेषु निमग्नस्य तस्य
 यौवनमभ्यगात् । न च वंशकरः पुत्रस्तस्याजायत कैश्चन ॥ २१ ॥
 मद्रत्नैर्वहुभिर्होमैः पुष्पकामाभिरिष्टिभिः । नासत्साद नृपश्रेष्ठः पुत्रं

बालाराजा मगधदेशमें राज्य करता था ॥ १३-१४ ॥ यह राजा तेज
 में सूर्यकी समान, क्षमामें पृथ्वीकी तुल्य, क्रोधमें कालान्तक यमकी
 समान और ऐश्वर्यमें कुवेरकी समान था ॥ १५ ॥ हे भरतवंश
 भूषण ! उसके श्रेष्ठगुणों से सूर्यकी किरणोंसे जैसे, यह पृथ्वी
 मंडलव्याप्त होगया ॥ १६ ॥ हे युधिष्ठिर ! उस महावीर राजाने
 काशिराजकी रूपधनवती दो कन्याओंके साथ विवाह किया १७
 राजाने उस समय उन दोनों स्त्रियोंसे प्रतिज्ञा करली थी; कि-
 मैं दोनोंसे एकसा प्रेम रखूंगा ॥ १८ ॥ राजा उन दोनों प्रेम
 वती स्त्रियोंके मध्यमें होकर दो हथिनियोंके मध्यमें गजराजका
 समान और गंगा यमुनाके मध्यमें मूर्तिमान् समुद्रकी समान शोभा
 को प्राप्त हुआ ॥ १९ ॥ २० ॥ उसने विषयोंमें निमग्न होकर
 अपनी युवावस्था विलासी परन्तु उसने कोई वंशकी चलानेवाला
 पुत्र नहीं हुआ ॥ २१ ॥ राजाने अनेकों मांगलिक होम और पुत्र
 कामोष्टि नामक यज्ञ किये, परन्तु किसी प्रकार भी कुलकी बढ़ाने
 वाला पुत्र नहीं पाया, उस राजाने एक समय सुना, कि-महात्मा

कुलविषर्द्धनम् ॥ २२ ॥ अथ कालीवतः पुत्र गोतमस्य महात्मनः ।
 शुद्धास तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥ २३ ॥ यदृच्छयागतं
 तन्तु वृक्षमूलमुपाश्रितम् पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोपयत्
 ॥ २४ ॥ तमव्रवीत् सत्यवृतिः सत्यवागृपिसत्तमः । परितुष्टोऽस्मि
 राजेन्द्र वरं वरय सुयव ॥ २५ ॥ ततः सभाटपः प्रणतस्तपुबाच
 वृहद्रथः । पुत्रदर्शननैराशयाद्वाष्पसन्दिग्धया गिरा ॥ २६ ॥
 राजोवाच । भगवन् राज्यमुत्सृज्य मस्थितोऽहं तपोवनम् । किं
 परेणाल्पभाभ्यस्य किं राज्येनामजस्य मे ॥ २७ ॥ श्रीकृष्ण उवाच ।
 एतच्छ्रुत्वा मुनिर्व्यानमगमत् क्षुभितेन्द्रियः । तस्यैव चाग्रहस्तस्य
 छायायां समुपाविशत् ॥ २८ ॥ तस्योपपिष्टस्य मुनेस्तसङ्गे निपात इ ।
 आवानमशुकादष्टमेकमात्रफलं किञ्च ॥ २९ ॥ तत् प्रवृत्त्या मुनिभेष्टो

कलीवान् गौतमपुत्र उदारस्वभाव भगवान् चण्डकौशिक तपस्या
 में परिश्रम उठा अपनी इच्छासे आकर एक वृक्षके नीचे ठहरे हैं
 उस समय राजा दोनों स्त्रियों सहित उनके पास गया और उनके
 अनेकों रत्न पदार्थ समर्पण करके सन्तुष्ट किया ॥ २३ ॥ २४ ॥
 सच्चे धैर्य और सत्यवचन वाले श्रुतिभेष्ट चण्डकौशिक राजाके
 भक्तिभावसे प्रसन्न होकर कहनेलगे कि—हे राजेन्द्र ! मैं तेरी भद्रा
 को देखकर प्रसन्न हूँ अब तू कुछ वर मांग ॥ २५ ॥ उस समय
 दोनों स्त्रियों सहित महाराज वृहद्रथने महर्षिको प्रणाम किया
 और पुत्रदर्शनकी निराशासे नेत्रोंमें आंसू भरकर गद्गद बाणी
 में कहने लगे ॥ २६ ॥ राजाने कहा, कि—हे भगवन् मैं सम्तानहीन
 वृद्ध अभाग हूँ राज्यको छोड़कर तपोवनमें चलाआया हूँ इस
 समय मैं वर मांगकर क्या करूँगा ? ॥ २७ ॥ श्रीकृष्ण कहते हैं
 कि—हे पुत्रिष्टिर ! वह महर्षि राजाके ऐसे कातर वचनको सुनकर
 दयालु हो उस आगके वृक्षके नीचे ही बैठकर ध्यान करने लगे
 ॥ २८ ॥ उसी समय तातेका नखाया हुआ एक सरस आमका फल
 वृक्षमेंसे अचानक उनकी गोदमें गिरा ॥ २९ ॥ महर्षिने पुत्रकी

हृदयेनाभिर्मन्त्र्य च । राज्ञे वृद्धावमर्तिम पुनसम्प्राप्तिकारणम् ॥ ३० ॥
 चवाच च महामश्वस्तं राजानं महामुनिः । गच्छ राजन् कृतार्थोऽसि
 निवर्त्तस्व नराधिप ॥ ३१ ॥ एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वक्त्यं शिरसा
 मण्डित्य च । मुनेः पादौ महाभाग्नः स मृपः स्वगृहं गतः ॥ ३२ ॥
 यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तम । द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात्
 पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥ ३३ ॥ ते तदाश्वं द्विषा कृत्वा यत्नयामासतुः
 शुभे । भावित्रादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुने ॥ ३४ ॥ तयोः सम
 भवत् गर्भः फलमाशनसम्भवः । ते च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदम-
 वाप ह ॥ ३५ ॥ अथ काले महामाज्ञ यथासमयमागते । मजायेता-
 मुभे राजन् शरीरशकले तदा ॥ ३६ ॥ एकाक्षिपाहुचरणे

मास्तिका कारणभूत परमरमणीय आम्नफल लेकर कुछ समय मन
 ही मनमें विचार करके राजाको दे दिया ॥ ३० ॥ और उन ज्ञानी
 महामुनिने कहा, कि-हे राजन् ! अब तुम अपने घरको लौट
 जाओ, तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ, अबतुम शीघ्र हा पुनः मुख
 देखोगे ॥ ३१ ॥ उस परमपवीण राजा बृहद्रथने महर्षिकी इस
 बातको सुनकर उनके चरणोंमें गणाम किया और रानियों सहित
 अपने घरको चला आया ॥ ३२ ॥ हे युधिष्ठिर ! तदनन्तर राजा
 ने शुभ मुहूर्त्त विचार कर वह एक ही फल दोनों रानियोंको
 दिया ॥ ३३ ॥ उन्होंने उस फलके दो टुकड़े करके आपसमें एक
 एक टुकड़ा बांटकर खालिया उस फलका खानेके अनन्तर भावी
 के बलवान् होनेसे और महर्षिके सत्यवादीपनके प्रभावसे उन
 दोनोंके ही गर्भ रह गया, दोनों रानियोंको गर्भवती देखकर वह
 राजा बड़ाही प्रसन्न हुआ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥ हे राजन् ! तदनन्तर
 कुछ दिनोंमें प्रसवकाल आने पर दोनों रानियोंने शरीरके दो
 टुकड़े पैदा किये ॥ ३६ ॥ उन दोनों टुकड़ोंमें एक २ नेत्र, एक २
 बाहु एक २ चरण, आधा २ पेट आधा २ मुख और आधी २

अर्द्धोदरमुखश्चिह्ने । दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेष्टुमर्हते भृशम् ॥३७॥
 चद्विम्बे सह सम्प्राप्य ते भगिन्यौ तदाबले । सजावे प्राणिशकले
 तत्पजाते मुदुःखिते ॥ ३८ ॥ तयोर्पाङ्ग्यौ मुसम्भीते कृत्वा ते
 गर्भसंस्लाये । निर्गम्यान्तःपुरद्वारात् समुत्सृज्याभिजग्मतुः ॥३९॥
 ते चतुष्पथनिकृतिं जरा नामाथ राक्षसी । जग्राह मनुजव्याघ्र मांस-
 शोणितभोजना ॥ ४० ॥ कर्तुंकामा सुखयहे माफले सा तु
 राक्षसी । संयोजयामास तदा विधानयस्तचोदिता ॥ ४१ ॥ ते
 समानीतमाने तु शकले पुरुषर्षभ । एकमूर्त्तिधरो वीरः कुमारः
 समपद्यत ॥ ४२ ॥ यतः प्रा राक्षसी राजन् विस्मयोःफुल्ल-
 लोचना । न शक्नाक समुद्रोदु' वज्रसारपथं शिशुम् ॥४३॥ बाल-
 स्ताम्रगलं हृष्टिं कृत्वा चास्ये निपाप सा । प्राक्रोशदतिसंरम्भः

कमर थी उन शरीरके टुकड़ोंको देखकर दोनों रानियें बहुत ही
 भयभीत हुईं ॥ ३७ ॥ उन घबड़ाई हुई दोनों पहिनोंने उस समय
 सम्मति करके वही दुःखित हो तिन दोनों सजीव शरीर खण्डों
 को स्पर्शदेनेका निश्चय किया ॥३८॥ उन दोनोंकी धार्यें आज्ञा
 पाते ही तत्कालके उत्पन्न हुए उन दोनों शरीरखण्डोंको भले
 प्रकारसे ढकेहुए रखवासमें से बाहर जा डालकर चली आईं ३९
 हे राजन् ! तदनन्तर कथिर मांसका भोजन करनेवाली एक जरा
 नामक राक्षसीने चौराहमें पहुँचहुए उन शरीरके दो टुकड़ोंको उठा
 लिया ॥ ४० ॥ दोनहारकी कैसी अकथनीय पहिमा है, कि-
 वह राक्षसी दैवकी प्रेरणासे इन शरीरके दोनों टुकड़ोंको सुभीते
 के साथ लेजानेके लिये जोड़ने लगी ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! उन
 टुकड़ोंको ज्योंही मिलाया वह उसी समय एक मूर्त्ति होकर महापत्नी
 परमपराक्रमी कुमार बनगया ॥ ४२ ॥ तब तो हे राजन् ! वह राक्षसी
 भी अचम्भेमें हो टकटकी लगाकर देखनेलगी और उस वज्रकी
 भगान दृढ़ शरीरवाले बालकको उठा भी न सकी ॥ ४३ ॥ वह
 बालक लाल ० हथेलीवाली मुठ्ठीको मुखमें देकर सजल घनपटा

सतोय इव तोयद ॥ ४४ ॥ तेन शब्देन सन्धान्तः सहस्राभ्याः-
 पुरे जन । निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परन्तप ॥ ४५ ॥ ते
 चावले परिम्लामे पयःपूर्णपयोधरे । निराशे पुत्रलाभाय सह
 सैराभ्यगच्छताम् ॥ ४६ ॥ तेऽथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चष्ट-
 सन्ततिम् । तश्च बालं सुवर्तिनं चिन्तयामास राज्ञसी ॥ ४७ ॥
 नार्दामि विषये राज्ञो वसन्ती पुमृद्धिना । 'बालं पुत्रमिमं हन्तुं'
 धार्मिकस्य महात्मनः ॥ ४८ ॥ सा तं बालमुपादाय मेघलोखेव
 भास्करम् । कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥ ४९ ॥
 राजस्सुग्राह । वृहद्रथ घृतस्तेऽयं मया दत्तैः मृद्यताम् । तव परन्ती-
 द्वये जातो द्विजातिवरशासनात् । धात्रीजनपरित्यक्तो मयायं परि-
 रक्षितः ॥ ५० ॥ श्रीकृष्ण उवाच । ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराज-
 के गर्जनेकी समान गभीर स्वरसे रौने लगा ॥ ४४ ॥ हे युधि-
 श्ठिर ! रणवासके सबलोग उस अवानक गभीर रोदनके शब्दको
 सुगहर अचपेमें हुएसे राजाके सहित बाहर निकल आये ॥ ४५ ॥
 दूधभरे स्तनोंके बोभसो नमी हुई मलिनमुखी वह निराश दोनों
 रानियों भी पुत्रको पाने के लिये शीघ्र ही बाहर आ गई ॥ ४६ ॥
 वह राज्ञसी उन दोनों रानियोंको ऐसी दशामें और राजाको
 पुत्रका अभिलाषी तथा उस परमवली बालकको देखकर चिन्ता
 करने लगी, कि—॥ ४७ ॥ मैं इस राजाके देशमें वसती हूँ इस
 राजाको सन्तानकी बड़ी अभिलाषा है तथा यह परमधार्मिक और
 महारथ है अतः इसकी इस बालक संतानको नष्ट करना बहुत ही
 अनुचित है ॥ ४८ ॥ मन ही मनमें ऐसी विचार करके मनुष्यका
 रूप धारण कर उस बालकको लिये हुए राजाके समीप चली गई
 और कहने लगी ॥ ४९ ॥ राज्ञसीने कहा, कि—हे राजन् वृहद्रथ !
 यह बालक तुम्हारा पुत्र है मेरे दिये हुए इसको ग्रहण करो यह ब्राह्म-
 णके वरदानके प्रभावसे तुम्हारी दोनों रानियोंके गर्भसे उत्पन्न हुआ
 है धाईयें इस को डाल आई थीं मैंने इसकी रक्षा की है ॥ ५० ॥

सुते शुभे । तं बालमभिपद्याशु प्रसन्नैरभ्यपिञ्चताम् ॥ ५१ ॥ ततः
स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च । अपृच्छद्धेमगर्भाभां राज्ञसीं
तामराक्षसीम् ॥ ५२ ॥ राजीवाच । का सर्वं कमलगर्भाभि मम
पुत्रमदायिनी । का मया ब्रूहि कन्याणि देवता प्रतिभासि मे ५३
इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धोत्पत्तौ

सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

राज्ञस्युवाच । जरा नामास्मि भद्रं ते राज्ञसी कामरूपिणी । तव
चेरमनि राजेन्द्र पूजिता न्युवसं सुखम् ॥ १ ॥ गृहे गृहे मनुष्याणां
नित्यं तिष्ठामि राज्ञसी । गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वय-
म्भुवा ॥ २ ॥ दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी । यो
मां भवत्या लिखेत् कुट्ये स पुत्रां यौवमान्विताम् ॥ ३ ॥ गृहे
तस्य भवेद्भदिरन्यथा क्षयमामुपात् । त्वद्गृहे तिष्ठमानाहं पूजिताहं

श्रीकृष्ण कहते हैं कि—हे सुचिष्टिर ! काशिराजकी पुत्री उन दोनों
रानियोंने तरकाल आनन्दभरे चित्तसे उस बालकको लेकर स्तनों
के दूधसे अभिषिक्त किया ॥ ५१ ॥ तदनन्तर वह राजा सकल
समाचार सहित पुत्रको पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ और उस सर्वा-
ङ्गसुन्दरी मनुष्य रूपधारिणी राज्ञसीसे पूछा ॥ ५२ ॥ राजाने
कहा, कि—हे शुभे ! हे परम कान्तिवाली ! तूने मुझें पुत्र दिया है
अब यह तो बता कि—तू कौन है मुझें तो देवता मालूम होती है
॥ ५३ ॥ सप्तदश अध्याय समाप्त ॥ १७ ॥

राज्ञसीने कहा, कि—हे राजेन्द्र ! तुम्हारा भंगल हो, मैं काम-
रूपा राज्ञसी हूँ, मैं बड़े आदरके साथ सुखपूर्वक आपके घरमें रहती
हूँ ॥ १ ॥ मैं मनुष्योंके अत्येक घरमें नित्य निवास करती हूँ भगवान्
ब्रह्माजीने मुझ राज्ञसीको रचकर मेरा नाम गृहदेवी रखदिया है २
मैं दिव्यरूपवाली दानवोंके विनाशके लिये स्थापित हुई हूँ, जो
पुरुष अपने घरकी दीवार पर भक्तिसे साथ मेरी नवयौवनवाली
पुत्रवती मूर्ति लिखेगा, उसके घरमें सदा धन धान्य पुत्रादि

सदा विभो ॥ ४ ॥ लिखिता चैव कुड्येषु पुष्पैर्बहुभिरावृता ।
 गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यैर्भोज्यैः सुपूजिता ॥ ५ ॥ साहं प्रत्युप-
 कारार्थं वितयाम्यनिशं तव । तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्पस्मि धार्मिक
 ॥ ६ ॥ संश्लेषिते मया देवात्कुमारः समपद्यत । तव भाग्यामहा-
 राज हेतुमात्रमहं विवह ॥ ७ ॥ मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुन-
 स्तव घालकम् । गृहसंपूजनोत्तुष्ट्या मया प्रत्यर्पितस्तव ॥ ८ ॥
 श्रीकृष्ण उवाच । एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत । स
 संगृह्य कुमारं सं प्राववेश गृहं नृपः ॥ ९ ॥ तस्य बालस्य यत् कृत्यं
 तच्चकार नृपस्तदा । आशापयच्च रक्षित्या मगधेषु महोत्सवम्
 ॥ १० ॥ तस्य नामाकरोच्चैव पितामहसमः पिता । जराया सम्वितो
 की वृद्धि होगी और ऐसा न करनेसे अवश्य ही अमङ्गल होगा,
 हे राजन् ! तुम्हारे घरमें मैं सदा पूजित होकर रहती हूँ ॥ ६ ॥ ४ ॥
 तुम्हारे घरकी भीतोंपर अनेकों पुष्पोंसे युक्त मेरी मूर्ति लिखी हुई
 है, और गंध, पुष्प, धूप, भक्ष्य, भोज्य आदिसे सदा मेरी पूजा
 होती है ॥ ५ ॥ इस कारणसे मैं निरन्तर चिन्ता करती हूँ कि-किस
 प्रकार आपका उपकार करूँ, हे धर्मात्मन् ! आज देववश मैंने तुम्हारे
 पुत्रके शरीरके दो टुकड़े देखपाये ॥ ६ ॥ उनमें लेकर ज्यों ही
 मैंने भिजाया, कि-वह एक कुमार बनगया हे महाराज ! यह अच-
 रजकी बात आपके ही भाग्यसे हुई है, मैं इसमें निमित्तमात्र हूँ ७
 हे राजन् ! मैं राज्ञसी हूँ, तुमको भी भक्षण कर सकती हूँ,
 फिर तुम्हारे बालकको भक्षण करना तो बात ही क्या थी ? केवल
 निरन्तर आपके घर पूजित होती हूँ इसीसे तुम्हारा पुत्र तुम्हें
 अर्पण करदिया है ॥ ८ ॥ श्रीकृष्ण कहते हैं, कि-हे युधिष्ठिर !
 ऐसा कहकर वह राज्ञसी तर्हा ही अन्तर्धान होगई और वह वृद्ध-
 त्रय राजा कुंजरको लेकर मङ्गलमें चलागया ॥ ९ ॥ नद्वान्तर
 राजाने उस बालकका जातकर्मादि जो कुछ सम्पन्न करनेका वह
 किया और अपने राज्यके सब देशोंमें जरा राज्ञसीको महोत्सव
 करनेकी आज्ञा दी ॥ १० ॥ तदनन्तर पितामहकी समाप्ति इस

यस्माज्जरासन्धो भवत्वयम् ॥ ११ ॥ सोऽज्जित महातेजा मागया-
धिपते! सुतः । प्रमाणवत्सम्पन्नो हुताहुतिरिवानलः । माता-
पिमोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ १२ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्यभि जरासन्धोत्पत्ता
वष्टावशोऽध्यायः ॥ १८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच । कस्यचिस्त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मगधेषूपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ १ ॥ तस्यागमनसंहृष्टः
सामात्यः सपुरःसरः । सुभार्य्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः
॥ २ ॥ पाद्यार्घ्याचमनीर्यैस्तमर्चयामास भारत । स नृपो राज्य-
सहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३ ॥ मातृपुत्र च तं पूजां पार्थिवा-
ज्जगवानृपिः । उवाच मागधं राजन् ग्रहणेनान्तरात्मना ॥ ४ ॥
सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन् दिव्येन चक्षुषा । पुत्रस्तु मृणु राजेन्द्र

बृहद्रथने, क्योंकि उसके पुत्रको जरानाथक राजसीने संपित अथात्
पिताकर जोड़ा था इसकारण उसका नाम जरसंध रखवा ११
जरसंध अपने पिता बृहद्रथके घर होमेहुए अग्निको समान और
शुक्लपक्षके चन्द्रमकी समान दिन २ अपने शरीरके अनुसार वत्स-
सहित बड़नेलगा, यह देखकर उसके माता पिताके आनन्द की
सीमा न रही ॥ १२ ॥ अष्टादश अध्याय समाप्त ॥ १८ ॥

श्रीकृष्णमै कहा, कि-हे राजन् ! इसके अनन्तर कुछ दिनों
बाद भगवान् चण्डकौशिक अपि विचरते १ फिर मगधदेशमें
आये ॥ १॥ महाराज बृहद्रथ उनके आनेसे परम मसन्न हो भैंरी,
सेवक, दोनों रानियों और पुत्रसहित उनके पास गया ॥ २ ॥ हे
राजन् ! उस राजा बृहद्रथने पाय, अर्घ्य और आचमनके द्वारा
पूजा कर राज्यसहित अपना पुत्र उनको निवेदन किया ॥ ३ ॥
हे राजन् ! भगवान् चण्डकौशिक अपि राजाजी पूजाको ग्रहण
करनेके अनन्तर मनमें मसन्न होकर कहनेलगे, कि-॥ ४ ॥ हे
राजन् ! मैंने दिव्यदृष्टिके द्वारा यह सब वृत्तांत जानलिया है,

यादृशोऽयं भविष्यति ॥ ५ ॥ अस्म्य रूपञ्च सत्त्वञ्च घलमूर्धित-
मेव च । एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशयः ॥ ६ ॥ प्राप-
यिष्यति तत्सर्वं विक्रमेण समन्वितः । अस्म्य वीर्यवतो वीर्यं
नानुयास्यन्ति पार्थिवाः ॥ ७ ॥ पतदो वैनतेयस्य गतिमन्ये यथा
खगाः । विनाशमुपयास्यन्ति ये चास्म्य परिपन्थिनः ॥ ८ ॥ देवै-
रपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते । न रुजं जनयिष्यन्ति गिरे-
रिव नदीरयाः ॥ ९ ॥ सर्वमूर्द्धाभिपिक्तानामेव मूर्ध्नि ज्वलि-
ष्यति । प्रभादराऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः ॥ १० ॥
एतमासाद्य राजानः समुद्रबलबोहन्धः । विनाशमुपयास्यन्ति
शलभा इव पावकम् ॥ ११ ॥ एष श्रियः समुदिताः सवराज्ञां
ग्रहीष्यति । वर्षास्त्रियोदीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १२ ॥ एष
धारयिता सम्यक् चातुर्वर्ण्यं महाबलः । शुभाशुभमिव स्फीता

हे राजेन्द्र ! तुम्हारा यह पुत्र जैसा सौभाग्यशाली होगा सो मुनो
तुम्हारा यह कुमार रूपवान्, वीर, बली, पराक्रमी और अतुल्य
ऐश्वर्यवाला होगा, इसमें संदेह नहीं है ॥ ६ ॥ यह अपने पराक्रम
से सकल ऐश्वर्यको पावेगा, जैसे अन्य पक्षी उड़तेहुए पक्षिराज
गरुडका पीछा नहीं करसकते तैसे ही कोई भी राजे इस वीर्य-
वान् कुमारके पराक्रमका बराबरी नहीं करसकेगा और जो इसमें
शुक्ल करेगा वह अवश्य नाशको प्राप्त होजायगा ॥ ७-८ ॥ हे
राजन् ! जैसे नदीकी तरंगोंसे पर्वतको कुछ भी हानि नहीं होती
तैसे ही देवताओंके शस्त्रप्रहारसे भी इसको कुछ पीछा नहीं होगी
यह सकल क्षत्रिय राजाओंके शिरपर शोभा पावेगा, जैसे सूर्य
अन्य सकल ज्योतिषोंकी प्रभाको कम करदेता है तैसे ही यह
कुमार सबोंके तेजको नष्ट करदेगा ॥ १० ॥ जैसे पतंगे अग्निमें
नष्ट होजाते हैं तैसे ही घन और चाहनोंवाले ऐश्वर्यवान् राजे
युद्धमें इसके हाथसे मारेजायंगे ॥ ११ ॥ जैसे वर्षाकालमें समुद्र
अगाध जलवाली सकल नदियोंको ग्रहण करलेता है तैसे ही यह
सकल राजाओंके ऐश्वर्योंको ग्रहण करेगा ॥ १२ ॥ जैरो

सर्वसस्यधरां धरां ॥ १२ ॥ अस्याज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति
 नराधिपः ॥ सर्वभूतात्मभुतस्य वापोरिव शरीरिणः ॥ १४ ॥
 एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम् । सर्वलोकेष्वतिवलः
 साक्षात् द्रक्ष्यति भगवतः ॥ १५ ॥ एवं ब्रुवन्मेव मुनिः स्वकार्यमिव
 चिन्तयन् । विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमपारिहन् ॥ १६ ॥ प्रविश्य
 नगरीञ्चापि ज्ञातिसम्बन्धिभिर्वृतः । अभिषिष्य जरासन्धं मगधा-
 पिपतिस्तदा ॥ १७ ॥ बृहद्रथो नरपतिः परां निवृत्तिमाययौ ।
 अभिषिक्ते जरासन्धे तदा राजा बृहद्रथः । परमीद्वयेनानुगतस्तपो-
 वनचरोऽभवत् ॥ १८ ॥ ततो वनस्थे पितरि माप्रोक्ष्यैव विशोपते ।
 जरासन्धः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद्दशे ॥ १९ ॥ वैशम्पायन
 उवाच । अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः । समार्य्यः स्वग-

सकल अन्नोको धारण करनेवाली वसुन्धरा क्या भले क्या बुरे
 सबको ही धारण करती है, तैसे ही यह महाबली चारों धरोंका
 भले प्रकार पालन करेगा ॥ १२ ॥ जैसे संपूर्ण माथी सफल जगत्
 के आत्मारूप वायुके वशमें है तैसे ही सब राजे इसकी आज्ञाके
 अधीन होंगे ॥ १४ ॥ सकल लोकोंमें महाबली यह जरासंध
 त्रिपुरांतकारी भक्तभयहारी रुद्ररूप महादेवका साक्षाद् दर्शन पावेगा
 ॥ १५ ॥ हे राजन् ! इस प्रकार कहते २ भगवान् चंडकौशिक
 मुनिने अपने नित्यकर्मकी चिंतासी करते हुए राजा बृहद्रथको
 बिदा कर दिया ॥ १६ ॥ मगधराजने नगरमें प्रवेश करके जाति-
 यांधवोंको साथले जरासंधका राज्याभिषेक कर दिया उस समय
 राजा बहुत ही संतुष्ट हुआ और पुत्रके हाथमें सभ राज्यभार दे
 कर दोनों रानियों सहित तपोवनमें चला गया हे राजन् ! पिता
 और दोनों माताओंके तपोवनमें चलेजाने पर जरासंधने अपने
 भुजबलसे सब राजाओंको वशमें कर लिया ॥ १७-१९ ॥ वैश-
 म्पायनजी कहते हैं, कि-राजा बृहद्रथ दोनों रानियों सहित बहुत

मगमत्तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २० ॥ जरासन्धोऽपि नृपतिर्यथोक्तं
 कौशिकेन तत् । वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ॥ २१ ॥
 निहते वासुदेवेन तदा कंसो मदीपतौ । जातो वै वरनिर्घन्धः
 कृष्णेन सह तस्य वै ॥ २२ ॥ भ्रापयित्वा शतगुणमेकोनं येन
 भारत । गदा क्षिप्त्वा बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ॥ २३ ॥ तिष्ठतो
 मथुरार्या वै कृष्णस्याद्भुतकर्मणः । एकोनयोजनशते सा पपात
 गदा शुभा ॥ २४ ॥ दृष्ट्वा पौरास्तदा सम्यक् गदा चैव निवेदिता ।
 गदावसानं तत् ख्यातं मथुरायाः समीपतः ॥ २५ ॥ तस्यास्तां
 हंसदिम्बकावशस्त्रनिधेनानुभौ । मन्त्रे भक्तिपतां श्रेष्ठौ नातिशास्त्रो
 विशारदौ ॥ २६ ॥ यो तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबली ।
 त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ २७ ॥ एवमेव
 दिनोंतक तपोवनमें तपस्या करके स्वर्गवासी होगया ॥ २० ॥ उस
 का पुत्र जरासंध भी चंडकौशिक ऋषिके कथनानुसार सकल
 वरदानोंको पाकर निष्कण्टक राज्य करनेलगा ॥ २१ ॥ इसी समय
 मगधान् वासुदेवने राजा कंसका संहार किया इसकारण कृष्णके
 साथ जरासंधकी घोर शत्रुता होगई ॥ २२ ॥ हे जनमेजय ! महाबली
 परमपराक्रमी जरासंधने गिरिव्रजमें खड़ेहोकर कृष्णकी बध करनेके
 लिये एक बड़ीभाठी गदाको निन्यानवे बार घुमाकर फेंका ॥ २३ ॥ वह
 सुन्दर गदा एककम सौ योजनपर मथुरामें, जहां कि-अद्भुतकर्मा
 श्रीकृष्णजी रहते थे आकर गिरी ॥ २४ ॥ उस गदाको देखकर नगर-
 निवासियोंने उसका समाचार श्रीकृष्णको सुनाया तबसे वह मथुरा
 के समीपका स्थान गदावसान नामसे प्रसिद्ध हुआ ॥ २५ ॥ हंस और
 दिम्ब नामवाले दो महाबली परमपराक्रमी वीर पुरुष जरासंधके
 सहायक थे, वह नीनिशास्त्रमें पारदर्शी, संपत्ति देनेमें परमप्रवीण
 बुद्धिमान् और शस्त्रसे अवध्य थे ॥ २६ ॥ इनके विषयमें मैं अभी
 तुमसे कहचुका हूं, कि-यह दोनों और तीसरा जरासंध, तीनों
 मिलकर मेरी सभक्षमें-त्रिलोकीका विजय करसकते हैं ॥ २७ ॥

तदा वीर बलिभिः कुक्कुरान्धकैः । वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतो-
रुपेक्षितः ॥ २८ ॥ ॥ ॥ ॥ ॥

इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धप्रशंसायां

एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

सभासञ्च राजसूयारम्भपर्व ॥

॥ अथ जरासन्धवधपर्व ॥

वासुदेव उवाच ॥ पतितौ हंसदिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः ।
जरासन्धस्य निघने कालोऽयं समुपागतः ॥ १ ॥ न शक्योऽसौ रणो
जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः । भीमयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे
॥ २ ॥ मयि नीतिर्विलंभीमे रक्षिता चावयोजुनः । मागधं साध-
यिष्यामि इष्टिं मय इवाभनयः ॥ ३ ॥ त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजमे
स नराधिपः । न सन्देहो यथा युद्धमेकेनाप्युपपात्यति ॥ ४ ॥
अवमानाश्च लोभाश्च पादुवीर्याश्च दर्शिताः । भीमसेनेन युद्धाय
हे महाराज ! इस प्रकार कुक्कुर अंधक और वृष्णिपोंने “दुर्बल
युद्धको बलवान्के साथ स्पर्धा नहीं करनी चाहिये” इस नीतिके
अनुसार उस समय जरासन्धसे युद्ध नहीं ठाना या ॥ २८ ॥ एको-
विंशति अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥ ॥ ॥ ॥

श्रीकृष्णने कहा, कि-हे युधिष्ठिर ! इस और दिम्भक मारे गए,
तथा साधियों सहित कंस भी मारा गया अब जरासन्धके मरणका
समय आगया है ॥ १ ॥ सब देव दानव इकट्ठे होकर भी युद्धमें जरा-
सन्धको नहीं हरासकते, इससे मेरी समझमें उसको माणयुद्धमें
जीतना चाहिये ॥ २ ॥ देखो मैं नानि जानता हूँ, भीमसेनमें बल
है और अर्जुन हमारा रक्षक है अतः जैसे तीन अग्नियें इकट्ठी
होकर यज्ञको सिद्ध करती हैं तैसे हम तीनों इकट्ठे होकर जरासन्ध
के वधको सिद्ध करेंगे ॥ ३ ॥ जब हम तीनों ने एकत्रियें उसके
ऊपर आक्रमण करेंगे तो जरासन्ध अवश्य ही हम तीनोंमेंसे एक
के साथ युद्ध करेगा ॥ ४ ॥ वह अवमान, लोभ और भुजबलसे

ध्रुवमप्युपयास्यति ॥ ५ ॥ अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः ।
 लोकस्य सद्बुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा ॥ ६ ॥ यदि मे हृदयं
 वेरिस यदि ते प्रत्ययो मयि । भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ
 मयञ्च मे ॥ ७ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एवमुक्तौ भगवता मत्पु-
 याचं युधिष्ठिरः । भीमार्जुनौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ ॥
 युधिष्ठिर उवाच ॥ अच्युताच्युत मां मैत्रं व्याहरामित्रकर्पण । पाण्ड-
 वानां भवान्नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम् ॥ ९ ॥ यथा वदसि
 गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते । न हि स्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्-
 मुखी ॥ १० ॥ निहतश्च जरासन्धो योक्षिताश्च महीक्षितः । राज-
 स्यूध मे लब्धो निदेशो तव तिष्ठतः ॥ ११ ॥ क्षिप्रमेव यथा त्वेतत्

उत्तेजित होकर निःसंदेह भीमसेनके साथ युद्ध करलेना स्वीकार
 करलेगा ॥ ५ ॥ जैसे यमराज उद्धत माणियोंका विनाश कर
 सकता है तैसे ही महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधका वध कर
 ही डालेगा ॥ ६ ॥ इस कारण यदि तुम मेरे हृदयको जानते हो और
 यदि मेरे ऊपर तुम्हारा विश्वास है तो शीघ्रही भीमसेन तथा अर्जुन
 को धरोहृद् रूपसे मुझसे देदीजिये ॥ ७ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं,
 कि—हे राजन् ! भगवान् कृष्णके वाक्य सुननेके अनन्तर—युधिष्ठिर
 मसन्न मुख बैठेहुए भीम और अर्जुनकी ओर देखकर कहनेलगे—
 धर्मराजने कहा, कि—हे शत्रुनाशन मधुसूदन ! आप ऐसा मुझसे
 क्यापि न कहें, तुम पाण्डवोंके स्वामी हो और हम आपके ही
 आश्रित हैं, ॥ ८ ॥ हे गोविन्द ! आपने जो कुछ कहा वह सब
 ही ठीक है, लक्ष्मी जिनके प्रतिकूल हो उनके पास आप कभी
 नहीं रहसकते ॥ १० ॥ जब मैं आपकी आज्ञामें चलता हूँ तब मानो
 जरासंध मारा गया, राजे छूट गए और मैंने राजसूयका फल
 पालिया ॥ ११ ॥ हे नरोत्तम ! हे जगन्नाथ ! अब जिसप्रकार

तदा वीर बलिभिः कुक्कुरान्धकैः । तृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतो-
रुपेक्षितः ॥ २८ ॥ ख - ॥ ॥ ख ॥

इति सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासन्धप्रशंसायां

एकोनविंशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

समाप्तश्च राजसूयारम्भपर्वः ॥

॥ अथ जरासन्धवधपर्वः ॥

वायुदेव उवाच ॥ पतितौ हंसद्विभक्ता कंसश्च सगणौ हतः ।
जरासन्धस्य निघने कालोऽयं समुपागतः ॥ १ ॥ न शक्योऽसौ रणे
जेतुं सैरपि सुरासुरैः । त्राणयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे
॥ २ ॥ मयि नीतिर्वलं भीमे रक्षिता चावयोजुनः । मागधं साप-
यिष्यामि दृष्टिं प्रय इवाग्नयः ॥ ३ ॥ त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्यजमे
स मराधिपः । न सन्देहो यथा युद्धमेकैनाप्युपयास्यति ॥ ४ ॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पिताः । भीमसेनेन युद्धाय

हे महाराज ! इस प्रकार कुक्कुर अंधक और तृष्णियों ने “दुर्बल
पुरुषको बलवान्‌के साथ स्पर्धा नहीं करनी चाहिये” इस नीतिके
अनुसार उस समय जरासन्धसे युद्ध नहीं ठाना था ॥ २८ ॥ एको-
विंशति अध्याय समाप्त ॥ १६ ॥ ख ॥ ख

श्रीकृष्णने कहा, कि—हे युधिष्ठिर ! इस और द्विभक्त मारे गए,
तथा साधियों सहित कंस भी मारा गया अब जरासन्धके मरणका
समय आगया है ॥ १ ॥ सब देव दानव इकट्ठे होकर भी युद्धमें जरा-
सन्धको नहीं हरासकते, इससे मेरी समझमें उसको प्राणयुद्धमें
जीतना चाहिये ॥ २ ॥ देखो मैं जानि जानता हूँ, भीमसेनमें बल
है और अर्जुन हमारा रक्षक है अतः जैसे तीन अग्नियें इकट्ठी
होकर पशुको सिद्ध करती हैं तैसे हम तीनों इकट्ठे होकर जरासन्ध
के वधको निश्चय करेंगे ॥ ३ ॥ जब हम तीनोंने एकत्रितमें उसके
ऊपर आक्रमण करेंगे तो जरासन्ध अवश्य ही हम तीनोंमेंसे एक
के साथ युद्ध करेगा ॥ ४ ॥ वह अपमान, लोभ और घृणवत्तासे

ध्रुवमप्युपयास्पति ॥ ५ ॥ अलं तस्य महाबाहुभीमसेनो महाबलः ।
 लोकस्य सद्बदीर्णस्य निघनायान्तको यथा ॥ ६ ॥ यदि मे हृदयं
 वेरिसि यदि ते मत्स्यो गधि । भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभृतौ
 मयच्छ मे ॥ ७ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एवमुक्त्वा भगवता मत्पु-
 याचं युधिष्ठिरः । भीमार्जुनौ समालोक्य संप्रहृष्टमुखौ स्थितौ ॥
 युधिष्ठिर उवाच ॥ अच्युताच्युत मे मयैव व्याहरामिप्रकर्षण । पाण्ड-
 वानां भवान्नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम् ॥ ९ ॥ यथा वदसि
 गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते । न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मु-
 खी ॥ १० ॥ विहतश्च जरासन्धो मोक्षिताश्च महीक्षितः । राज-
 स्यध्व मे लब्धो निदेशो तव तिष्ठतः ॥ ११ ॥ क्षिप्तमेव यथा स्वतः

उत्तेजित होकर निःसंदेह भीमसेनके साथ युद्ध करनेका स्वीकार
 करलेगा ॥ ५ ॥ जैसे यमराज उद्धत माणियोंका विनाश कर
 सकता है तैसे ही महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधका वध कर
 ही डालेगा ॥ ६ ॥ इस कारण यदि तुम मेरे हृदयको जानते हो और
 यदि मेरे ऊपर तुम्हारा विश्वास है तो शीघ्रही भीमसेन तथा अर्जुन
 को धरोहर रूपसे मुझ देदीजिये ॥ ७ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं,
 कि—हे राजन् ! भगवान् कृष्णके वाक्य सुननेके अमंनर्क युधिष्ठिर
 प्रसन्न मुख बैठेहुए भीम और अर्जुनकी ओर देखकर कहनेलगे
 भर्मराजने कहा, कि—हे शत्रुनाशन मधुसूदन ! आप ऐसा मुझसे
 कदापि न कहें, तुम पाण्डवोंके स्वामी हो और हम आपके ही
 आश्रित हैं, ॥ ८ ॥ हे गोविन्द ! आपने जो कुछ कहा वह सच
 ही ठीक है, लक्ष्मी जिनके प्रतिकूल हो उनके पास आप कभी
 नहीं रहसकते ॥ १० ॥ जब मैं आपकी आज्ञामें चलता हूँ तब माने
 जरासंध मारागया, राजे छूटगए और मैंने राजसूयका फल
 पालिया ॥ ११ ॥ हे नरोत्तम ! हे जगन्नाथ ! अब जिसमकार

कार्यं संप्रपद्यते । अप्रमत्तो जगन्नाथ तथा कुरु नरोत्तम ॥ १२ ॥
 विभिर्मद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे । धर्मार्थकामरहितो रोगार्त
 इव दुःखिनः ॥ १३ ॥ न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पांडवं
 विना । नाजेषोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः ॥ १४ ॥
 अयञ्च यत्निनां श्रेष्ठ । श्रीमानपि वृकोदरः । युवाभ्यां सहितो
 वीर किं न कुर्यान्महायशाः ॥ १५ ॥ सुमणीतो बलौघो हिकुरुते
 कार्यमुत्तमम् । अन्यं बलं दृढं माहुः प्रणवव्यं विचक्षणैः ॥ १६ ॥
 यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हिततो जलम् । यतश्चिद्दं
 तमथापि नयन्ते धीवरा जलम् ॥ १७ ॥ तस्मान्नयविधानं
 पुरुषं लोकरिधुतम् । वयपाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये
 ॥ १८ ॥ एवं मज्जानयनलक्रियोपायसमन्वितम् । पुरस्कृष्वीत कार्येषु
 यह सव कार्यं सिद्धं हो साधधानीके साथ वही करिये ॥ १२ ॥ मैं
 तुम तीनों जनोके बिना धर्मार्थ कामसे रहित और रोगपीडितकी
 समान दुःखित हो जीवित ही नहीं रह सकूँगा ॥ १३ ॥ अर्जुन तुम्हारे
 बिना जीवन धारण नहीं कर सकते, मेरी समझमें इस भूमण्डल
 पर ऐसा कोई है ही नहीं जिनको तुम दोनों न जीत सको ॥ १४ ॥
 और यह महावीर श्रीमान् वृकोदर भीमसेन तुम दोनोंके साथ रह
 कर कौनसा काम नहीं कर सकता है ? ॥ १५ ॥ सेना भले प्रकार
 सीखी हुई हो तो उत्तम काम करती है, अशिक्षित मूर्ख सेना
 निरुन्मी और अंध होती है इसलिये उसको शिक्षा देना बुद्धिमानों
 का कर्त्तव्य है ॥ १६ ॥ जैसे धीवर, जिसको छिद्र व नीचा होता
 है उसको ही जल निकालकर अपने अभिलषित स्थान पर
 ले जाते हैं, तैसे ही बुद्धिमान् पुरुष उसद्रव्य हीन स्थानमें ही जड़
 सेनाको ले जाते हैं, यज्ञवान्के पास कभी नहीं ले जाते १७ अतएव हम
 नीतिविज्ञानके ज्ञाता, लोकरुपसिद्ध गोविन्दका आश्रय करके कार्य-
 सिद्धि का यत्न करते हैं ॥ १८ ॥ तुम बुद्धि नीति, बल, क्रिया और
 उपायसंपन्न हो ऐसे आपको ही कार्यसिद्धिके लिये आगे करना

कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥ एवमेव यदुश्रेष्ठ यावत्कार्यार्थ-
सिद्धये । अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनञ्जयम् । मयो जयो-
यलञ्चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥ २० ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एव-
मुक्त्वास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः । वाष्पेयः पाण्डवेभ्यो च
प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥ वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातृगानां
परिच्छदम् । आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोहरैर्भिनन्दताः ॥ २२ ॥
अमर्षादिभित्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम् । रविसोमग्निवधुषां
दीप्तपासीक्षदा वधुः ॥ २३ ॥ हतं मेने जरासन्धं दृष्ट्वा भीमपुरोगर्मा ।
एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णो युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥ ईशो हि तौ
महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ । धर्मकार्यार्थकार्याणां लोकानां च
प्रवर्तकौ ॥ २५ ॥ कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुतनाङ्गशम् ।
चाहिये ॥ १६ ॥ सो हे यदुत्रंशावर्तस । सकल कार्योऽहो सिद्धि-
के लिये अर्जुन आपका अनुगामी होगा और भीम अर्जुनका
अनुगामी होगा ऐसा होनेसे निःसंदेह पराक्रम करनेपर नीति,
जय और धनकी सिद्धि होगी ॥ १० ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं,
कि—जब युधिष्ठिरने ऐसा कहा तब वह परमतेजस्वी सब भाई
श्रीकृष्ण अर्जुन और भीमसेन तपस्वियोंका वेष धारण करके
मगध देशको चत्र दिये इस बातसे उनकी सब विभ्रान्ते मनोहर
वाक्योंमें प्रशंसा की ॥ २१ ॥ २२ ॥ क्रोधसे उपेक्षुण्ण ज्ञाति बांधवों
का हित करनेके लिये परम उत्कण्ठित तथा चन्द्रमा सूर्य और
अग्निका समान तेजस्वी उन तीनोंका शरीर उस समय अधिक
दमक उठा ॥ २३ ॥ आगे २ भीमसेन उनके पीछे संग्राममें परा-
जय न पानेवाले धर्म-अर्थ कामके प्रवर्तक महात्मा श्रीकृष्ण और
उनके पीछे अर्जुनको जाने हुए देखकर सबने मनमें विचारा
कि-जय-यह एक कामके साधनेको उद्यम हुए हैं जो जरासन्ध
अवरण ही मारा जावेगा क्योंकि कृष्ण अर्जुन यह दोनों तो जगत्
के सब ही कार्योंकी प्रवर्तिके ईश हैं ॥ २४ ॥ २५ ॥ यह कृष्ण
भीम और अर्जुन कुरुदेशमें निकलकर कुरुनागल देशमें होते हुए

रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥ गण्डकी च महा-
शोणं सदाभीरान्तर्धैव च । एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैतयाग्रजन्त ते
॥ २७ ॥ उत्तीर्य सरयुं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोशलान् । अतीत्य
जम्बुभिथिलां मालाञ्चर्मणवतीं नदीम् ॥ २८ ॥ अतीत्य गङ्गां शोणञ्च
मयसो माण्डूखास्तदा । कुशचीरञ्च द्वा जम्बुर्भागं क्षेपमच्युताः
॥ २९ ॥ ते शश्वद्गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुषट्पमम् । मोरधं गिरि-
गासाद्य ददृशुर्भागं पुरम् ॥ ३० ॥

इति समापर्वणि नरासन्धयधपर्वणि कृष्णपाण्डवभागध-
यात्रायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

श्रीवासुदेव उवाच । एष पार्थ महान् माति पशुमान्नित्यमम्बु-
मान् । निरामयः सुवेश्मढपो निवेशो भागधा शुभः ॥ १ ॥ वैहारी
विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा । तथा अपिगिरिस्तात शुभा-

रमणीय पद्मसर पर पहुँचे फिर कालकूटको लाँचकर गण्डकी महा-
शोण सदाभीरा और एक पर्वतपरकी सब नदियोंको क्रम २ से
उतरकर चले ॥ २६ ॥ २७ ॥ तदनन्तर रमणीय सरयूके पार हो
पूर्वकोशल नगरीको देखा तहाँसे मिथिलामें और मिथिलासे
मालामें जाकर चर्मणवती नदीके पार हुए ॥ २८ ॥ तदनन्तर गंगा
और शोणनदके पार होकर बल्कलवस्त्रधारी तीनोंजने पूर्वकी ओर
को मुल किये हुए भगपदेशमें जातेलगे ॥ २९ ॥ वह कुछ ही
समयमें गोधनसे भरे ताल सरोवर आदिसे युक्त नानामकारके

नगरीमें पहुँचे

शैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥ पने पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
 रत्नतीचाभिसंहस्य संहवाद्वा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥ पुष्पवेष्टितशाखा-
 ग्रैर्गन्धवज्जिर्मनोरमैः । निगूढा इव लोधाणां वनैः कामिजेनमियैः
 ॥ ४ ॥ शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः । अशौनय्यामज-
 नयत् कात्तीचायान् सुतान्मुनिः ॥ ५ ॥ गौतमस्य क्षपात्तस्मा-
 यथासौ तत्र सद्यनि । भजते भागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहः
 ॥ ६ ॥ अद्भुद्वाद्यथैव राजानः सुमहायलाः । गौतमक्षय-
 मभ्येत्य रमन्ते स्म पुरार्जुन ॥ ७ ॥ वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्प-
 लानां मनोरमाः । लोधाणाञ्च शुभाः पार्य गौतमोकः समीपजाः
 ॥ ८ ॥ अद्भुदः शक्रवापी च वन्नगौ शत्रुतापनी । स्वस्तिक
 स्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः ॥ ९ ॥ अपरिहार्या मेधानां

पांच पर्वत हैं ॥ २ ॥ यह शीतल वृक्षोंसे शोभित ऊँचे २
 शिलरोंवाले सकल पर्वत परस्पर मिलेहुए मानो गिरिव्रजकी रक्षा
 कर रहे हैं ॥ ३ ॥ सुंदर फूडोंवाली शाखाओंसे शोभित कामी
 पुरुषोंकी प्यारी मनोहर लोचने वृक्षोंकी पंक्ति मानो उनकी रक्षा
 कर रही हैं ॥ ४ ॥ यहाँ पर प्रशंसनीय व्रत धारण करनेवाले
 महात्मा गौतम ऋषिने क्षत्रियोंके ऊपर अनुग्रह करते हुए एक
 शूद्रा स्त्री और राजा उशीनरकी पुत्रीमें कात्तीच आदि पुष्पोंको
 उत्पन्न किया था ॥ ५ ॥ गौतम ऋषिके तिस आधमके समीप जो
 यह महल बनाकर रहता है सो यह मनुवंशी राजाओंके ऊपर
 उनकी अनुग्रह है ॥ ६ ॥ हे अर्जुन ! पहिले अंग वंग आदिके महा-
 यली पराक्रमी राजे भी गौतमके आश्रममें आकर परम उत्सव
 किया करते थे ॥ ७ ॥ हे अर्जुन देखो ! गौतमके आश्रमके समीप
 परम रमणीय पीपल और लोचने वृक्षोंकी पंक्तियें लग रही हैं
 ॥ ८ ॥ यह देखो अद्भुत पर्वत है, शक्रवापी और मकांड दो सर्प
 रहते हैं जोकि-शत्रुओंको बध देते हैं यहाँ स्वासित और मणिनाग
 या उत्तम स्थान है ॥ ९ ॥ मनुजी मगधराज्यको ऐसा करगये

मागया मनुना कृताः । कौशिको मणिर्माश्र्वै चक्राते चाप्यनुग्रहम् ॥ १० ॥ एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः । अर्थसिद्धि-
न्त्वनुपमां जरामन्त्रोऽभिमन्यते । वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेमहि ॥ ११ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो त्रिपुलौ-
जस । बाणैः पाण्डवो चैव प्रतस्थुर्भागधं पुरम् ॥ १२ ॥ हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम् । स्फीतोत्सवमना धृष्यमासे-
दुश्च गिरिव्रजम् ॥ १३ ॥ ततो द्वारमनासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छिद्रतम् । चार्हद्रथैः पूजमानं तथा नगरवासिभि । मागधानान्तु रुचिरं चैत्यं-
कान्तरमाद्रवन् ॥ १४ ॥ यत्र मांसादवृषभमाससाद् बृहद्रथः । तं
हत्वा मासतालाभिस्तिस्रो भेरीरकारयत् ॥ १५ ॥ स्वपुरे
स्थापयामास तेन चानह्य चर्मणा । यत्र ताः प्राणदन् भेदयो दिव्य-

हैं, कि-मेघ यहाँ सदा वर्षा करते हैं और चण्डकौशिक अपि तथा मणिमान जरासंधके ऊपर अनुग्रह कर गये हैं ॥ १० ॥ दुरात्मा जरासंध ऐसे चारों ओरमें सुरक्षित रमणीय नगरका राजा से कर अभिमान रखता है, कि-मैं जो काम करूँगा वही सिद्ध होगा। सो आज हम इसके घरपर ही इसके अभिमानको तोड़ देंगे ॥ ११ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-तदनन्तर इसप्रकार कहकर वह सब तेजस्वी भ्राता, श्राकृष्ण भीमसेन अर्जुन मगध नगरमें गये १२ जहाँके रहनेवाले हृष्ट पुष्ट थे चारों वर्णकी प्रजा थी और जिसमें अनेकों प्रकारके उत्सव थे ऐसे सुरक्षित गिरिव्रजमें जा पहुँचे ॥ १३ ॥ तदनन्तर द्वारपर पहुँचकर बृहद्रथशंके सकल पुरुष तथा अन्य सब नगरनिवासियोंके पूजने योग्य मगध राज्यका शोभादेनेवाले नगरके सभी चैत्यपर्यन्त पर शीघ्रतासे पहुँचे १४ जहाँ महाराज बृहद्रथने मांसभक्षी बैलका रूप धारण करनेवाले दैत्यका वध करके उसके चमड़ेसे तीन नगाड़े बनवाये थे इन नगाढ़ों पर एकबार चोट देनेसे एक महीनेतक गंभीर ध्वनि होती रहती थी महाराज बृहद्रथने इन तीनों नगाढ़ोंको अपने नगरमें रसदिया

पुष्पायचूणिताः॥१६॥ भङ्गत्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यमाकारमाद्रवन्
 द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानायुधास्तदा ॥ १७ ॥ मागधानां
 सुवचिरे चैत्यकान्तं समाद्रवन् । शिरसीव समाघनन्तो जरासन्धं
 जिघांसवः ॥ १८ ॥ स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत्तत् पुरातनम् ।
 अर्चितं गन्धमान्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥ १९ ॥ विपुलैर्बाहुभि-
 र्वीरास्तेऽभिहस्त्याभ्यपानयन् । ततस्ते मागधं दृष्ट्वाः पुरं मविविशु-
 स्तदा ॥ २० ॥ एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः । दृष्ट्वा
 तु दुर्निमित्तानि जरासन्धमदर्शयन् ॥ २१ ॥ पट्यग्न्यकुर्वेऽथ नृपं
 द्विरवशं पुरोहिताः । ततस्तज्जान्तये राजा जरासन्धः मत्तापवान्
 ॥ २२ ॥ दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत् । स्नातक्यतिन-
 स्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ॥ २३ ॥ युयुत्सवः मविविशुर्जरा-
 सन्धेन भारत । भक्ष्यमान्वापणानाञ्च ददशुः धियमुत्तमाम् ॥ २४ ॥

या, वह नगादे दिव्य पुष्पोकी वर्षाके साथ वजाये जाते थे
 ॥ १५ ॥ १६ ॥ श्रीकृष्ण अर्जुन और भीमसेनने उन तीनों नगाहों
 को तोड़ डाला और नानापकारके अस्त्र धारण कर द्वारदेशसे ही
 मानों जरासंधके मस्तक पर महार करते हुए शीघ्रताके साथ चैत्य
 के परकोटेके समीप जाकर अतिदृढ़ भुजाओंसे उस निरंतर गंध-
 मालाओंसे पूजित परम प्रतिष्ठित पुराने चैत्य पर्वतके शिखरोंको
 तोड़कर गिरा दिया और मसन्नचित्तसे मगधपुरीमें घुस गए ॥ १७-२०
 उसी समय वेदके पारगामी ब्राह्मणोंने कुशकून देखकर जरासं-
 ध को सूचित किया ॥ २१ ॥ पुरोहितोंने उससे हाथी पर चढ़ाकर
 अग्निकी प्रदक्षिणा करवाई, मत्तापी राजा जरासंधने इन कुलपणों
 की शान्तिके लिये दीक्षित और नियममें स्थित होकर उपवास
 किया, इधर तपस्वीका वेप धारण किये कृष्ण, भीम और अर्जुन
 सब ब्रह्म शस्त्रोंको त्यागकर जरासंधके साथ बाहुयुद्ध करनेकी
 इच्छासे नगरमें घुसे, वह राजमार्गमें चलते २ नानापकारके खाने
 के पदार्थ, मालाएं और दुकानों तथा अनेकों शोभायमान पदार्थों

स्फोटां सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् । तान्तु हृष्टा समृद्धिं ते
 वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ॥ २५ ॥ राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीम-
 धनञ्जय ॥ । वत्साद् दृष्टीत्वा भान्यानि भालाकारान्महाप्रताः ॥ २६ ॥
 विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः । निवेशनमथाजम्भ-
 र्जरास्तस्य भीमतः ॥ २७ ॥ गोनासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवता
 यथा । शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्द्रनागरूपिताः ॥ २८ ॥ अशो-
 भन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् । तान्दृष्ट्वा द्विरदमरुपान्
 शालस्तम्भनिरोद्गमान् ॥ २९ ॥ व्यडोरस्काग्मागधाना विस्मय
 समपद्यत । ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षपास्तिस्रो नरर्षभाः ॥ ३० ॥
 अद्भुतरेण राजानमुपतस्थुर्गन्धर्वाः । तान् पात्रमधुपर्कहान् गवा-
 हान् सस्कृतिं गतान् ॥ ३१ ॥ प्रत्युत्थाप जरासन्ध उपतस्थे यथा-
 विधि । उवाच चैवान् राजाऽसौ स्वागतं वोऽस्तिवति मम ॥ ३२ ॥
 मौनमासीत्तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय । तेषां मध्ये महायुधिः कृष्णो
 वचनमब्रवीत् ॥ ३३ ॥ वक्तुं नायाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः ॥

को देखनेलगे ॥ २२-२४ ॥ वम महाबलियोने मालिभोसे चल-
 पूर्वक मालापे जीनलीं, उन दिव्य माला और दिव्य कुण्डलोंसे
 धारणकिये कृष्ण भीम और अर्जुन जैसे हिमालयके सिंह गोशाला
 को देखतेर जाते हैं तैसे ही जरासन्धके मइलकी ओरको देखतेहुए
 चलनेलगे उस समय चदन अगरसे चर्चित उन तीनों वीरोंके भुग-
 दएड शालके खंभोंकी समान शोभा पाते थे ॥ २५-२६ ॥ मगधनगरीके
 निवासी खड़ेहुए शालके खंभेकी समान और मदमच हाथीकी समान
 उन तीनों को देखकर आश्चर्यमें होमये वह क्रय से अनेकों पुरुषोंसे
 भरीं तीन द्यौदियोंसे लांघ कर अरुना अहंकार दिसातेहुए जरा-
 संधके पास पहुँचगए महाराज जरासन्ध उनको देखतेही खड़ा
 होगया और पात्र मधुपर्क आदिके द्वारा पूजन करके स्वागत वृक्षने
 लगा ॥ ३०-३१ ॥ हे जनमेजय ! भीम और अर्जुन उस समय मौन
 रहे युद्धिमान् श्रीकृष्णने कहा कि ॥ ३३ ॥ हे राजेन्द्र इन्होंने मौनत्र

अर्थाद्विनिशीघात् परतस्त्वया साद्धं वदिष्यतः ॥३४॥ यज्ञागारे
स्थापयित्वा राजा राजपुत्रं गतः । ततोऽर्द्धरात्रे सम्प्राप्ते यातो यत्र
स्थिता द्विजाः ॥३५॥ तस्य ह्येतद्व्रतं राजन् वभूव भुवि विश्रु-
तम् । स्नातकान् ब्राह्मणान् प्राप्तान् श्रुत्वा स समितिक्षयः ॥३६॥
अप्यर्द्धरात्रे नृपातः प्रत्युदगच्छति भारत । तांस्त्वपूर्वेण वेशेन दृष्ट्वा-
स नृपसत्तमः ॥ ३७ ॥ उपतस्थे जरासन्धो विस्मितश्चाभवत्तदा ।
ते ऽु दृष्ट्वैव राजानं जरासन्धं नरर्षभाः ॥३८॥ इदमूर्धुरभिप्रध्नाः
सर्वे भरतसत्तम । स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः
॥३९॥ तं नृपं नृपतिशार्दूलं भेत्तमाणा परस्परम् । तानब्रवीजरास-
न्धस्तथा पाण्डव्यादिवाम् ॥४०॥ आस्पतामिति राजेन्द्र ब्राह्म-
णचक्षुससंयुतान् । अथोपविशिशुः सर्वे त्रयस्तो पुरुपर्षभाः ॥ ४१॥
सम्पदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाग्नयः । तान्नुवाच जरासन्धः

धारण किया है यह इस समय नहीं बोलेंगे आधी रात बीतजाने पर
यह तुम्हारे साथ बातचीत करेंगे, राजा जरासंध श्रीकृष्णकी इस
बात को सुन उनको यज्ञशालामें ठहराकर अपने मन्दिरमें चला गया
और आधीरात बीतने पर जहां यह द्विज ठहरे थे तहां फिर
आया ॥३५॥ हे राजन् ! मगधराज जरासंधका यह जगत्में प्रसिद्ध
नियम था कि—यदि कोई स्नातक आधीरातके समय आजाय
तब भी वह उसी समय जाकर उसका स्वागत करता था,
उन तीनोंके पास जाकर चसने पूजन किया और उनके अपूर्व
वेपकौ देखकर आश्चर्यमें होगया, उन्होंने राजाको देखते ही
“स्वस्ति अस्तु” कहकर आशीर्वाद देतेहुए कुशल चुभा ॥३६॥
राजा जरासंधने उन ब्राह्मणवेपधारी तीनों वीरोंसे बैठनेको कहा
वह भी जरासंधके कथनानुसार यज्ञशालामें बैठकर यज्ञमें स्थित
तीन अग्नियोंका समान शोभा पाने लगे हे जनमेजय ! उस समय
महाराज सत्यभित्ति जरासंध उनके वेशको देख अचंभेमें हुआ

सत्यसन्धो नराधिपः ॥ ४२ ॥ विगर्हमाणः कौरव्य वेशग्रहण-
 वैकृतान् । न स्नातक्यना विभा वहिर्मान्यानुलेपनाः ॥ ४३ ॥ भव-
 न्तीति नृलोकेऽस्मिन् विदितं मम सर्वशः । केयूरं पुष्पवन्तश्च भुजै-
 र्ज्याकृतलक्षणैः ॥ ४४ ॥ विभ्रतः क्षात्रमोक्षश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानध ।
 एवं विरागवसना वहिर्मान्यानुलेपनाः ॥ ४५ ॥ सत्यं यदत केयूरं
 सत्यं राजसु शोभते । चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह क्षमना
 ॥ ४६ ॥ अद्वारेण मविष्टाः स्य निर्भया राजनिन्वितात् । यदध्वं
 नाचि वीर्यञ्च ब्राह्मणस्य विशोभतः ॥ ४७ ॥ परमं चैतद्विलिंगस्यं
 किं वोऽद्य मसमीक्षितम् । एवञ्च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनाहं-
 णाम् ॥ ४८ ॥ मणीतान्नानुगृहणीत कायं किंवास्मदागमे । एव
 कश्मे लगा कि—॥ ४०-४२॥ हे ब्राह्मणों ! मैं जानता हूँ कि-
 स्नातक ग्रहाचारी सभामें जानेके समयके सियाव और किसी
 समय माला या चंदन धारण नहीं करते हैं, कहिये आप कौन हैं ?
 आपके वस्त्र लाल हैं, ? अंग पर पुष्पमाला और अनु-
 लेपन शोभा दे रहा है तथा आपकी भुजाओंमें मत्स्यंशके चिह्न
 मालूम होते हैं ॥ ४३-४४ ॥ परन्तु आप अपनेको ब्राह्मण यताते
 हैं और आपके आकारको देखने पर स्पष्ट क्षत्रियका तेम भूलाक
 रहा है, अतः सत्य कही ऐसे गेववा वस्त्र पहिरे माला और चंदन
 को धारण किये तुम कौन हो ? राजाके सामने सत्यरोलना ही
 अच्छा होता है, आप किस कारण द्वारसे होकर नहीं आये और
 निर्भय चैत्यक पर्वतके शिखरोंको तोड़कर घुसआये ॥ ४५-४६॥
 ब्राह्मण वाक्यसे वीरता दिखाते हैं किंतु आप कार्यसे वीरता दिखा
 तीक द्वारसे नहीं आये, यह तुमने राजाका अपराध किया है ४७
 यह तुम्हारा काम इस वेपके प्रतिकूल है, इस समय तुम्हारी अभि-
 लाषा क्या है, आप मेरे यहाँ आये हैं और मैंने भी तुम्हारी विधि
 पूर्वक पूजाकी परन्तु आपने मेरी पूजाको ग्रहण क्यों नहीं किया ?
 अथवा जो कुछ भी हो अब यह कहिये कि—आप यहाँ क्यों आये

मुक्ते सतः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः । स्निग्धगम्भीरया वाचा
 वाच्यं वाक्यविशारदः ॥ ४६ ॥ श्रीकृष्ण उवाच ॥ स्नातकान्
 ब्राह्मणान् राजन् विद्वयस्मांस्त्वं नराधिप । स्नातकव्रतिनो राजन्
 ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ ४७ ॥ विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च
 सन्त्युत । विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति ॥ ४८ ॥ पुष्प-
 वत्सु ध्रुवा भीक्षु पुष्पवन्तस्ततो वयम् । क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न
 तथा वाक्यवीर्यान् ॥ ४९ ॥ अमगल्भं वचस्तस्य तस्माद्बार्हद्व्ये-
 रितम् । स्ववीर्यं क्षत्रियाणान्तु बाहोर्भृता न्यवेशयत् ॥ ५० ॥
 तदिहक्षसि चेद्राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः । अद्वारेण रिपोर्गेहं
 द्वारेण गृहद्वो गृहान् ॥ ५१ ॥ प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि

हे, राजा जरासंधके ऐसा कहने पर महामना परमप्रवीण श्रीकृष्ण
 जी स्निग्धगम्भीर वाणीमें कहनेलगे ४८-४९ श्रीकृष्णजीने कहा
 कि—हे राजन् ! तुम हमको स्नातक ब्राह्मण समझते हो, परन्तु
 हे नरेन्द्र ! ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य यह तीनों ही स्नातकव्रतको
 धारण करते हैं ॥ ४७ ॥ इनमें साधारण और विशेष दोनों प्रकार
 के नियम हैं, क्षत्रिय विशेष नियमवाला होकर भी संपत्तिमान्
 होता है ॥ ४८ ॥ पुष्प धारण करनेवाले निश्चय हा श्रीमान् होते
 हैं, इसकारण हमने पुष्पमाला धारण करी हैं, क्षत्रिय भुजगलसे ही
 पलवान् होते हैं, वाणीकी वीरता नहीं दिखाते हैं ॥ ४९ ॥ इस
 कारण हे राजन् ! क्षत्रियो अमगल्भ वचन कहनेवाला निश्चय
 किया है, विधाताने क्षत्रियोंकी भुजाओं में ही अपना बल दिया
 है ॥ ५० ॥ हे राजन् ! यदि तुम हमारा बाहुबल देखना चाहो
 तो निःसंदेह अब ही देखसकोगे, हे बृहद्रथनन्दन ! धीर पुरुष शत्रु
 के घरमें छुपकर और मित्रके घरमें भ्रूणशरूपसे प्रवेश करते हैं,
 हे राजन् ! हम अपना काम साधनेके लिये शत्रुके घर आकर

धर्मतः । कार्यवन्तो गृहानेत्य श्रुतो नार्हन् वधम् । प्रतिगृह्णीम
तद्विद्धि एतन्नः शश्वतं व्रतम् ॥ ५५ ॥ छ ॥

इति सभापर्याणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णजरासन्ध-
संवाद एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

जरासन्ध सदाच । न स्मरामि कदा चैरं कृतं युष्मापिरित्युत ।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति यैकतम् ॥ १ ॥ वैकृते वासति
कथं मन्यध्वं मामनागसम् । अरिं वै द्रूत हे विषाः सतां समय एष
हि ॥ २ ॥ अर्थपमोपचाताहि मनः समुपपतप्यते । योऽनामसि
प्रसज्यति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥ अतोऽन्यथा चरन्लोकै
धर्मज्ञः सन्महारथः । वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च । ४ ।
त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान्वै साधुचारिणाम् । नाम्नं धर्मं प्रशं-
सन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥ तस्य मेऽद्य स्थितस्येह

शुश्रुकी दी हुई पूजाको ग्रहण नहीं करते हैं, यह हमारा नित्यका
नियम है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ इति एकविंश अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥

जरासन्धने कहा, कि—मैंने किस समय तुम्हारे साथ शत्रुता
वा तुम्हारा अपकार किया है, यह मुझ ध्यान देनेपर भी याद नहीं
आता ॥ १ ॥ फिर तुम किस कारणसे मुझ निरपराधको अपना
शत्रु समझते हो, हे विषो ! क्या सत्पुरुषोंका यही नियम है ?
॥ २ ॥ धर्म वा कार्यसिद्धि में बाधा पड़नेसे ही मनमें पीड़ा होती
है, परन्तु जो पुरुष, क्षत्रियकुल में जन्म लेकर और धर्मका ज्ञाता
होकर बिना अपराध ही किसीके धर्मार्थमें बाधा डालता है उसका
इस लोकमें निःसंदेह अमंगल और परलोकमें नरकगति होती है
॥ ३ ॥ ४ ॥ और देखो त्रिलोकी में सन्मार्ग से चलनेवालोंके किये
क्षत्रियधर्म ही श्रेष्ठ हैं, धर्मज्ञ पुरुष केवल क्षत्रियधर्मकी प्रशंसा करते
हैं ॥ ५ ॥ मैं अपने धर्ममें तत्पर रहता हूँ मजायाँना कुछ अपकार
नहीं करता, फिर तुमने इस समय मुझ शत्रु कौन मान लिया है

स्वधर्मे नियतात्मनः । अनागसं मजानांश्च ममादादिव जल्पथ ॥६॥
 श्रीकृष्ण उवाच । कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्बहः ।
 बहते यस्तन्मियोगादयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥ त्वया चोपहृता
 राजन् क्षत्रिया लोकावासिनः । तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किम
 नागसम् ॥ ८ ॥ राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम ।
 तद्राज्ञः सन्निगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥ अस्मांस्तदेनो
 गच्छेद्वि कृतं वार्द्धय त्वया । वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणो धर्म-
 चारिणः ॥ १० ॥ मनुष्याणां समालुम्भो न च दृष्टः कदायन ।
 स कथं मानुषैर्देवे यष्टुमिच्छसि शङ्करम् ॥ ११ ॥ सर्वर्णां हि सब
 र्णानां पशुसंज्ञा करिष्यसि । कोऽन्य एवं यथाहि त्वं जरासन्ध
 वृथामतिः ॥ १२ ॥ यस्यां यस्यां वस्थायां यद्यत् कर्म करोति यः । तस्यां

मालूम होता है कि—तुम्हें उन्माद हो गया है, जो ऐसा क्रूर हो
 ॥ ६ ॥ श्रीकृष्णजी कहते हैं, कि—हे महाबाहो ! जो कुलदीपक
 अकेला ही कुलके कार्योंका भार धारण किये हुए है उसका ही
 आह्वासे हम तुम्हारे यहाँ उद्यत होकर आये हैं ॥ ७ ॥ हे राजन् !
 तूने क्षत्रियोंको पूजामें बलि देनेका विचार किया है, ऐसा
 क्रूरकर्मरूप घोर अपराध करके भी क्या तू अपनेको निरपराध मान
 ता है ॥ ८ ॥ हे राजसत्तम ! अनेकों निरपराध राजाओंका यथ
 करना क्या राजा का काम है ? तब तूने किस कानून से राजाओं
 को लाकर महादेवजीके सामने बलिदान करनेका विचार किया
 है ? ॥ ९ ॥ हे दृष्टयकुमार ! हमको भी तेरे किये हुए अपराध
 का अर्थग्राही होना पड़ेगा, क्योंकि हम धर्माचरण करनेवाले और
 धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं ॥ १० ॥ हमने कभी मनुष्योंका
 बलिदान होता नहीं देखा है फिर तू किस आधार पर नरबलि
 देकर भगवान् रुद्रदेवकी पूजा करना चाहता है ? ॥ ११ ॥ हे
 वृथामति जरासन्ध ! तेरे सिवाय और कौन पुरुष अपने समान
 वर्णके मनुष्योंको पशु बनाना चाहेगा ॥ १२ ॥ देख जो पुण्य जिस

धर्मतः । कार्यवन्तो मृदानेत्य शुभ्रतो नार्हन्ता वयम् । प्रतिशृङ्खलीम
तद्विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५५ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि कृष्णजरासन्ध-

संवाद एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

जरासन्ध सवाच । न स्परामि कदा वैरं कृतं युष्मागिरित्युत ।
चिन्तयंश्च न पर्यामि भवतां प्रति वैकुण्ठम् ॥ १ ॥ वैकुण्ठे वासति
कथं मन्यध्वं मामनागसम् । अरिं वै ब्रूत हे विषाः सतां समय एष
हि ॥ २ ॥ अर्थधर्मोपपातादि मनः समुपपत्तप्यते । योऽज्ञानसि
मसज्यति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥ अतोऽन्यथा चरन्ल्लोके
धर्मज्ञः सन्महाराथः । वृजिनां गतिपामोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च । ४ ।
व्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान्यै साधुचारिणाम् । नान्यं धर्मं भ्रंशं-
सन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥ तस्य मेऽप्य हि पतस्पेह

शुभ्रकी दी हुई पूजाको ग्रहण नहीं करते हैं, यह हमारा नित्यका
नियम है ॥ ५४ ॥ ५५ ॥ इति एकविंश अध्याय समाप्त ॥ २१ ॥

जरासन्धने कहा, कि—मैंने किस समय तुम्हारे साथ शत्रुता
या तुम्हारा अपकार किया है, यह मुझे ध्यान देनेपर भी याद नहीं
आता ॥ १ ॥ फिर तुम किस कारणसे मुझ निरपराधको अपना
शत्रु समझते हो, हे विप्रों ! क्या सत्पुरुषोंका यही नियम है ?
॥ २ ॥ धर्म या कार्यसिद्धि में बाधा पहुँचानेसे ही धर्ममें पीड़ा होती
है, परन्तु जो पुरुष क्षत्रियकुल में जन्म लेकर और धर्मका हाता
होकर बिना अपराध ही किसीके धर्मार्थमें बाधा डालता है उसका
इस लोकमें निःसन्देह अमंगल और परलोकमें नरकपति होती है
॥ ३ ॥ ४ ॥ और देखो मिलोकी में सन्मार्ग से चलनेवालोंके लिये
क्षत्रियधर्म ही श्रेष्ठ है, धर्मज्ञ पुरुष केवल क्षत्रियधर्मकी भ्रंशता करते
हैं ॥ ५ ॥ मैं अपने धर्ममें तत्पर रहता हूँ प्रजाओंका कुछ अपकार
नहीं करता, फिर तुमने इस समय मुझे शत्रु कैसे मान लिया है

स्वधर्मे नियतात्मनः । अनागसं प्रजानाञ्च प्रमादादिव जल्पथ ॥ ६ ॥
 श्रीकृष्ण उवाच । कुलकार्म्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्भवः ।
 वहते यस्तन्मियोगाद्वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥ त्वया चोपहृता
 राजन् क्षत्रिया लोकावासिनः । तदागः क्रूरमृत्पात्रं मन्यसे किं
 नागसम् ॥ ८ ॥ राजा राज्ञः कथं साधून् द्विस्थान् नृपतिसत्तम ।
 तद्राज्ञः सन्निगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥ अस्मांस्तदेनो
 गच्छेद्वि कृतं बार्हदय त्वया । वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्म-
 चारिणः ॥ १० ॥ मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदायत् ।
 स कथं मानुषैर्देवे यष्टुमिच्छसि शङ्करम् ॥ ११ ॥ सवर्णो हि सव-
 र्णानां पशुसंज्ञा करिष्यसि । कोऽभ्य एवं यथाहि त्वं जरासन्ध
 वृथापतिः ॥ १२ ॥ यस्यां यस्यां वस्थायां यद्यत् कर्म करोति यः । तस्यां

मालूम होता है कि—तुम्हें उन्माद हो गया है, जो ऐसा कह रहे हो
 ॥ ६ ॥ श्रीकृष्णजी कहते हैं, कि—हे महाबाहो ! जो कुलदीपक
 अकेला ही कुलके कार्योंका भार धारण किये हुए है उसका ही
 आशासे हम तुम्हारे यहां उद्यत होकर आये हैं ॥ ७ ॥ हे राजन् !
 तूने क्षत्रियोंको पूगमें बलि देनेका विचार किया है, ऐसा
 क्रूरकर्मरूप घोर अपराध करके भी क्या तू अपनेको निरपराध मान
 तो है ॥ ८ ॥ हे राजमत्तम ! अनेकों निरपराध राजाओंका वध
 करना क्या राजा का काम है ? तब तूने किस कानण से राजाओं
 को लाकर महादेवजीके सामने बलिदान करनेका विचार किया
 है ? ॥ ९ ॥ हे वृहद्रथकुमार ! हमको भी तेरे किये हुए अपराध
 का अर्थग्राही होना पड़ेगा, क्योंकि हम धर्माचरण करनेवाले और
 धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं ॥ १० ॥ हमने कभी मनुष्योंका
 बलिदान होता नहीं देखा है फिर तू किस आधार पर नरबलि
 देकर भगवान् रुद्रदेवकी पूजा करना चाहता है ? ॥ ११ ॥ हे
 वृथापति जरासन्ध ! तेरे सिवाय और कौन पुरुष अपने समान
 वर्णके मनुष्योंको पशु बनाना चाहेगा ॥ १२ ॥ देख जो पुरुष जिस

तस्यामवस्थायां तत् फलं समवाप्नुयात् ॥ १३ ॥ ते त्वां ज्ञाति-
यकरं वयमार्चानुसारिणः । ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहा-
गताः ॥ १४ ॥ नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्टिविति चैव यत् ।
मन्यसे स च ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥ को हि
जानन्नभिजनमात्मवान् क्षत्रियो नृप । नाविशेत् स्वर्गमनुलं रणा
नन्तरमव्ययम् ॥ १६ ॥ स्वर्गं ह्यवसमास्थाय रणयक्षेण दाक्षिताः
जयन्ति क्षत्रिया लोकास्तद्विद्धि मनुजर्षभ ॥ १७ ॥ स्वर्गयोनर्महद्
ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद्विशः । स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभि-
चारवान् ॥ १८ ॥ एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः ।
येनासुरान् पराजित्य जगत्पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥ स्वर्गमार्गाय
कस्य स्याद्विग्रहो वै यथा तव । मार्गधैर्मिपुलैः सैन्यैर्वाहुन्यवलाद-

अवस्था में जो जो कर्म करता है वह उस उस अवस्थामें ही पहुँचकर
उसके फलको भोगता है ॥ १३ ॥ हम दुःखितोंकी सहायता करते हैं
और तु जातिका नाश करना चाहता है इसकारण अब हम जाति
की वृद्धिके लिये तेरा माणान्त करनेको यहां आये हैं ॥ १४ ॥
हे राजन् ! तूने मन ही मनमें मिश्रण करलिया है, कि—भूपंडल
भरके क्षत्रियोंमें मेरी समान बलधारी दूसरा कोई है ही नहीं,
यह केवल तेरी बुद्धिका भ्रम है ॥ १५ ॥ कौनसा अपनी जाति
का पक्षपाती क्षत्रियकुलमें उत्पन्न हुआ राजा अपने संबंधियोंकी
रक्षाके लिये युद्धमें प्राण देकर अतुल स्वर्गसुखको भोगना नहीं
चाहेगा ? ॥ १६ ॥ हे राजन् ! देख क्षत्रिय स्वर्गमें रहकर भी रण
युद्धकी दीक्षा धारण करके लोकाँका जीतते हैं ॥ १७ ॥ वेदका
पढ़ना स्वर्गके लिये है वहा भारी यश स्वर्गके लिये है तपस्या
करना स्वर्गके लिये है और युद्धमें प्राण देना भी स्वर्गके लिये
ही है ॥ १८ ॥ परंतु नियमके साथ वेदाध्ययन आदि विना क्रिये
स्वर्ग नहीं मिलना किंतु युद्धमें प्राण देने से स्वर्गलाभ अवश्यही
होगा, देखो स्वर्गपति इन्द्र अपने गुणवान् पुत्र वैजयन्तके
प्रभावसे असुरोंको जीतकर जगत्की रक्षा करता है ॥ १९ ॥ जो

पितेः ॥ २० ॥ मातृमस्थाः परानाजन्नस्ति वीर्य्यं नरे नर । समन्तो-
जस्त्रया चैव त्रिशिष्टं वानरेस्वर ॥ २१ ॥ यावदेतदसम्बुद्ध तावदेव
भवेत्तत् । विपद्भयेतदस्माकमतो राजन् ज्ञयीमि ते ॥ २२ ॥ जहि
त्व सदृशेष्वेव मानं दर्पश्च मागध । मागध समुतामात्यः सफलश्च
यमक्षयम् ॥ २३ ॥ दम्भोद्भवः कार्त्तवीर्य्यं उचरश्च बृहद्रथ ।
ध्रुपेसो ह्यनम्येह निनेशुः सज्जता नृपा ॥ २४ ॥ युयुत्समाणा-
स्त्वसो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम् । शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ
पाण्डवाविमौ ॥ २५ ॥ त्वांमाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व
मागध । दृष्ट्वा वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ॥ २६ ॥

कुछ भी हो, इस समय हमारे साथ शत्रुता करना तुम्हारे लिये
जैसा स्वर्गको जानेका कारण हुआ है ऐसा और किसीको नहीं
होसकता हे राजन् ! बहुत सी मागधसेनाके बलका घमडी होकर
औरोंका अपमान मतकर, हरएक पुरुषमें पराक्रम है, हे राजन् !
इस भूमण्डलपर तेरी समान तेजस्वी और तुम्हसे अधिक तेजस्वी
भी बहुतसे हैं ॥ २० ॥ २१ ॥ हे राजन् ! तू इस बातको जयकर
नहीं जानता है तबतक ही ऐसा अभिमान कर रहा है, यह बात
हमको बहुत ही असह्य हुई है इसीसे तुम्हें जतादिया है ॥ २२ ॥
हे राजन् ! तू अपने बराबरवालोंके साथ ऐसा अभिमान और
दर्प करना छोड़दे, नहीं तो तुम्हें पुत्र, मंत्री और सेनासहित यमपुरीमें
जाना पड़ेगा ॥ २३ ॥ महाराज दम्भोद्भव कार्त्तवीर्य्य, उत्तर और राजा
बृहद्रथ अधिक अभिमानके कारण अपनी भलाईकी ओर ध्यान
न देकर सेनासहित नष्ट होगए ॥ २४ ॥ हे राजन् ! कपटसे
तेरा संहार करनेकी इच्छा करके हमने ऐसा वेप धारण करा है,
हम वास्तवमें ब्राह्मण नहीं हैं क्षत्रिय हैं, मं वासुदेवका पुत्र
कृष्ण हैं और यह दोनों वीर पाण्डुके पुत्र हैं ॥ २५ ॥ हे राजन् !
हम तुम्हें युद्ध करनेके लिये पुकारते हैं, अब तुम या तो सब
राजाओंका छोड़दे नहीं तो युद्ध करके यमलोको जाओ २६

जरासन्ध उवाच । नाजितान्वै मरुपतीन्महमादग्नि कांश्चन । अजितः
 पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥ २७ ॥ क्षत्रियस्यैतदेवा-
 दुर्धर्मं कृष्णोपजीवनम् । विक्रम्य वश्यानीय कामतो परसमा-
 चरेत् ॥ २८ ॥ देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात् । अह-
 मय विमुच्येयं लाभं व्रतममुस्मरन् ॥ २९ ॥ सैन्यं सैन्येन व्यूढेन
 एकं एकेन वा पुनः । द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत् पृथगेव
 वा ॥ ३० ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा जरासन्धः सहदेवा-
 भिषेचनम् । आज्ञापयत्तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥ ३१ ॥ स
 तु सेनापतिं राजा सस्मारुभरतर्पणम् । कौशिकं चित्रसेनञ्च तस्मिन्
 युद्धे वपस्विते ॥ ३२ ॥ ययोस्ते नामनी राजन् हंसेति द्विभकेति
 च । पूर्वं सङ्घयिते पुंभिर्नृ लोके लोकसत्कृते ॥ ३३ ॥ तन्तु राज-
 न्विभुः शौरीराज्ञानं वल्लिनाम्बरम् । स्मृत्वा पुरुषशार्दूल शार्दूल-

जरासन्धने कहा, कि-हे कृष्ण ! मैं किन्ही राजाओंको भी बिना
 जीते नहीं लाया हूँ, जिसको मैंने जीता न हो और जो मेरे
 साथ विरोध करसकता हो, इस भूमंडल पर ऐसा कौनसा पुरुष है।
 ॥२७॥ हे कृष्ण ! पराक्रमसे लोगोंको अपने वशमें करके उनके साथ
 अपनी इच्छानुसार व्यवहार करना ही क्षत्रियका धर्म है ॥२८॥ हे
 कृष्ण ! मैंने क्षात्रव्रतको धारण किया है, इस राजाओंको देवपूजाके
 लिये लाया हूँ, अब मैं डर मानकर इनको क्यों छोड़ दूँ ॥२९॥
 मैं अकेला ही, व्यूहमें खड़े हुए एक, दो या तीन महारथियोंके
 साथ एकसाथ वा अलग २ युद्ध करसकता हूँ ॥३०॥ वैशम्पा-
 यनजी कहते हैं, कि-—राजा जरासन्धने ऐसा कहकर इस तीनों
 विक्ट पराक्रमवालोंके साथ युद्ध करनेको इच्छासे अपने पुत्र सह-
 देवका राज्यापेक्षिक करनेको आज्ञा दी ॥३१॥ और हे जनमेजय !
 इस युद्धका अवसर आने पर राजा जरासन्धने अपने कौशिक और
 चित्रसेन नाम वाले सेनापतियोंको याद किया ॥ ३२ ॥ हे राजन् !
 पहिले जन्ममें जिनके हंस और द्विभक्त नाम जगत्प्रममें गौरव
 पानेवाले तुमसे कहें थे ॥ ३३ ॥ उस समय पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण

समविक्रमम् ॥ ३४ ॥ सत्यसन्धेः जरासन्धं मुनि भीमपराक्रमम् ।
 भागमन्यस्य निर्दिष्टमघध्वं मधुभिर्मृधे ॥ ३५ ॥ नात्मनात्मवर्ता मुख्य
 इयेय मधुसूदनः । ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ॥ ३६ ॥
 इति सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धयुद्धो-
 घोने द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः
 उवाच चाग्नी राजानं जरासन्धमधोक्षजः ॥ १ ॥ श्रीकृष्ण
 उवाच । प्रयाणां केन ते राजन्युद्धमुरस्रहते मन । अस्मदन्यतमेनेह
 सज्जीभवतु को युधि ॥ २ ॥ एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं यत्रे महा-
 युतिः । जरासन्धस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः ॥ ३ ॥ आदाय
 रोचना मान्यं मङ्गलान्यपराणि च । पारयन्गदगान् सुस्थान्
 निवृत्तीं दनानि च । उपतस्थे जरासन्धं युयुत्सुं वै पुरोहित

को याद आया कि-यह बलगानों में अष्ट पुरुषसिंह जरासंध
 भूजोकमें संग्रामके समय यादवोंके हाथसे नहीं माराजासकता
 (ऐसी आकाशवाणी होचुकी है) ऐसी ब्रह्माजीकी आज्ञाकी
 ओर ध्यान देकर हलधरके छोटे भाई सत्यमतिश मधुसूदन भगवान्
 ने स्वयं उसके मारनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३६ ॥ द्वाविंश अध्याय
 समाप्त ॥ २२ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-तदनन्तर सुंदर बोलनेवाले यदु-
 नन्दन श्रीकृष्णजीने युद्धके लिये मनमें निश्चय करमेवाले उस
 राजा जरासंधसे कहा ॥ १ ॥ श्रीकृष्णने कहा, कि-हे राजन् ।
 हम दोनोंमेंसे किसके साथ युद्ध करनेकी तुम्हारी इच्छा है, हममें
 से युद्ध करनेको तयार होय ॥ २ ॥ तब तो वह बड़ा तेजस्वी राजा
 जरासंध कहने लगा, कि-मैं भीमसेनके साथ युद्ध करूंगा ॥ ३ ॥
 उस समय पुरोहित रोचना माला तथा अन्य माङ्गलिक पदार्थ
 और दुःख-मूर्च्छाको दूर करनेवाले शृगामें बाधनेके लिये गंदे
 घृट्टियें लेकर युद्ध करनेको तयार हुए जरासंधके पास आया ४

॥ ४ ॥ कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना । समनद्य-
ज्जरासन्धः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन् ॥ ५ ॥ अवमुच्य किरीटं स केशान्
समनुगृह्य च । उदतिष्ठजरासन्धो वेत्तातिग इवार्णवः ॥ ६ ॥ उवाच
मतिमान् राजा भीमं भीमपराक्रमः । भीम योत्स्ये त्वया सार्द्धं
श्रेयसा निजितं वरम् ॥ ७ ॥ एवमुक्त्वा जरासन्धो भीमसेन-
मरिन्दमः । मत्पुत्रयौ महातेजाः शक्रं बल इवासुरः ॥ ८ ॥ ततः
सन्मन्त्रय कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली । भीमसेनो जरासंधमास-
साद युयुत्सया ॥ ९ ॥ तवस्त्री नारशार्द्ध्या वाहुशस्त्रौ समीपतुः ।
वीर्ये परमसंहृष्टाव्योन्यजयकाक्षिणी ॥ १० ॥ करग्रहणपूर्वतु
कृत्वा पादाभिवन्दनम् । कक्षैः कक्ष्या विधुन्वानावास्फोटं तत्र
चक्रतुः ॥ ११ ॥ स्कन्धे दोर्म्यां समादृत्य मिहत्य च मुहुर्मुहुः ।

फिर जरासंधने कीर्तिनाले ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया और
क्षत्रियधर्मको याद करते हुए जख्तरको पहरा और मुकुटको उतार
कर केशोंको बांधता हुआ देगवाले समुद्रकी समान उठ खड़ा हुआ
॥ ५ ॥ ६ ॥ और यह चुद्धिमान् विकट बली राजा जरासंध कहने
लगा कि-हे भीम ! आओ मैं तेरे साथ युद्ध करूंगा, क्योंकि-बली
से युद्ध करनेमें हारनेपर भी यश ही होता है। आशुओं को दवाने
पाले, महातेजस्वी जरासंधने भीमसेनसे यह कहकर जैसे बलनामक
असुरने इन्द्रके ऊपर आक्रमण किया था तैने ही भीमसेनके ऊपर
आक्रमण करनेको उद्यत हुआ ॥ ८ ॥ तब तो बलनाम भीमसेन
भी श्रीकृष्णके साथ मंथति कर और ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन
कराकर युद्ध करनेके लिये जरासंधके सामने आगया ॥ ९ ॥ इस
प्रकार वह दोनों नरश्रेष्ठ धीर पुरुष परस्पर विजय पानेके अभि-
लाषी होकर अपनी २ भुजारूपशरोंको मिलाते लगे ॥ १० ॥
पहिले उर्मोमें हाथसे हाथ पकड़कर चरणवन्दना की, फिर बगलों
से बगलों को फटकाते हुए ताल ठोकनेलगे ॥ ११ ॥ दे राजर्षिभुजाओं
से कन्धोंपर धपकी देकर बार-बार धकियाकर परस्पर लिपटगए और

अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥ १२ ॥ चित्रहस्ता-
दिकं कृत्वा कक्षाग्रन्थश्च चक्रतुः । गलगण्डाभिधातेन सस्फुलिङ्गेन
चानिशम् ॥ १३ ॥ बाहुपाशादिकं कृत्वा पादादतशिराग्रुभौ ।
सरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥ १४ ॥ करतम्पीटनं
कृत्वा गर्जन्ती पारणाविव । मर्हन्ता मेघसङ्काशौ बाहुमहरणा-
ग्रुभौ ॥ १५ ॥ तलेनाह्न्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ । सिंहा-
विय सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ॥ १६ ॥ अङ्गेनागं समा
पीडय बाहुभ्यामुभयोरपि । आट्टय बाहुभिरपि उदरश्च प्रचक्रतुः
॥ १७ ॥ उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तत्तवन्तौ च शास्त्रतौ । अधो-
हस्तं स्वकण्ठे तूदरस्थोरभि पाक्षिपत् ॥ १८ ॥ सर्वातिक्रान्तमन्यार्पादं
पृष्ठमङ्गश्च चक्रतुः । सम्पूर्णमूर्द्धा बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः १९
तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिम् । एवमादीनि युद्धानि

अलग २ हो कूदगए ॥ १२ ॥ फिर चित्रहस्त आदि अनेकों पेंच
प्रकरके घगलबंधन किया, उस समय परस्पर गरदन और गालों
पर दोनोंने ऐसे धंप्पड़ लगाए कि—बराबर चिनमारियें उठने
लगीं ॥ १३ ॥ फिर बाहुपाश आदि पेंच करके एक दूसरेके माथे
पर लात मारतेहुए, मतवाले हाथियोंकी समान और घनघटाओंकी
समान गंभीर गर्जना करते और क्रोधमें भरे दो सिंहोंकी समान
एक दूसरेको देखते, घपेटोंका प्रहार और चार २ कभी इधर और
कभी उधरको पकेखतेहुए युद्ध करनेलगे ॥ १४-१५ ॥ परस्पर
अङ्गोंसे अङ्गोंको पीडित करने लगे तथा भुजदण्डोंसे पेट और कमर
को पकड़कर अपनी अपनी कमर पीठपर डालनेलगे और अपनी २
गरदन, गला और पेटपर हाथ फेरनेलगे ॥ १७ ॥ १८ ॥ तद-
नंतर कभी पीठको रगड़ देते, कभी उदरमें घूसा मारकर एक
दूसरे को मूर्छित करते तथा पूर्णकुम्भ आदि पेंच सकल मर्यादाको
स्यागकर करनेलगे ॥ १९ ॥ तदनन्तर उन्होंने तृणपीड पूर्णयोग
और समुष्टिक आदि पेंचोंको करतेहुए आपसमें यथेच्छ मज्जायुद्ध

मकुर्वन्तो परस्परम् ॥ २० ॥ तयोर्बुद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुर-
वासिनः । ब्राह्मणा वंणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥ २१ ॥
शूद्राश्च नरशार्दूल क्षिप्रौ वृद्धाश्च सर्वशः । निरन्तरमभूत्तत्र जनों-
पैरभिसंघृतम् ॥ २२ ॥ तयोरथ भुजापातान्निग्रहमग्रहात्तया
आसीत् सुभीमसम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २३ ॥ उभौ परम-
संहृष्टौ घलेन वलिनां वरौ । अग्न्योन्यस्यान्तरं प्रेम्सु परस्परजयै-
पिलौ ॥ २४ ॥ तद्भीममुत्सार्य जनं युद्धमासीदुपप्लवे । वलिनोः
संयुगे राजन् वृत्रवासवयोश्चि ॥ २५ ॥ प्रकर्षणार्कर्षणाभ्यामनु-
कर्षविकर्षणैः । आचकर्षतुरन्योऽन्यं जानुभिश्चावजघ्नतुः ॥ २६ ॥
ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम् । पापाण्यसंघातनिभैः महारै-
रभिजघ्नतुः ॥ २७ ॥ व्यूढोरस्कां दीर्घभुजौ निबुद्धकुशलावुभौ ।

रुपा ॥ २० ॥ हे भूपते ! सकल पुरवासी हज़ारों ब्राह्मण,
क्षत्रिय, वैश्य शूद्र सकल स्त्रियें और वृद्धे उमका युद्ध देखनेको
वहाँ इकट्ठे हुए वह मनुष्योंके समूहोंसे घिरा हुआ युद्ध परावर
होता रहा ॥ २१ ॥ २२॥ महाबली जरासंध और भीमसेन आपस
में भुजा मिला २ कर और गरदन पर १ कर पटकने लगे,
उससमय उनकी यपकियोंका ऐसा शब्द होता था मानो पर्वतपर
वज्र पड़ रहा है ॥ २३ ॥ परस्पर विजयकी इच्छा करनेवाले परम
प्रसन्न महाबल-पराक्रमी वह दोनों वीर पुरुष एक दूसरेके चूकने
का वाद देखने लगे ॥ २४ ॥ हे राजन् ! इन्द्र और वृषासुरकी
समान घोर संग्राम करते हुए वह दोनों वली लड़ते २ जिपरको
जाते थे उधरसे ही मनुष्योंकी भीड़ भागने लगती थी ॥ २५ ॥
कभी ढकेलकर लेजाना कभी एचेढ़कर लाना, कभी आगे को
ढकेलना और कभी घसीटना वह इसमफार खेबाखाची करते थे
और कभी चुटेलियें देते थे ॥ २६ ॥ तदनन्तर परस्पर कठोर
शब्दसे ललकारते हुए पत्थरोंकी समान थूंसोंके महार धरनेलगे २७
उन दोनोंकी ही छाती चौड़ी थी, भुजाएं लंबी थीं और दोनों ही

वाङ्मुनिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव॥२८॥कात्तिकस्य तु मासस्य
मृत्तं मयमेऽहनि । अनाहारं दिवारात्रमविधान्तमवर्त्तत ॥२९॥तद्-
दृत्तन्तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः । चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो
यागधः क्लृप्तात् ॥ ३० ॥ तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजन्
जनार्दन । उवाच भीमकर्माणं भीमं सम्बोधयन्निव ॥ ३१ ॥
पलान्तः शत्रुर्न कौन्तेय क्षम्यः पीडयितुं रणे । पीडयमानो हि
कात्स्न्येन जग्राज्जीवितमात्मनः ॥ ३२ ॥ तस्मात्ते नैव कौन्तेय
पीडनीयो जनाधिपः । सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ३३
एवमुक्तः स कृष्णेन पांडव परवीरहा । जरासन्धस्य तद्रथं ज्ञात्वा
चक्रे मतिं वधे ॥ ३४ ॥ ततस्त्वमजितं जेतुं जरासन्धं वृकोदरः ।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः ॥ ३५ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धक्लान्ती
प्रयोगविशोऽध्याया ॥ २३ ॥

युद्ध करनेमें घटुर थे इसकारण दोनोंने परस्पर लोहेके ढँढेलीकौ
समान भुजदंडोंसे दबोच लिया॥२८॥उन दोनों महात्माओंका युद्ध
कात्तिकमासके पहिले दिनसे आरंभ होकर बिना खाये पिये तिरं-
तर तेरह रात दिन बराबर होता रहा, चौदहवें दिन रातके समय
जरासन्ध थकजानेके कारण हटगया ॥ २९ ॥ ३० ॥ हे राजन् !
श्रीकृष्णने राजा जरासन्धके थकाहुआ देखकर भीमकर्मा भीमसेन
को पुकार कर कहा ॥ ३१ ॥ हे कुन्तीनन्दन ! थके हुए शत्रुको
रणमें पीड़ा नहीं देना चाहिये, क्योंकि-वह अधिक पीड़ापानेपर
अपने प्राणोंको त्यागदेगा ॥ ३२ ॥ इसकारण अब तुम इसको
पीड़ा मत दे दे भरतर्षभ ! इसके साथ बाहुयुद्ध करो ॥ ३३ ॥
श्रीकृष्णजीके ऐसा कहने पर वीर शत्रुओंका नाश करनेवाले
भीमसेनने जरासन्धकी ऐसी दशा देखकर उसके मारनेका विचार
किया ॥ ३४ ॥ तदनन्तर क्लृप्तानोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन भीमसेन
उस किसीसे न जीनेहुए जरासन्धको जीतनेके लिये क्रोधमें भर-
गया ॥ ३५ ॥ प्रयोगविंश अध्याय समाप्त ॥ २२ ॥ छ

वैशम्पायन उवाच । भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदु-
 नन्दनम् । बुद्धिभास्याप विभृतां जरासन्धवधेप्सया ॥ १ ॥ नापं
 पापो मया कृष्ण युक्तः, स्यादशुरोभितम् । मायेन यदुशाईल
 यद्वक्त्रेण वासमा ॥ २ ॥ एवमुक्तस्ततः कृष्णः मत्पुत्राव वृशो-
 दरम् । स्वरथन् पुरुषव्याघ्रो जरासन्धवधेप्सया ॥ ३ ॥ पत्ते देवं
 परं तत्त्वं यपथ ते मातरिरिवनः । वलां भीम जरासन्धे दर्शयाशु
 तदद्य वै ॥ ४ ॥ एवमुक्तस्तदा भी गो जरासन्धमरिन्दम् । उत्क्षिप्य
 भ्रामयामास वलवन्तं महाबलः ॥ ५ ॥ भ्रामयित्वा शतशृणं जानु-
 र्भ्यां भरतर्षभ । धमञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिप्य विननाद् च । करे
 दृष्टीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः ॥ ६ ॥ तस्य निष्पिप्य
 माणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः । अभवचुमुखो नादः सर्वपाणि-
 भयङ्करः ॥ ७ ॥ विप्रेस्तुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुसुतुः ।

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय! तदनन्तर चातुरी रचने
 में प्रवीण भीमसेनने जरासंधका वध करनेका इच्छासे यदुनन्दन
 श्रीकृष्णसे कहा, कि-॥ १ ॥ हे कृष्ण ! इस पापात्माकी फंसी
 इसप्रकार वस्त्रसे चेंबी हुई है, जि-इसका माणान्त करना सहज
 नहीं है ॥ २ ॥ पुरुषोत्तम वामदेव जरासंधके पारनेमानेकी अभि-
 लाषासे शीघ्र ही भीमसेनसे कहनेलागे, कि-॥ ३ ॥ हे भीम !
 तुझमें जो देवबल और जो परमका बल है उसको आज शीघ्र ही
 जरासंधके ऊपर दिखा ॥ ४ ॥ हे राजन् ! महाबली भीम
 श्रीकृष्णकी इसप्रकार कहनेपर वलवान् जरासंधको ऊपरको उठा
 घुमानेलागा ॥ ५ ॥ सौ बार घुमाकर पटक दिया और जंवाओंमें
 दबोचकर पीठपर घुटेली दे पीसता हुआ गरजने लगा और फिर
 महाबली भीमने उसके दोनों चरण दोनों चरण दोनों हाथोंमें
 पकड़कर बीचमेंसे चौरडाला ॥ ६ ॥ पिसतेहुए जरासंधकी और
 क्रोधमें भरे भीमसेनकी गर्जनासे सरल प्राणियोंमें भय देनेवाला
 पड़ाभारी शब्द हुआ ॥ ७ ॥ भीमसेनके गर्जनेसे गगनपुरीके

भीमसेनस्य नादेन जरासन्धस्य चैव ह ॥ ८ ॥ किन्तु स्पाद्धिम-
वान् भिन्नः किन्तु स्विददोर्ष्यते मही । इति वै मागधा जद्वर्गीम-
सेनस्य निःस्वनात् ॥ ९ ॥ ततो राज्ञः कुशद्वारि मसुसमिव तं
वृत्तम् । राज्ञो गतामुपसृत्य निश्चक्रगुरुरिन्दमाः ॥ १० ॥ जरा-
सन्धस्य कृष्णो योजयित्वा पताकिनम् । आरोप्य भ्रातरो चैव
योक्तव्यास वान्यवान् ॥ ११ ॥ ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः
पृथिवोरवराः । राजानमक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात् ॥ १२ ॥
अन्नतः शङ्खमशन्नो निवारिः सह राजभिः । रथमास्थाय तं दिव्यं
निर्जिताम गिरिव्रजात् ॥ १३ ॥ यः ससोदर्यवान्नाम द्वियोधो
कृष्णसारथिः । अभ्यासप्राप्तौ संहस्यो दुर्जयः सर्वराजभिः ॥ १४ ॥
भीमाजुर्नाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः । शुशुभे रथ

निवासी भयभीत हो गए और स्त्रियों के गर्भ गिर पड़े ॥ ८ ॥ भीम
सेन की गर्जना की सुनकर मगधपुरी निवासी कहने लगे, कि-न
जाने यह हिमालय स्वसा है वा भूमि फटी है ॥ ९ ॥ तदनन्तर
शत्रुओं के नाशक कृष्ण, अर्जुन और भीमसेन, प्राणहीन सोये से
पड़े हुए जरासन्ध के उस के द्वार पर डाल कर वहां से रात में ही बाहर
चले आये ॥ १० ॥ श्रीकृष्ण ने जरासन्ध के पताका फहराते हुए
रथ को जोता और उसके ऊपर अर्जुन तथा भीमसेन दोनों भाइयों
को बैठा कर चल दिये और जरासन्ध के कैद करे हुए सब राजाओं
को जाकर छुड़ाया ॥ ११ ॥ उन राजाओं ने बड़े भारी भय से रक्षा
पाशों के योग्य श्रीकृष्णजी के पास जाकर अनेकों रत्नों में उनका
उचित सम्मान किया ॥ १२ ॥ अन्नत, शङ्खगरी, शत्रुओं को जीतने
वाले मगधान् कृष्ण उस दिव्य रथ में चढ़ कर राजों सहित गिरि-
व्रज से चल दिये ॥ १३ ॥ जिस रथ का नाम ससोदर्यवान् था,
जिस पर बैठे हुए दो योधा लड़ सकते थे, जिसके सारथिका नाम
कृष्ण था, जिस पर बैठ कर महार करने में सुभीता था, जो देखने
योग्य और किसी राजा के जीतने में नहीं आता था ॥ १४ ॥ उस

वर्षोऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः ॥ १५ ॥ शक्रविष्णु हि संग्रामे
चेतुस्तारकामये । रथेन नेन वै कृष्ण उपास्त्र ययौ तदा ॥ १६ ॥
तप्तवापी कराभेण किङ्किणीजालपालिना । मेघनिर्वोपनादेन जैत्रेणा-
पित्रघातिना ॥ १७ ॥ येन शक्रो दानवानां जवान नवनीर्नव । तं
माप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः ॥ १८ ॥ ततः कृष्णं महाबाहुं
भ्रातृभ्यो सहितं तदा । रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः
॥ १९ ॥ हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे । अधिष्ठितः स
शुश्रुभे कृष्णेनातीव भारव ॥ २० ॥ असङ्गो देवविहितस्तस्मिन्
रथवरे ध्वजः । यो जनादृशो श्रीमानिन्द्रायुगसमप्रभः ॥ २१ ॥
विन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्यधात् । क्षणे तस्मिन् स

ही रथ पर भीम और अर्जुन दो घोड़ा सवार हुए और भगवान्
कृष्ण सारथि बने, इससे वह श्रेष्ठ रथ बड़ा ही शोभायमान हुआ
॥ १५ ॥ तारागणोंके जालकी समान दमकते हुए जिस रथ पर
सवार होकर इन्द्र और विष्णु रणभूमिमें विचरे थे उस ही तपेहुए
सौनेकी समान दमकते, घड़ियोंके जालसे लिपटे, मेघकी समान
शब्दवाले, विजयशील, शत्रुघानी रथ पर चढ़कर उस समय
श्रीकृष्णजी चले ॥ १६-१७ ॥ जिस रथ पर चढ़कर इन्द्रने
निम्नानवे बार दानवोंका वध किया था उसही रथको पाकर वह
पुरुषश्रेष्ठ परमप्रसन्न हुए ॥ १८ ॥ मगधदेशनिवासी महाबाहु
कृष्णको भीम और अर्जुनके साथ उस रथपर चढ़ेहुए देखकर
वड़े आश्चर्यमें हुए ॥ १९ ॥ हे जनमेजय ! जिसमें दिव्य घोड़े
जुते थे ऐसी वायुकी समान वेगवाला वह रथ श्रीकृष्णजीके सवार
होनेपर बड़ा ही शोभायमान हुआ ॥ २० ॥ उस श्रेष्ठ रथके ऊपर
देवताओंकी घनाई हुई एक ध्वजा निराधार लगरही थी इन्द्रधनुष
की समान चमकती हुई शोभायमान वह ध्वजा चारकोससे दीखता
थी ॥ २१ ॥ तदनन्तर श्रीकृष्णने गरुड़का स्पर्ण किया कि-

तेनामीचैत्यवृक्ष इवोत्थितः ॥ २२ ॥ व्यादितास्यैर्महानादैः सह
भूते रजालयैः । तस्मिन् रथवरे तस्थौ गह्वमान् पन्नगाशनः ॥ २३ ॥
दुर्निरोद्धो हि भूतानां तेजसाभ्यधिकं वभौ । आदित्य इव मध्याह्ने
सहस्रकिरणोद्भूतः । न म सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न विध्यते ।
दिव्यो ध्वजवरो राजन्दश्यते चेह मानुषैः ॥ २४ ॥ तमास्थाय रथं
दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम् । निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहा-
च्युतः ॥ २५ ॥ यं लेभे वासवाद्राजा वसुस्तस्माद् वृहद्रथः । वृह-
द्रथात् क्रमेणैव प्राप्तो वार्हद्रथं नृपः ॥ २६ ॥ स निर्याय महाबाहुः
पुण्डरीकेक्षणस्ततः । गिरिव्रजाद्द्विस्तस्थौ समदेशे महायशाः २७
तत्रैव नागरा सर्वे सत्कारेण भ्ययुस्तदा । ब्राह्मणप्रमुखा राजन्
त्रिविद्वहेन कर्मणा ॥ २८ ॥ वंशनाद्विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुमूदनम् ।

वह उसी समय आगए तब तो वह रथकी ध्वजा चैत्य पर्वतके
ऊपर वृक्षकी समान ऊँची होगई ॥ २२ ॥ सर्पभक्षी गहड़जी
मुख फैलायेहुए गर्जनेवाले भजारासी भूतोंके साथ उस श्रेष्ठ
रथपर स्थित हुए ॥ २३ ॥ सहस्र किरणोंवाले मध्याह्नकालके
सूर्यकी समान पुरुषोंके चौधानेवाला वह रथ तेजसे और भी
अधिक शोभायमान हुआ ॥ २४ ॥ हे राजन् ! वह दिव्य ध्वजा
न वृक्षोंमें उलझती थी न शस्त्रोंसे विषती थी अब वह मनुष्यों
को दीखने लगी ॥ २५ ॥ जिस रथको राजा वसुसे इन्द्रसे वृह-
द्रथने वसुसे और अन्तको जरासंधने वृहद्रथसे पाया था पुरुषोत्तम
कृष्ण, भीम और अर्जुन सहित उस मेघकी समान गंभीर शब्द
वाले दिव्यरथमें बैठकर तहाँसे चलदिये ॥ २६ ॥ २७ ॥ तद्-
नन्तर वह महायशस्वी महाबाहु पुण्डरीकेक्ष्ण कृष्ण गिरिव्रजसे
निकल कर बाहर मैदानमें आपहुँचे ॥ २८ ॥ हे राजन् ! उस
समय ब्राह्मण आदि मकल नगरनिवासियोंने तहाँ आकर
ताम्रोक्त रीतिसे इनका सत्कार किया ॥ २९ ॥ वंशसे छुट्टेहुए

पूजयामापरुचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३० ॥ नैवच्चित्रं महाबाहो
 त्वयि देवकिनन्दने । भीमानुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥ ३१ ॥
 जरासन्धद्वे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम् । राज्ञां समभ्युदरणं
 यदिदं कृतमथ वै ॥ ३२ ॥ विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सु-
 दारुणं । दिष्टया मोक्षायसौ दीप्तपातं ते यदुनन्दन ॥ ३३ ॥ किं
 कुर्मः पुरुषपात्र शायि नः मण्डितस्थितान् । कृतमित्येव तद्विद्धि
 नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥ ३४ ॥ तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य
 महामनाः । युधिष्ठिरो राजसूर्यं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३५ ॥ तस्य
 धर्ममवृत्तस्य पार्थिवस्य चिकीर्षतः । सर्वैर्भवद्विबिहाय साहाय्यं
 क्रियतामिति ॥ ३६ ॥ ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपतिसत्तम । तथे-

राजाओंने श्रीकृष्णजीका पूजन कर स्तुति करतेहुए यह बात
 कही ॥ ३० ॥ हे महाबाहो ! भीम और अर्जुनको साथ लेकर
 आपने जो यह धर्मकी रक्षाकी है आज जो दुःखरूप कीचढ़की
 अँदनवाले जरासन्धरुनतालाबमें डूबतेहुए हम राजाओंका उद्धार
 किया हैसो आपके नियममें यह कोई अचरजकी नई बात नहीं है
 ॥ ३१ ॥ ३२ ॥ हे विष्णो ! हे यदुनन्दन ! आपने दारुण गिरि-
 दुर्गमें दुःख पातेहुए राजाओंको छुटाया इसका हम आपको धन्य-
 वाद देते हैं और इससे आपको बड़ा यश मिला है ॥ ३३ ॥ हे
 पुरुषोत्तम ! शिर झुका कर खड़े हुए हमको आज्ञा दीजिये, कि-
 कौनसा काम करें बड़े २ राजाओंसे भी न होनेयोग्य वस काम
 को कराहुआ ही समझिये ॥ ३४ ॥ महात्मा श्रीकृष्णने उनको
 ढाढस देकर कहा, कि—राजा युधिष्ठिर राजसूर्य यज्ञ करना
 चाहते हैं ॥ ३५ ॥ आप उन चक्रवर्ती पदको चाहनेवाले धार्मिक
 महाराजकी इस कार्यमें चित्तसे सहायता करें ॥ ३६ ॥ हे जनमे-
 जय ! यह सुनकर वह राजे मनमें बड़े प्रसन्न हुए और श्रीकृष्ण
 जी की बातको स्वीकार करके कहनेलगे, कि—बहुत अच्छा, ऐसा

त्पेचामुवत् सर्वे प्रतिगृह्यास्य तां गिरम् ॥३७॥ रत्नभाजश्च दाशार्हं
चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः । कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया
॥३८॥ जरासन्धात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः । निर्ययो सजना-
मात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥ ३९ ॥ स नीचैः प्रणतो भूत्वा
बहुरत्नपुरोगमः । सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४० ॥
भयात्ताप ततस्तस्यैकृष्णो दत्त्वाभयं तदा । आददेऽस्य महाऽर्हाणि
रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥ ४१ ॥ अभ्यपिञ्चत तत्रैव जरासन्धात्मजं
मुदा । गत्वाैतत्त्वञ्च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥ ४२ ॥
विवेश राजा द्युतिमान् बार्हद्वयपुरं नृप । अभिपिक्तो महाबाहुर्जरा-
सन्धिर्महात्मभिः ॥ ४३ ॥ कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया
युतः । रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ४४ ॥ इन्द्रप्रस्थ-

ही करेंगे ॥ ३७ ॥ फिर उन राजाओंने श्रीकृष्णजीको सुंदर २
पदार्थ अर्पण करे वह श्रीकृष्णजीने उनके ऊपर दया दिखाते
हुए बड़ी कठिनतासे लिथे ॥ ३८ ॥ जरासंधका पुत्र महात्मा
सहदेव मंत्रियों सहित पुरोहितको आगे करके श्रीकृष्णजीसे मिलने
को आया ॥ ३९ ॥ अनेकों रत्नोंको लिये वह सहदेव बड़ी नम्रता
से प्रीतिके साथ नरदेव भगवान् कृष्णकी शरणमें आपहुंचा
॥ ४० ॥ तब श्रीकृष्णजीने उस भय से घबड़ाये हुए सहदेवको
अभय देकर उसके भेट कियेहुए बहुमूल्य रत्नोंको लेलिया ४१
श्रीकृष्ण भीमसेन और अर्जुन तीनोंने इकट्ठे होकर तहां ही बड़ी
प्रसन्नतासे जरासंधके पुत्र सहदेवका अभिषेक करदिया ॥ ४२ ॥ हे
राजन् ! उन महात्माओंके अभिषेक कर देनेपर वह परमकीर्तिमान्
जरासंधका पुत्र महाबाहु सहदेव अपनी राजधानीमें चला गया ४३
उपरपुरुषोत्तम श्रीकृष्णजी अनेकों रत्नोंका संग्रह करके परम शोभा
को प्राप्त होतेहुए भीम और अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थको चलादिये
॥ ४४ ॥ उन दोनोंके साथ श्रीकृष्णजी इन्द्रप्रस्थमें आकर प्रसन्न होते

मुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः । समेत्य धर्मराजानं भीम-
माणोऽभ्यभाषत ॥ ४५ ॥ दिष्ट्या भीमेन बलवान् जरासन्धो
निपातितः । राजानो मोक्षितार्थं वचनान्नुपसत्तम ॥ ४६ ॥
दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनञ्जयौ । पुनः स्वनगरं प्राप्ता-
वन्तताविति भारत ॥ ४७ ॥ ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा
यथाहृतः । भीमसेनार्जुनौ चैव महष्टः परिपस्वजे ॥ ४८ ॥ ततः
क्षीणे जरासन्धे भ्रातृभ्यां विहितं जपम् । अजातशत्रुसाथं मृमुदे
भ्रातृभिः सह ॥ ४९ ॥ यथा वयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः ।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विसर्जं नराधिपान् ॥ ५० ॥ युधिष्ठिरा-
भ्यनुज्ञावास्ते नपा हृष्टमानसाः । जगमुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुत्था-
वचैस्ततः ॥ ५१ ॥ एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः । पाण्डव-
घातयायास जरासन्धमरि तदा ॥ ५२ ॥ घातयित्वा जरासन्ध

हुए धर्मराजसे कहनेलगे, एक-॥४५॥ हे राजेन्द्र ! आपकें दयाई
है. कि भीमसेनने बलवान् जरासंधको मारवाला और कागगार
में पड़ेहुए राजाओंको वचनसे छुटादिया ॥४६॥ हे भारत ! अहो-
भाग्य है, कि-यह भीमसेन और अर्जुन कामको सिद्ध करके कुशल
पूर्वक निवृत्त अपने नगरको लौटआये ॥४७॥ राजा युधिष्ठिरने
इतना सुनते ही परममसन्न हो श्रीकृष्णजीकी यथोचित पूजाकर
भीमसेन और अर्जुनको हृदयसे लगाया ॥ ४८ ॥ दोनों भाइयों
के द्वारा जरासंधके मारे जानेपर उनके क्रियेहुए विजयको पाकर
भ्राताओं सहित अजातशत्रु युधिष्ठिर वदे मसन्न हुए ॥ ४९ ॥
तदनन्तर भाइयों सहित युधिष्ठिरने उन सब राजाओंसे मिल और
अवस्थाके अनुसार सरकारें पूजन करके उनको विदा करदिया ५०
तब यह सब राजे युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर मसन्नचित्तमें भाग
प्रकार वी सवारियोंपर चढ़कर तहांसे शीघ्र ही अपने २ देशों का
चलेगये ॥ ५१ ॥ इस प्रकार परमवीर्य पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने
पाण्डवोंके द्वारा अपने शत्रु जरासंधको मरवा दिया ॥ ५२ ॥

बुद्धिपूर्वपरिदयः । धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत ॥ ५३ ॥
 सुभद्रां भीमसेनश्च फाल्गुनं यमजौ तथा । धौम्यमामन्नयित्वा च
 मययौ स्वां पुरीं प्रति ॥ ५४ ॥ तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुज्य-
 गाभिना । धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनानादयन्दिशः ॥ ५५ ॥ ततो
 युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ । मदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्ट-
 कारिणम् ॥ ५६ ॥ ततो गते भगवति कृष्णे देवाकनन्दने । जयं
 लब्ध्वा मुविपुलं राज्ञां दत्त्वाभयन्तदा ॥ ५७ ॥ संवर्द्धितं यशो
 भूय कर्मणा तेन भारत । द्रौपद्याः पाण्डवा राजन् परां भीति-
 मवर्द्धयन् ॥ ५८ ॥ तस्मिन् काले तु यैद्युक्तं धर्मकामार्थसंहितम् ।
 तद्राजा धर्मतश्चक्रे मजापालनकीर्तनम् ॥ ५९ ॥

इति समापर्वणि जरासन्धवधपर्वणि जरासन्धवधे चतुर्विंशोऽ-
 ध्यायः समाप्तश्च जरासन्धवधपर्वः ॥

अथ दिग्विजयपर्वः ।

वैशम्पायन उवाच । पार्थः मास्य धनुःश्रेष्ठमक्षयौ च महेषुधी ।

भारत ! शत्रुनाशी कृष्ण बुद्धिमान्नीके साथ जरासन्धको मरवा
 कर धर्मराजकी आज्ञा ले, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा, भीमसेन,
 अर्जुन, नकुल, सहदेव और धौम्यसे बूझकर, धर्मराजके दियेहुए
 मनकी समान, विगवाले उस ही दिव्य रथपर बैठकर दशों दिशाओं
 को शब्दापमान करतेहुए अपनी द्वारका नगरी को चलदिये ५३-५५
 उनके चलते समय युधिष्ठिर आदि पाँचों पांडवोंने सुखदायक कृष्ण
 की परिक्रमा करी ॥ ५६ ॥ देवाकनन्दन भगवान् कृष्णके चलेजाने
 पर उस बड़ी भारी विजयको पाने और गिरिदुर्गमें बधके लिये
 लायेहुए राजाओंको छुटानेसे उनकी यश चारों दिशाओंमें फैल
 गया और हे भारत ! पांडवोंके उस कामसे द्रौपदी बड़ी मसन्न
 हुई ५७ ॥ ५८ ॥ तब धर्मराज समयके योग्य धर्मार्थकामयुक्त
 मजाका पालन करते हुए पद्ममुखके साथ निवास करने लगे ॥ ५९ ॥
 चतुर्विंश अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! अर्जुनने उत्तम धनुष

रय ध्वजं सर्वां चैव युधिष्ठिरपभाषण ॥ १ ॥ अर्जुन उवाच ।
 धनुस्सं महावीर्यं पक्षो भूमिर्विशो बलम् । प्राप्तमेतन्मया राजन्
 दुष्पापं यदभीप्सितम् ॥ २ ॥ तत्र कृत्यमहं मन्ये कोपस्य परि-
 वर्द्धनम् । करमाहारिषिष्यामि राक्षः सर्वान्प्रोत्तम ॥ ३ ॥ विजयाय
 मयास्यापि दिशं धनदपालिताम् । तिषावथ मुहूर्त्तं च नक्षत्रं चा-
 भिषूजिते ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । धनञ्जयवचः श्रुत्वा धर्मराजो
 युधिष्ठिरः । स्निग्धगम्भीरभादिन्या तं गिरा मत्प्रभाषत ॥ ५ ॥
 स्वस्ति वाच्याहृतो विमान् मयाहि भरतर्षभ । दुर्दृढाममहर्षाय
 मुहृदां नन्दनाय च ॥ ६ ॥ विजयस्त्वेधुर्व पार्यः प्रियं काममवा-
 प्सति । इत्युक्तः मयसौ पार्यः सैन्येन सहता वृत्तः ॥ ७ ॥ अग्नि-
 दत्तेन दिव्येन रथेनाद्भुतकर्मणा । तथैव भीमसेनोऽपि प्रयागं च

वहे २ अखण्ड भाये, रथ, पताका और सभाको पाकर युधिष्ठिरसे
 कहा ॥ १ ॥ अर्जुन बोला, कि—हे राजन् ! जो कि—हरणको
 मिलना कठिन है, ऐसे मनमाने धनुष आदि अस्त्र बंदी। वीरता,
 महारथ, किला, यश, सेना आदि मैंने सब ही पा लिया है ॥ २ ॥
 हे महाराज ! मेरी समझमें अब खजानेको बढ़ाना और राजाओंसे
 कर लेना यही काम इनको करना चाहिये ॥ ३ ॥ अब आपके
 आज्ञा देनेपर शुभ नक्षत्र, तिथि और मुहूर्त्त पाकर मैं कुबेरकी रत्ना
 की दुर्ग उत्तर दिशामें विजय करनेको जाऊंगा ॥ ४ ॥ वैशम्पायन
 कहते हैं, कि—धर्मराज युधिष्ठिर अर्जुनकी इस बातको सुनकर
 प्रेममयी गंभीर वाणीमें कहनेलगे, कि—॥ ५ ॥ हे भाई पूज्य
 ब्राह्मणोंसे आशीर्वाद लेकर शत्रुओंका दुःख और मित्रोंका आनन्द
 बढ़ानेके लिये यात्रा करो ॥ ६ ॥ हे पार्य ! निश्चय ही तुम्हारी
 विजय और प्रियकामना सिद्ध होगी ऐसी आज्ञा पाकर अर्जुन
 वही भारी सेनाको साथ ले अग्निके दिये हुए दिव्य रथमें बैठकर
 चलदिये इसी प्रकार भीमसेन और वीर नकुल सहदेवने भी यात्रा

पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥ ससैन्याः प्रययुः संतं धर्मराजेन पूजिताः ।
दिशं धनपतेरिष्टामनयत् पारुशासनिः ॥ ९ ॥ भीमसेनस्तथा
मार्ची सहदेवस्तु दक्षिणाम् । मतीर्ची नकुलो राजन्दिशं व्यनयता-
स्त्रिद्वि ॥ १० ॥ स्वाण्डवमस्यमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत् परमया लक्ष्म्या सहृदगणवृतः मधुः ॥ ११ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेप-

कथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २४ ॥

जनमेजय उवाच । दिशामभिजयं ब्रह्मन्विस्तरेणानुशीर्षय ।
नहि तृप्यामि पूर्वेषां भूपवानश्चरितं ममत् ॥ १ ॥ वैशम्पायन
उवाच । धनञ्जयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते । यौगपद्येन पार्थर्हि
निजितेय वसुधरा ॥ २ ॥ पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे मदी-
पतीन् । धनञ्जयो महाबाहुर्नातिपीड्येण कर्मणा ॥ ३ ॥ आनर्त्तम्
कालकूटंश्च कुलिन्दंश्च विजित्य सः । सुमण्डलश्चावजितं कुत-
परी ॥ ७—८ ॥ इत्यमकार युधिष्ठिरसे सत्कारं पा वद सद्य भाई
सेना सहित अपनौ राजधानीसे चलदिये, अर्जुनने कुबेरकी प्यारी
चत्तर दिशाको जीता ॥ ९ ॥ भीमसेनने पूर्वदिशाको, सहदेवने
दक्षिण दिशाको और हे राजन् ! अस्त्रविद्याको जाननेवाले नकुलने,
पश्चिम दिशाको जीता ॥ १० ॥ धर्मराज युधिष्ठिर स्वाण्डवमस्यमें रहते
हुए बड़ीभारी लक्ष्मी और अमैकों मित्रोंके स्वामी होगये ॥ ११ ॥
पञ्चविंश अध्याय समाप्त ॥ २४ ॥ छ ॥

जनमेजयने कहा, कि-हे ब्रह्मन् ! अब पाँद्योंके दिग्विजयका
पुचान्त विस्तारके साथ कहिये, मैं अपने पूर्वपुरुषोंके आश्चर्यभरे
विचित्र चरित्रको सुनताहुआ तृप्त नहीं होता हूँ ॥ १ ॥ वैशम्पायन
ने क । कि-हे महाराज ! पाँद्योंने एकसाथ इस भूमण्डलभरके
जीतलिया, उसमेंसे पहिले मैं अर्जुनके दिग्विजयका वृत्तांत कहता
हूँ, उसको सुनो ॥ २ ॥ हे महाराज ! महाबाहु अर्जुनने पहिले
साधारण पराक्रमसे ही कुलिन्द देशके राजाओंको अपने वशमें
करलिया ॥ ३ ॥ अर्जुनने आनर्त्त, कालकूट और कुलिन्द देशों

घान् सहस्रनिहम् ॥ ४ ॥ स तेन सहितो राजन् सव्यसाची पर-
तपः । निजिग्ये शाकलं द्वीपं मतिविन्ध्यश्च पार्थिवम् ॥ ५ ॥ शाकल-
द्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः । अर्जुनस्य च सैर्ग्वैस्तर्विग्रह-
स्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥ स तानपि महेश्वासान् विजिग्ये भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ७ ॥ तत्र राजा महा-
नासीज्जगदचो विशाम्पने । तेनासीत् सुमहद्युद्धं पाण्डवस्य महा-
त्मनः ॥ ८ ॥ स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानृपवासिभिः ॥ ९ ॥ ततः स दिव-
सानष्टौ योधयित्वा धनञ्जयम् । महसन्नप्रवीद्राजा संग्रामविगत-
क्लमम् ॥ १० ॥ उपपन्नं महाबाहो स्वयि पाण्डवमन्दन । पाक-
शासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ ११ ॥ अहं सखा महेन्द्रस्य
शक्रादनवरो रणे । न शक्यामि च ते तात रथातुं प्रमुखतो युधि

को जीतकर सेनासहित राजा सुमण्डलको जीता ॥ ४ ॥ तदनन्तर
सुमण्डलको साथमें लियेहुए सव्यसाची अर्जुनने शाकलद्वीप और
विन्ध्य पर्वतके पासके राजाओंको जीता ॥ ५ ॥ सातों द्वीपोंमेंके
शाकलद्वीपमें जो राजे रहते हैं उनका अर्जुनकी सेनाके साथ घोर
युद्ध हुआ ॥ ६ ॥ हे राजन ! अर्जुनने उन बड़े २ बाणधारियों
को भी जीतलिया और उन सर्वोंको साथमें लेकर प्राग्ज्योतिष
देशपर चढ़ाई करी ॥ ७ ॥ हे महाराज ! तहाँ एक भगदत्त नाम
वाला बड़ा राजा था उसके साथ वीर अर्जुनका घोर युद्ध होने
लगा ॥ ८ ॥ उस प्राग्ज्योतिष देशके स्वामी भगदत्तके साथ
किरात, चीन आदि और भी बहुतसे समुद्री टापुओंके रहनेवाले
योधा थे ॥ ९ ॥ उसने आठ दिन बराबर युद्ध करके अर्जुनको
घबड़ाया हुआ न देखकर हँसतेहुए कहा, कि—॥ १० ॥ हे महा-
बाहो ! तुम देवराज इन्द्रके अंशसे मकटे हो युद्धमें शोभा देनेवाले
तुममें ऐसा बलविक्रम होमा ठीकही है ॥ ११ ॥ मेरी इन्द्रसे विजना
है मैं भी रणभूमिमें बल पराक्रम दिखानेमें इन्द्रसे कुछ कम नहीं

॥ १२ ॥ त्वमीप्सितं पांडवेण ब्राह्म किं करवाणि ते । यद्वक्ष्यसि
महाबाहो तत् करिष्यामि पुत्रक ॥ १३ ॥ अर्जुन उवाच । कुरुणा-
ग्रपभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः । धर्मज्ञः सत्यसन्धश्च यज्वा
विपुस्तदक्षिणः । तस्य पारिव्रतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम् ॥ १४ ॥
भवान् पितृसखा चैव मीयमाणो मयापि च । ततो नाज्ञापयामि
त्वा मीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥ भगदत्त उवाच । कुन्तीमात-
र्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः । सर्वमेतत् करिष्यामि किञ्चा-
न्यत् करवाणि ते ॥ १६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भगदत्तत्रये

पट्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनञ्जयः ।
अनेनेव कृतं सर्वं भविष्यत्यनुजानता ॥ १ ॥ तं विजित्वा महा-

हू तथापि हे तात ! गणभूमिमें तुम्हारे सामने खड़ा नष्ट होसकता
॥ १२ ॥ हे महाबाहो पाण्डुनन्दन ! अब यताओ तुम्हारी क्या
इच्छा है ? मैं वही करूंगा, पेडा ! निश्चय रखो, कि-तुम जो कुछ
कहोगे वही होगा ॥ १३ ॥ यह सुनकर अर्जुनने कहा, कि-
कुलकुलतिलक, धर्मनन्दन, सत्यपतिज्ञ धर्मात्मा धर्मराज बड़ी भारी
दक्षिणाका यज्ञ करना चाहते हैं मैं उनका चक्रवर्ती होना
चाहता हूँ, आप उनको कर दीजिये ॥ १४ ॥ आप मेरे पिता
इन्द्रदेवके मित्र हैं और मेरे ऊपर भी आपने प्रेमभाव दिखाया
है, इस लिये मैं आपके ऊपर आज्ञा तो नहीं करसकता, किंतु मीति
भावसे कर दीजिये ॥ १५ ॥ यह सुनकर भगदत्तने कहा, कि-हे
कुन्तीनन्दन ! मेरे लिये जैसे तुम प्रेमपात्र हो तैसे ही राजा युधिष्ठिर
हैं, इस कारण मैं ऐसा ही करूंगा, अच्छा यताओ मुझ और क्या
करमा होगा ? ॥ १६ ॥ पट्विंश अध्याय समाप्त ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं कि-भगदत्तके ऐसा कहने पर अर्जुन
ने कहा कि-हे महात्मा ! आपने इस बातको स्वीकार करलिया,
इससे ही हमारा सब काम होगया ॥ १ ॥ कुन्तीकुमार अर्जुन उस

बाहुः कुन्तीपुत्रो धनञ्जयः । प्रययावुत्तरां तस्मादिशं धनदपालि-
ताम् ॥ २ ॥ अन्तर्गिरिश्च कौन्तेयस्तथैव च वहिर्गिरम् । तथैवो-
पगिरिश्चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥ विजित्य पार्वताम् सर्वान्
ये च तत्र नराधिपाः । तान् वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय
सर्वराः ॥ ४ ॥ तैरेव सहिनः सर्वैरनुरज्य च तान्मृगान् । बलूक-
वासिनं राजन् वृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ५ ॥ मृदङ्गवरनादेन रथनेमि-
स्वनेन च । हस्तिनाश्च निनादेन कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ६ ॥
ततो वृहन्तस्त्वरितो घलेन चतुरङ्गिणा । निष्कम्प्य नगरात्तस्मा-
द्योधयापास फाल्गुनम् ॥ ७ ॥ सुमहान् सन्निपातोऽभूद्धनञ्जय-
वृहन्तयोः । न शशाक वृहन्तस्तु सोढुं पापद्वयविक्रमम् ॥ ८ ॥
सोऽविपद्गतयं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः । उपावर्त्तत दुर्द्धपो रत्ना-
न्यादाय सर्वशः ॥ ९ ॥ स तत्राज्यमवस्थाप्य बलूकसहितो ययौ

भगदत्तको जीतकर तहाँसे कुवेरकी रक्षाही हुई उत्तर दिशाकी
ओरको गया ॥ २ ॥ तहाँ कुन्तीनन्दन अर्जुनने पहाड़ोंके भीतर
के पहाड़ोंके बाहरके और पहाड़ोंके पासके सब स्थानोंको अपने
हाथमें करलिया ॥ ३ ॥ हे राजन् ! सकल पर्वत और तहाँ जो
राजे थे उन सर्वोंको जीता और उन सर्वोंको अपने वशमें करके
उनमें बहुतसा धन लिया ॥ ४ ॥ उन राजाओंको मसग्न कर
सर्वोंको साथमें लिये हुए मृदङ्गोंकी ध्वनि, रथोंके घरघराहट और
हाथियोंकी बिघाड़ने पहाड़ और भूमिको अट्टी हुई और कंपायमान
करताहुआ बलूकवासी राजा वृहन्तके ऊपर चढ़कर गया ॥ ५-६ ॥
तब तो वृहन्त तुरत ही चतुर्गिणी सेनाके साथ राजधानीमेंसे
निकल कर अर्जुनके साथ संग्राम करनेलगा ॥ ७ ॥ अर्जुनके साथ
पर्वतराज वृहन्तका घोर संग्राम होनेलगा अन्तको वृहन्त अर्जुन
के यत्न विक्रमको नहीं सहसका ॥ ८ ॥ तब वह कुन्तीनन्दनको
पढ़ा असह्य समझ बहुतसा धन लियेहुए उनकी शरणा में आया
हे राजन् ! तदनन्तर कुन्तीनन्दनने वृहन्तको राज्य वृहन्तको ही

सेनाविंदुमयो राजान्नाज्यादाशु समाक्षिपत् ॥ १० ॥ मोक्षापुरं
 वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम् । उलूकानुत्तरांश्चैव तान्श्च राज्ञः
 समानयत् ॥ ११ ॥ तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात् ।
 किराटी जितवान् राजन्देशान् पञ्चगणांस्मतः ॥ १२ ॥ स देव-
 मस्थमासाय सेनाविन्दोः पुरं प्रति । यत्नेन चतुर्गणेन निवेशम-
 करोत् मधुः ॥ १३ ॥ स तैः परिहृतः सर्वेर्विश्वगश्वं नराधिपम् ।
 अम्पगञ्जम्हातेजाः पौरवं पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥ विजित्य
 चाह्वे शूणान् पार्वतीयान्महारथान् । जिगाम सेनया राजन्
 पुरं पौरवराक्षितम् ॥ १५ ॥ पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून्
 पर्वतवासिनः । गणानुत्सवसंकेतान्मत्रयस् सप्त पाण्डवः ॥ १६ ॥
 ततः काश्मीरकान् वीगान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभम् । व्यजय-
 ज्जोहितश्चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥ १७ ॥ ततस्त्रिगर्ताः कौन्तेयं दारवाः ।

देकर उलूकको साथमें लियेहुए सेनाविंदुके देशपर चढ़ाई करदी
 और उसको गद्दीसे उतार दिया ॥ १० ॥ फिर उसमें मोक्षापुर,
 वामदेव, सुदामा, सुसंकुल और उचर उलूक देशके अनेकों
 राजाओंको बशमें करा ॥ ११ ॥ अर्जुनने तहाँ रहकर ही धर्मराज
 युधिष्ठिरके अटल शासनके प्रभावसे पञ्चगण देशोंको जीता १२
 फिर चतुरंगिणी सेना सहित सेनाविंदुकी राजधानीसे चलकर
 और देवमस्थमें पहुँचकर पड़ाव डाला ॥ १३ ॥ तहाँसे सेनाको
 साथमें लियेहुए मशमतापी अर्जुन वीर पौरवराज विश्वगणके
 समीप पहुँचा ॥ १४ ॥ हे राजन् ! तहाँ अनेकों पर्वतों तथा महा-
 रथी शूरोँके संग्राममें हराकर सेना सहित पौरवपुरी पर अधि-
 कार करलिया ॥ १५ ॥ पांडुनन्दनने संग्राममें पौरव और पद्मादी
 लुटेरोंको जीतकर सातपकारके उत्सवसंकेत नामक मलेच्छ
 जानिके गणोंको जीता ॥ १६ ॥ फिर उसने काश्मीर देशके वीर
 क्षत्रियोंको और दश मण्डलों सहित राजा लोहितसे जीता १७
 फिर हे राजन् त्रिगर्त, दारु और कोकनद देशके सब क्षत्रिय

निर्जितस्य मानसं सर उत्तमम् । अष्टपिण्ड्यास्तथा सर्वा ददर्श
 कुलनन्दनः ॥ ४ ॥ सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
 गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् पाण्डवहातः ॥ ५ ॥ तत्र तित्तिरि-
 क्कम्पापान् मण्डूकाख्यान्हयोत्तमान् । तेषु स करमस्यन्तं गन्धर्व-
 नगरात्तदा ॥ ६ ॥ उत्तरं हरिवर्षम्तु स समासाद्य पाण्डवः । इदं
 जेतुं तं देशं पारुशासननन्दनः ॥ ७ ॥ तत्त एनं महावीर्यं
 महाकायां महानलाः । द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन्
 ॥ ८ ॥ पार्थ नेदं स्वयां शक्यं पुरं जेतुं कथञ्चन । उपा-
 यत्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमब्रुत ॥ ९ ॥ इदं पुरं यः प्रविशेद्
 ध्रुवं न स भवेन्नरः । प्रीयामहे स्वयां वीर पर्याप्तो
 विजयस्तव ॥ १० ॥ न चान् किञ्चिज्जेतव्यमञ्जुर्नान मद्दरपते ।

ही जीतकर परमश्रेष्ठ मानसरावर पर ॥ हुंचा तहाँ बहुतसे अष्टपिण्डों
 के सकल आश्रमोंके देखा ॥ ४ ॥ मानसरोवरके पास जाकर
 हाटकरके चारों ओर बसे हुए गंधर्वोंके रक्षा किये हुए सब देशों
 पर अधिकार किया ॥ ५ ॥ तदनन्तर उन सब गन्धर्वनगरों से
 अर्जुनने करमें विजित, कम्पाप और मण्डूक नामक बहुतसे घोड़े
 लिये ॥ ६ ॥ फिर इंद्रकुमार अर्जुनने उत्तर हरिवर्षमें जाकर
 उस देशको जीतना चाहा ॥ ७ ॥ तब तो पड़े २ शरीरवाले महा-
 वीर महाबली द्वारपालोंने आकर मसन्नचित्तसे कहा, कि-॥ ८ ॥
 हे अर्जुन ! तुम इस नगरको किसी प्रकार भी नहीं जीतसकते हे
 महाभाग ! यही बहुत है, कि-तुम यहाँसे लौटकर चले जाओ,
 यह नगरी पूरी २ सेना सामग्रीसे संपन्न है ॥ ९ ॥ हे वीर !
 जो इस नगरीमें प्रवेश भी करलें वह साधारण मनुष्य नहीं माने
 जासकते, हम आपके ऊपर मसन्न हैं । हे वीर ! जब आप
 यहाँ घुसआये तो यही आपका विजय होगया ॥ १० ॥
 हे अर्जुन ! देखो यहाँ कोई पदार्थ जीतने योग्य दीखता ही नहीं

उत्तराः कुरुषो ॥ ते नात्र युद्धं प्रवर्त्तते ॥ ११ ॥ प्रविष्टोऽपि हि
 कौन्तेय नेह द्रव्यसि किंनर । न हि मानुषदेहेन शत्रुमनाभिधीक्षि-
 तुम् ॥ १२ ॥ अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिद्व्यञ्चिकीर्षसि । तत्
 प्रग्रहि करिष्यामो वचनात्तव भारत ॥ १३ ॥ ततस्तानववीद्राज-
 न्नर्जुनः महसन्निव । पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः
 ॥ १४ ॥ न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः । युधिष्ठिराय
 यत् किञ्चित् करण्यं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥ ततो दिव्यानि वस्त्राणि
 दिव्यान्याभरणानि च । क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः
 करम् ॥ १६ ॥ एवं स पुरुषव्याघ्रो निर्भित्य दिशमुत्तराम् । संग्रामान्
 मुनहन् कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ॥ १७ ॥ स विनिर्जित्य
 राज्ञस्तान् करे च विनिपेक्ष्य तु । धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि
 विविधानि च ॥ १८ ॥ हयांस्तत्तिरिक्त्वामान् शुक्पत्रनिभानपि ।

इस देशका नाम उत्तरकुरु है यहां कभी युद्धका अवसर आता ही
 नहीं ॥ ११ ॥ आप इस नगरमें घुसआये, परन्तु स्थानके प्रभाव
 से कोई वस्तु भी आपको प्रत्यक्ष नहीं दीखती, क्योंकि-यहांका
 कोई पदार्थ मनुष्यशरीरसे दीख ही नहीं सकता ॥ १२ ॥ हे
 भरतकुलके वीर ! अब आप यहां कोई काम सिद्ध करना चाहें
 तो कहिये, आपके कहते ही हम उसको करदेंगे ॥ १३ ॥ हे राजन् !
 तब अर्जुनने हंसतेहुए उनसे कहा, कि-मैं युद्धिमान् युधिष्ठिरके
 चक्रवर्तीपनेकी प्रश्रुताका चाहता हूँ ॥ १४ ॥ यदि तुम्हारे इस देश
 में मनुष्योंका जाना अनुचित है तो मैं तुम्हारे नगरमें नहीं घुमूंगा
 परंतु तुम युधिष्ठिरके लिये कुछ कर देदो ॥ १५ ॥ तब उन द्वार-
 पालोंने अर्जुनको दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण, दिव्य मृगचर्म
 और यहमूल्य रेशमी वस्त्र यह सब पदार्थ करमें दिये ॥ १६ ॥
 इसप्रकार वीर अर्जुनने उत्तरदिशाको जीतकर तथा अनेकों
 क्षत्रिय और लुटेरोंके साथ संग्राम करके उनको जीता और कर देना
 स्वीकार करने पर फिर राज्य लांछादिया तथा उन सर्वोसे बहुत
 सा धन अनेकों रत्न तीतरोकेसे विचित्र वर्णके, तोतेकेसे रंजके

मयूरासदृशानन्याम् सर्वाननिलरहसः ॥ १८ ॥ वृतः सुमहता
राजन् पत्नेन चतुरङ्गिणा । आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरो
चमम् ॥ २० ॥ धर्मराजाय तत् प्रार्थो धनं सर्वं सवाहनम् ।
न्यवेदमदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान् ययौ ॥ २१ ॥ ॥ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वण्यर्जुनोत्तरदिग्विजयेऽ-
ष्टविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच । एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यं
वान् । धर्मराजमनुज्ञाय ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥ महता पल-
चक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना । हस्त्यश्वरथपूर्येण दक्षितेन प्रतापवान् ॥ २ ॥
वृत्तो भरतश्चादूखो द्विपञ्चोकविवर्द्धनः । स गत्वा नरशादूलः
पञ्चात्मानां पुरं महत् ॥ ३ ॥ पश्चात्तान्निविशोपायैः सान्त्वया-
मास पाण्डवः । ततः स गण्डकान् शूरो विदेहान् भरतर्षभ ॥ ४ ॥
विजित्पाल्येन कालेन दशार्णानजयत् प्रभुः । तत्र दशार्णको

और मोरकी समान विधिसे वर्णके वायुको समान वेगगामी घोड़ों
को लिया ॥ १-२ ॥ हे राजन् ! फिर बड़ी भारी चतुरङ्गी
सेनाको साथ लिएहुए अपनी राजधानी इन्द्रप्रस्थमें आ पहुँचे २०
और माहनों सहित वह सब धन धर्मराजको देकर उनकी आज्ञा
से अपने महलमें चले गये ॥ २१ ॥ अष्टाविंश अध्याय समाप्त २८

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजन् ! उसी अवसरमें प्रतापी
वीर भीमसेन भी युधिष्ठिरकी आज्ञा पाकर हार्थी घोड़ोंसे भरी
हुई शत्रुके राज्यको कुचल डालने वाली बहुतसी सेनाको साथमें
लियेहुए पूर्वदिशाको चल दिया ॥ १-२ ॥ और शत्रुदलके शोक
को घटानेवाला वह भरतकुलके सरी शीघ्र ही पाश्चात् देशकी बड़ी
भारी राजधानीमें पहुँच गया ॥ ३ ॥ और भीमसेनने अनेकों
उपायोंसे पाश्चात्प्रायोंको अपने वशमें किया, फिर वह भरत-
वशी शूर गण्डके और विदेह देशमें आ पहुँचा ॥ ४ ॥ उनको जीत
कर भीमसेनने सोडे हो समग्रमें दशार्ण देशको जीत लिया, उस

राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ॥ ५ ॥ कृतवान् भीमसेनेन महयुद्धं
 निरायुधम् । भीमसेनस्तु तद्दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः ॥ ६ ॥
 अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् । ततः मार्चं दिशं भीमो
 ययौ भीमपराक्रमः ॥ ७ ॥ सैन्येन महता राजन् कम्पयन्निव
 मेदिनीम् । सोऽश्वमेधेश्वर राजन् रोचमानं सहायुगम् ॥ ८ ॥
 जिगाप समरे वीरो बलेन बलिनाम्बरः । स तं निर्मित्य कौन्तेयो
 नातितीव्रले कर्मणा ॥ ९ ॥ पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुङ्क-
 नन्दनः । ततो दक्षिणभागस्य पुलिन्दनगरं महत् ॥ १० ॥ सुकुमारं
 वशं चक्रे सुमित्रश्च नराधिपम् । ततस्तु धर्मराजस्य शासना-
 न्तरतर्पणः । शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाञ्जनमेजय ॥ ११ ॥
 चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चित्रीर्यितम् । उपनिष्क्रम्य
 नगरात् पश्यगृह्णात् परन्तप ॥ १२ ॥ तौ समेत्य महाराज हृद-

दशार्णं देशके राजा सुधर्मने भीमसेनके साथ विना शस्त्रके ही
 घोर बाहुयुद्ध किया, उस महाबली राजाके इस विचित्र भुगबल
 के पराक्रमकी परीक्षा करके भीमसेनने उसको अपने सेनापतिता
 पद दे दिया और फिर वह भीमपराक्रमी भीमसेन पूर्वदिशाने और
 आगेको चल दिया ॥ ५-७ ॥ हे राजन् ! उस पतुवानोंमें श्रेष्ठ
 वीरने वही भारी सेनासे भूमण्डलके कम्पायमान करते हुए
 अश्वमेध देशके राजा रोचमानको सहायकों सहित संग्राममें जीता
 और उसको जीतकर महाबली भीमने थोड़ेसे पराक्रमसे ही सब
 पूर्वदेशके जीतलियां फिर दक्षिण दिशारे चल दिया तदा दृष्टे
 भारी पुलिन्दनगरमें आकर ॥ ८-१० ॥ सुकुमार और सुमित्र
 नामक राजाको नशमें किया हे अनमेजय ! तदनन्तर धर्मराज युधि-
 ष्ठिरकी आज्ञाके अनुसार भीमसेन महारथों शिशुपालके पास
 पहुँचा ॥ ११ ॥ चेदिदेशका स्वामी शिशुपाल भीमसेनकी शनि-
 लापागे अन्ध प्रकार समझकर अपने नगरसे बाहर बसा आया
 और भीमसेनसे मिला ॥ १२ ॥ हे महाराज ! उन कुङ्कुल और

चेदिष्टौ तदा । उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ॥ १३ ॥
ततो निवेद्य तद्वापुं चेदिराजो विशाम्पते । उवाच भीमं महसन्
किमिदं कुरुषेऽनघ ॥ १४ ॥ तस्य भीमस्तदाचक्षुषौ धर्मराज-
विकार्षितम् । स च तं प्रतिशृण्वैव तथा चक्रं नराधिपः ॥ १५ ॥ ततो
भीमस्तत्र राजन्नुपित्वा त्रिदशाः क्षपाः । सत्कृतः शिशुपालेन
ययौ सवलवाहनः ॥ १६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजय

एकोनविंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः कुमारविषये श्रेष्ठिमन्तमयाजयत् ।
कोशलाधिपतिं चैव वृहद्वलपरिन्दमः ॥ १ ॥ अयोध्यायान्दु-
धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् । अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रये
कर्मणा ॥ २ ॥ ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि केसलान् ।

चेदिर्दशके दोनों वीरोंने परस्पर मिलकर अपने अपने संबंधियों
को कुशल पूछी ॥ १३॥ तदनन्तर हे महाराज ! शिशुपालने अपने
राज्यकी दशा सुनाकर हँसतेहुए भीमसेनसे कहा, कि-हे महा-
बाहो ! अबतुम किस कामको सिद्ध कर रहे हो ॥ १४ ॥ तब भीम-
सेनने कहा, कि-मैं धर्मराजकी आज्ञासे दिग्विजयके लिये
निकला हूँ और राजाओंसे करलेता फिरता हूँ यह सुनते ही
शिशुपालने स्वीकार करके कर दे दिया ॥ १५॥ हे राजन् ! भीम-
सेन तहाँ तीस दिन ठहरे और शिशुपालसे आदर सत्कार पा
कर सेनासहित तहाँ से चलादिये ॥ १६ ॥ एकोनविंश अध्याय
समाप्त ॥ २६ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायनजीने कहा, कि-हे मनमेजय ! तदनन्तर शत्रुनाशी
भीमसेनने कुमार देशमें राजा श्रेष्ठिमान् और कोशलदेशके स्वामी
वृहद्वलसे जीता ॥ १ ॥ फिर अयोध्यामें जाकर कामल पराक्रम
से धर्मात्मा महायुद्धी दीर्घयज्ञको जीता ॥ २ ॥ फिर गोपालकक्ष,

मल्लानामधिपं चैव पार्थिवश्चाजयत् प्रभुः ॥ ३ ॥ ततो हिमवतः
 पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम् । सर्वमन्येन कालेन देशं चक्र वशं
 वली ॥ ४ ॥ एवं बहुविधान् देशान्विजिग्ये भरतर्षभ । भल्लाट-
 मभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ॥ ५ ॥ पाण्डवः स महावीर्यो
 वसेन यत्किना वरः । स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्त्तिनम् ॥ ६ ॥
 वशे चक्र महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः । ततः सुपार्ष्वमभितस्तथा
 राजपतिं क्रथम् ॥ ७ ॥ युज्यमानं बल्लात्सरूपे विजिग्ये पाण्डव-
 र्षभः । ततो मत्स्यान्महातेजा मलदांश्च महाबलान् ॥ ८ ॥ अनघा-
 नभयांश्चैव पशुभूमिश्च सर्वशः । निवृत्त्य च महाबाहुर्मदधारं
 महीधरम् ॥ ९ ॥ सोमधेयांश्च निजित्य प्रययात्सुतरामुखः । वत्स-
 भूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान् बलात् ॥ १० ॥ भर्गाणामधिपं
 चैव निपादाधिपतिं तथा । विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्स्रुखान्
 बहून् ॥ ११ ॥ ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।

उत्तरकोशल देश और मल्लपुरीको जीता ॥ ३ ॥ फिर बलवान्
 भीमने हिमालयके पास जलोत्पन्न देशमें पहुँचकर थोड़े ही समय
 में सब देशको अपने वशमें कर लिया ॥ ४ ॥ हे महाराज ! इस
 प्रकार भीमसेनने बहुतसे देशोंको जीतलिया फिर भल्लाट और
 शुक्तिमान् पर्वतको सब ओरसे वशमें कर लिया ॥ ५ ॥ बलवानों
 में श्रेष्ठ महावीर भीमसेनने अपने भुजबलसे रणमें काशिराज
 और सुबाहुको जीता ॥ ६ ॥ फिर महापराक्रमी महाबाहु भीमने
 सुपार्ष्व और रणमें युद्ध करते हुए राजपति क्रथको बलपूर्वक
 जीता फिर उस महातमैस्वीने मत्स्य महाबली मलद ॥ ७ ॥ ८ ॥
 अनघ, अमय और सकल पशुभूमिको जीता, फिर तहाँसे लौटकर
 मदधार पर्वत और सामधेयोंने जीत कर उत्तरकी ओरको चलदिया
 उस उत्तर देशमें पहुँचकर महाबली भीमने अपने बलसे वत्सभूमिको
 जीत लिया ॥ १० ॥ फिर भर्मदेशके राजा और निपाट देशके राजा
 तथा मणिमान् आदि बहुतसे राजाओंका पराजय किया ॥ ११ ॥

तरसे राजपक्षीयो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥ शर्मकान् वर्म-
 कांश्चैव व्यभयत् सान्त्वपूर्वकम् । स वैदेहं न राजानं जनकं जगती
 पतिम् ॥ १३ ॥ विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नातितीव्रेण कर्मणा
 शक्त्यैव वर्मकांश्चैव अन्यचद्रनपूर्वकम् ॥ १४ ॥ वैदेहस्यस्तु कौन्तेय
 इन्द्रपर्वतपन्तिफात् । किरातानामपिपतीनजयत्सप्त पाण्डवः १५ ततः
 सुह्यान् प्रमुह्यांश्च खपन्तानपि वीर्यवान् । विजित्य युधि कौन्तेयो
 मागधानभ्ययाद्वजी ॥ १६ ॥ दंडं च दंडधारं च विजित्य पृथिवी-
 पतीन् । तैरेव सहितः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ १७ ॥ जारासं वि-
 सान्त्वयित्वा करे च विनिर्वेश्य ह । तैरेव सहितः सर्वैः कर्णमभ्य-
 द्रवद्वती ॥ १८ ॥ स कल्पपन्निव महीं वलेन चतुरङ्गिणा । युयुपे
 पांडवश्रेष्ठः बाणेनाभिवाप्यतिना ॥ १९ ॥ स कर्णं युधि विजित्य
 वशे कृत्वा च भारत । ततो विजिग्ये वलवान् राज्ञः पर्वतवासिनः
 फिर भीमने दक्षिणपल्ल देश और भोगवन्त पर्वतको अपनी दंशक
 से सहजमें ही जीत लिया ॥ १२ ॥ फिर सामनीतिसे शर्मक
 वर्मके राजाओंको जीतकर राजा वैदेहक और भूमिपति जनक
 को साधारण पराक्रमसे जीत लिया और शक तथा वर्मरोंको
 कपटनीतिसे अपने वशमें किया ॥ १३ ॥ १४ ॥ फिर कुन्तीनंदन
 भीमसेने इन्द्राचलके समीप निदेह देशमें ठहरकर ही किरातों
 के सात राजाओंको अपने वशमें किया ॥ १५ ॥ वली भीमसेन
 ने फिर अपने पञ्चमें होनेपर भी मुह्य और प्रमुह्योंको युद्धमें जीत
 कर मगध देशपर चढ़ाई करी ॥ १६ ॥ तहां दण्ड, दण्डधार तथा
 और बहुतसे राजाओंको वशमें करके उनके ही साथ गिरिव्रज
 को चलादिये ॥ १७ ॥ तहां जरासन्धके पुत्र सहदेवको समझाकर
 धीर कर ले कर उसको साथमें लिये हुए कर्णके ऊपर धावा कर
 दिया ॥ १८ ॥ उस वीर पाण्डवने चतुरङ्गिणी सेनाके द्वारा पानों
 भूमिसे कांपायमान करते हुए शमुचावी कर्णके साथ युद्ध किया
 ॥ १९ ॥ हे भारत । उसने युद्धमें कर्णको जीतकर और वशमें

॥ २० ॥ शय मोदागिरौ चैव राजान बलवचरम् । पाण्डवो माहु-
चीर्येण निजगान महामृधे ॥ २१ ॥ ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासु-
देवं महाबलम् । कौशिकीरुच्छनिलयं राजानश्च महानसम् ॥ २२ ॥
उभौ यत्नभृतौ वीराब्रुभौ तीव्रपराक्रमौ । निर्जित्वाजौ महाराज
पद्मराजमुपाद्रत् ॥ २३ ॥ समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनश्च पार्थि-
वम् । ताम्रलिप्तश्च राजानं कर्बटाधिपतिं तथा ॥ २४ ॥ सुक्ता-
नामधिपञ्चैव ये च सागरवासिनः । सर्वान् म्लेच्छगणान् चैव
विजित्ये भरतर्षभः ॥ २५ ॥ एव बहुविधान् देशान् विजित्य पवना-
त्पुत्रः । पशु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद्वली ॥ २६ ॥ स सर्वान्
म्लेच्छनृपतीन् सागरानूपवासिनः । क्रमाद्वारयामास रत्नानि
विविरानि च ॥ २७ ॥ चन्दनागुरुखाणि मणिगौक्तिककम्बलम् ।
काञ्चनं राजतञ्चैव विमदुश्च महाधनम् ॥ २८ ॥ ते कोटीशतसंख्येन
कौन्तेयं महता तदा । अभ्यर्पन्महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम्

कौरवों के फिर परतवासी राजाओं को जीता ॥ २० ॥ फिर भीमसेन
ने मोदाचल पर जा अपने बाहुबलसे बड़ाभारी संग्राम कौरवों तहाँ
के महाबली राजाका संहार किया ॥ २१ ॥ फिर महाबल महा-
वीर पुण्ड्राधिपति वासुदेव और कौशिक नदीके टापूमें रहनेवाला
महातेजस्वी राजा ॥ २२ ॥ यह दोनों, वीर और तीव्र पराक्रमी थे
हे महाराज ! इनको संग्राममें जीतकर बङ्गदेशके राजाके ऊपर चढ़ाई
करी ॥ २३ ॥ राजा समुद्रसेन चन्द्रसेन और कर्बट देशके स्वामी
राजा ताम्रलिप्त को जीतकर ॥ २४ ॥ हे महाराज ! भीमसेनने सुक्त
देशके राजाओं को और महासागरके तटपर रहनेवाले सकल म्लेच्छ
राजाओं को जीता ॥ २५ ॥ पवननन्दन बली भीमसेन इसप्रकार
पशुनसे देशोंको जीतकर और उनसे धन लेकर लौहित्यके पास
आये ॥ २६ ॥ तहाँ सागरके तट और टापुओंमें रहनेवाले सकल
म्लेच्छ राजे अनेकों प्रकारके रत्न, चदन, अमर, वस्त्र, मणियाँ, मोती
कवच, सोना चाँदी और मूँगे आदि सैकड़ों करोड़ोंका धन ले
कर भीमसेनको कर देने आये उन्होंने महाबली भीमसेनके ऊपर

॥ २९ ॥ इन्द्रवत्स्यमुत्तमस्य भीमो भीमपराक्रमः । निवेदयामास
तदा धर्मराजाय तद्वनम् ॥३०॥ अ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिविजये

त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच । तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः ।
महत्या सेनया राजन् प्रपयो दक्षिणां दिशम् ॥ १ ॥ स शूर-
सेनान्नास्त्वय्येन पूर्वमराजयत् प्रभुः । मत्स्यराजश्च कौरव्यो वशो
चक्रं बलाद्वचो ॥ २ ॥ अधिराजापि चैव दन्तवज्रं महाबलम् ।
निगाय करदं चैव कुन्ता राज्ये न्यवेशयत् ॥३॥ सुकुमारं वशो चक्रं
सुभिज च नराधाम् । तथैव परमत्स्यांश्च व्यजयत् सपटञ्चरान्
॥ ४ ॥ निषादभूमिं गोशृङ्गं पर्वतमवरं तथा । सरसैर्वाजप-
त्नीणान् श्रेणिमन्त च पारिवम् ॥५॥ नरराष्ट्रश्च निर्जित्य कुन्ति-
भोजगुण्डम् ॥ मीतिपूर्वश्च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम् ॥६॥

मानो धनकी वर्षा करदी ॥ २० ॥ २६ ॥ घोर पराक्रमी भीम-
सेन उस सब धनको लेकर इन्द्रवत्स्यको चलेआये और वह धन
धर्मराजको अर्पण करदिया ॥ ३० ॥ त्रिंश अध्याय समाप्त ३०

वैशम्पायनजीने कहा कि—हे महाराज ! तिसीप्रकार सत्कार-
पूर्वक धर्मराजके भेजेहुए सहदेव भी बहुतसी सेनाको साथमें ले
कर दक्षिण दिशाको गए ॥ १ ॥ उस कुरुवंशी सहदेवने पहिले
मथुरा नगरीको पूर्णरूपसे जीता और फिर मत्स्यदेशके राजा
को अपने बलसे वशमें किया ॥ २ ॥ तदनन्तर अधिराजके स्वामी
महानली दन्तवज्रको जीता और उसको कर देनेवाला करके
राज्य पर स्थापित करदिया ॥ ३ ॥ तदनन्तर सुकुमार और राजा
सुभिजके वशमें करके दूसरे मत्स्य तथा पटञ्चरोंको जीता ॥४॥
बुद्धिमान सहदेवने निषादभूमि गोशृङ्ग पर्वत और श्रेणिमान
राजाको बलात्कारसे वशमें किया ॥ ५ ॥ फिर नवराट्टको जीत
कर कुन्तिभोजके ऊपर चढ़ाई करी कुन्तिभोजने प्रसन्नताके साथ

ततश्चर्मण्वतीकूलो जम्भकस्यात्मजं नृपम् । ददर्श वासुदेवेन
 शेषितं पूर्ववैरिणा ॥ ७ ॥ चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत ।
 स तमाग्नौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ॥ ८ ॥ सेकानपर-
 सेकांश्च व्यजयत् सुमहाबलः । करं तेभ्य उपादाय रत्नानि वि-
 विधानि च ॥ ९ ॥ ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ । विन्दा-
 नुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महता वृतौ ॥ १० ॥ जिगाय समरे
 धीरावाशिनेयः मत्तापवान् । ततो रत्नान्युपादाय पुरं भोजकटं
 ययौ ॥ ११ ॥ तत्र युद्धमभूदाजन् दिवसद्वयमव्युतं । स विजित्य
 दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः ॥ १२ ॥ कोसलाधिपतिं चैव तथा
 वेणवातठाधिपम् । कान्तारकांश्च समरे तथा प्राकोटकान्मुपान् १३
 नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान्युधि । मारुथं च विनिर्जित्य
 रम्यग्राममथो वलात् ॥ १४ ॥ पाचीनानवर्तुकांश्चैव राजानश्च महा-

सहदेवकी आज्ञाको स्वीकार कर लिया ॥ ६ ॥ फिर चर्मण्वती
 नदीके तटपर वासुदेवसे जीतकर ब्योडेहुए पुराने बरी राजा जम्भक
 कुमारको देखा ॥ ७ ॥ हे महाराज ! उसने सहदेवके साथ
 संग्राम किया सहदेव संग्राममें उसको जीतकर दक्षिणकी ओरको
 चलेगए ॥ ८ ॥ तहां सेक और अपरसेकोंने सहदेवसे हार मानी
 सहदेव उनसे कर तथा अनेकों प्रकारके रत्न लेकर ॥ ९ ॥ उन
 को साथमें लियेहुए नर्मदा नदीकी ओरको चलेगये तहां बड़ी
 भारी सेनावाले अवन्तिदेशी महावीर बिंद और अनुविंदको युद्ध
 में जीता और पत्तापी सहदेव उनसे अनेकों प्रकारके रत्न ले भोज-
 कट नगरको गये ॥ १० ॥ ११ ॥ हे महाराज ! तहां दो दिन
 तक बराबर युद्ध होता रहा अन्तमें सहदेवने किसी से न हवने
 वाले भीष्मकको जीतकर ॥ १२ ॥ कोशल देशके राजाको
 वेणवानदीके किनारेके राजाको आरण्यक और अयोध्याकी पूर्वी
 भागके स्वामीको संग्राममें जीता ॥ १३ ॥ फिर नाटकेय और
 हेरम्बकोंको युद्धमें जीतकर मारुथ और मुंज ग्रामको बलात्कार
 से अपने वशमें किया ॥ १४ ॥ फिर महाबली सहदेवने नाचीन

बलः । तांस्तानाटविकान् सर्वानजयत् पाण्डुनन्दनः ॥ १५ ॥
 वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रं महाबलः । पुलिन्दाश्च १ ए जित्वा
 ययौ दक्षिणतः पुरः ॥ १६ ॥ युयुधे पाण्डवराजेन दिवसं नकुला-
 नुजः । तं जित्वा स महाबाहुः ययौ दक्षिणापथम् ॥ १७ ॥
 एहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम् । तत्र वानरराजाभ्यां
 मैन्देन द्विविदेन च । युयुधे दिवसान् सप्त न च तौ विकृतिं गतौ
 ॥ १८ ॥ ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ । ऊचतुश्चैव
 संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ १९ ॥ गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्ना-
 न्यादाय सर्वशः । अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥ २० ॥
 ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ । तत्र नीलेन राज्ञा स
 चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ २१ ॥ पाण्डवः परवीरकृन्ः सहदेवः प्रताप-
 वान् । ततोऽस्य सुप्रद्युम्नासीद्भीरुमयङ्कुरम् ॥ २२ ॥ सैन्यक्षय-

अर्घुन और उन सकल वनके राजाओंको जीता ॥ १५ ॥ उस
 महाबलीने वातराजको हाथमें करके पुलिंदोंको युद्धमें जीतलिया
 और फिर दक्षिणदिशाकी ओर आगेको चलदिया ॥ १६ ॥ पाण्डव-
 राजके साथ महाबाहु सहदेवका एकदिन युद्ध हुआ और उसको
 जीतकर दक्षिणकी ओरको चलदिए ॥ १७ ॥ तदनन्तर त्रिलोकी
 में प्रसिद्ध किष्किना नामवाली शुक्लमें पहुँचगए, तहाँ वानरराज
 मैन्द और द्विविदके साथ सात दिनतक युद्ध किया, परन्तु वह
 जराभी नहीं घबड़ाए ॥ १८ ॥ उस समय उन दोनों महात्मा वानरों
 ने प्रसन्न होकर सहदेवसे प्रीतिके साथ यह बात कही कि-
 ॥ १९ ॥ हे पाण्डव वीर ! तुम हमसे बहुतसे रत्न लेकर यहाँ
 से चलेजाओ तुमने बुद्धिमान् धर्मराजके लिए जिस कामके करने
 का उद्योग किया है तुम्हार वह मनोरथ सिद्ध हो ॥ २० ॥ तहाँ
 से रत्न लेकर माहिष्मती नगरीमें गए और तहाँ सहदेवने महाराज
 नीलके साथ युद्ध किया ॥ २१ ॥ उन वीर शत्रुओंका वध करने
 वाले प्रतापी पाण्डुकुमार सहदेवका बड़ाभारी युद्ध करपोकोंने

करं चैव प्राणानां सशवावहम् । चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान्-
 न्दव्यवाहनः ॥ २३ ॥ ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि
 च । मदीक्षानि व्यहरयन्त सहदेवबले तदा ॥ २४ ॥ ततः स
 सम्भ्रान्तमना बभूवकुहनन्दनः । नोचरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभू-
 ज्जनमेजय ॥ २५ ॥ जनमेजय उवाच । किमर्थं भगवान् बद्धिः पत्य-
 मित्रोऽभवद्युधि । सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विजः ॥ २६ ॥
 वैशम्पायन उवाच । तत्र माहिष्मतीवासी भगवान् हव्यवाहनः
 श्रूयते हि शृङ्गीतो वै पुरस्तात् प्रारदारिकः ॥ २७ ॥ नीलस्य राज्ञो
 दुहिता बभूवातीव शोभना । साग्निहोत्रमुपातिष्ठद्विधनाय पितुः
 सदा ॥ २८ ॥ व्यजनेर्वृषमनोऽपि तावत् प्रज्वलते न सः ।
 यावच्चारुपुटौष्ठेन वायुना न विधूयते ॥ २९ ॥ ततः स भगवान्-

भयदायक हुआ ॥ २२ ॥ उसमें बहुतसी सेना मारी गई और शेष
 लोग अपने २ माणोंको सङ्क्रम्यें समझने लगे उस समय भगवान्
 अग्निदेवने राजा नीलकी सहायता करी ॥ २३ ॥ उस समय
 सहदेवकी सेनामें घोड़े, रथ हाथी, पुरुष और कवच सबही जलते
 हुए से दीखने लगे ॥ २४ ॥ हे जनमेजय ! यह दशा देखकर
 सहदेव मनमें बहुत ही परायासे और मुखसे भी कुछ नहीं कहसके
 ॥ २५ ॥ यह सुनकर जनमेजयने कहा, कि-हे धृपे ! सहदेव
 राजा युधिष्ठिरके लिये यज्ञका उद्योग कर रहे थे अग्नि भगवान्ने
 संग्राममें उनकी प्रतिह्वलता क्यों करी ॥ २६ ॥ वैशम्पायनजी
 कहते हैं, कि-हे राजन् ! ऐसा कहते हैं, कि-पहिले माहिष्मती-
 निवासी भगवान् अग्निदेव परस्त्रीलम्पट माने जाते थे ॥ २७ ॥
 राजा नीलकी एक सर्वाङ्गसुन्दरी कन्या थी, वह सदा अग्नि-
 होत्र के समय अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये पिताके पास
 बैठा करती थी ॥ २८ ॥ क्योंकि-वह अग्नि इस राजकुमारीके रम-
 णीय ओठोंसे निकले हुए वायुके बिना कितने ही पंखे झलने पर
 भी प्रज्वलित नहीं होता था ॥ २९ ॥ तदनन्तर अग्नि उस राजा

गिनश्चक्रे तां सुदर्शनाम् । नीलस्य राज्ञः मर्वेपादुपनीतश्च सोऽ-
भवत् ॥ ३० ॥ ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया । चक्रे तां
वरारोहां कन्यामुत्पलोचनाम् ॥ ३१ ॥ तन्तु राजा यथाशास्त्रम-
शासद्धार्षिकस्तदा । प्रजज्वाल ततः कोपाद्भगवान् हव्यवाहनः ३१
तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा आगम शिरसावनिम् । ततः कालेन, तां
कन्यां तथैव हि तदा नृपः ॥ ३३ ॥ प्रदुदौ, विमरूपाय बह्वये
शिरसा नवः । प्रविष्टा च तां सुभ्रू नीलराज्ञः सृता तदा ॥ ३४ ॥
चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः । वरेणाब्जादयामास तं
नृपं स्निष्टकृत्तमः ॥ ३५ ॥ अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै मही-
पतिः । ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात्तां पुरीं नृपाः ॥ ३६ ॥ जिगी-
पन्ति घलाद्राजंस्ते दहन्ते स्म वह्निना । तस्यां पुर्यां तदा चैव
माहिष्मत्यां क्रुद्धह ॥ ३७ ॥ वभूवुरनतिग्राहा योपितरुन्दतः

नीलकी कन्या पर आसक्त हो ब्राह्मणका रूप धारण करके उस
कमलदलनयना सुन्दरी कन्याके साथ अपनी इच्छानुसार विहार
करनेलगा और राजाका अनोदर कर सबके ही घरोंमें आनेजाने
लगा ॥ ३०-३१ ॥ धर्मात्मा राजाने इस बातको जानकर शास्त्रके
अनुसार दण्ड देनेकी आज्ञा दी, तब तो भगवान् अग्नि भी क्रोधसे
अधीर होठे ॥ ३२ ॥ राजा इस अद्भुत दशाको देखकर अचरज
में होगया और ब्राह्मणरूपधारी अग्निके साधने शिर भुकाकर
प्रणामकरने लगा, तब अग्निदेवके शांत होने पर राजाने शुभदिन
और शुभलग्नमें वह कन्या ब्राह्मणरूपधारी अग्निदेवको प्रणाम
करके देदी, अग्निदेव नील राजाकी कन्याको ग्रहण करके प्रसन्न
हो उस राजासे कहनेलगे, कि-हे महाराजा वर मांगो ३३-३४ तब
राजाने अपना और अपनी सेनाका निर्भयपना मांगा हे जनमेजय !
तबसे इस वृत्तांतको न जानकर जो राजे माहिष्मती नगरीको
जीतना चाहते हैं, भगवान् अग्निदेव उनको जलाया करते हैं और
हे राजन! तबसे ही इस माहिष्मती नगरीमें कोई भी स्त्रियोंको अपनी

किल । एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणापप्रतिवारणे ॥ ३८ ॥ स्वैरिण्य-
स्तत्र नार्यो हि यथेष्ट विचरन्त्युत । वर्जयन्ति च राजानंस्तत्पुरं
भरतर्षभ ॥ ३९ ॥ भयादग्नेर्महाराज तदा प्रभृति सर्वदा । सहदेव-
स्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयादितम् ॥ ४० ॥ परीतमग्निना राज-
न्नाकम्पत यथाचलः । उपस्पृश्य शुचिर्भुत्वा सोऽवशीत्पावकं ततः
॥ ४१ ॥ सहदेव उवाच ॥ त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णार्त्मन्मो-
ऽस्तु ते । मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावकः ॥ ४२ ॥ पावना-
त्पावकश्चासि बहनाद्धव्यवाहनः । वेदास्त्वदर्थं जाता वै जात-
वेदास्ततो ह्यसि ॥ ४३ ॥ चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो ।

इच्छानुमार नहीं रोकसकता, अग्निने तहांकी स्त्रियोंको घर दे दिया
है, कि—तुमको कोई रोक नहीं सकेगा ॥ ३९—४० ॥ इस
कारण तमसे वहांकी स्त्रियें स्वैरणी होकर अपनी इच्छाके अनुसार
विचरती हैं, यह दशा देखकर आर अग्निसे भयभीत होकर राजे
माहिष्मता नगरीको त्यागने लगे इसप्रकार पहिली कथा सुनाकर
चैराम्नायनने कहा, कि—हे महाराज जनमेजय ! सहदेव अपनी सेना
को अग्निसे घिरी हुई और भयसे घबड़ाई हुई देखकर भी आप
नहीं घबड़ाए भीघनकेसे पर्वतकी समान एरुजगह खड़े रहे और
कुछ देरमें स्नान आचमन कर इसप्रकार अग्निदेवकी स्तुति करने
लगे ॥ ४१—४२ ॥ सहदेवने कहा, कि—हे अग्निदेव ! यह
दिग्विजय आदिकी उद्योग आपका ही लिये है, हे अग्ने ! मैं
आपको प्रणाम करता हूं, हे पावक ! आप ही देवताओंके मुखरूप
और आप ही यज्ञस्वरूप हैं ॥ ४२ ॥ जगत्को पवित्र करते हो
इसकारण आपका नाम पावक है आप होमाहुआ पदार्थ देवताओं
के पास पहुंचाते हो इसकारण आपका नाम हव्यवाहन और वेद-
आपके निमित्त प्रकट हुए हैं, इसकारण सब लोग आपको जात-
वेदा कहते हैं ॥ ४३ ॥ हे विभावसो ! आप ही चित्रभानु सुरेश

स्वर्गद्वारस्पृशश्चासि हुताशो ज्वलनः शिखी ॥ ४४ ॥ वैश्वानरस्त्वं
 पित्रेशः प्लवङ्गो भरितेजसः । कुमारसूस्त्वं भगवान् रुद्रगर्भो हिरण्य-
 कृत् ॥ ४५ ॥ अग्निर्देदातु मे तेजो वायुः श्राणं ददातु मे ।
 पृथिवी चलमाध्वमाच्छिन्नं चापो दिशन्तु मे ॥ ४६ ॥ अर्वा गर्भ
 महासत्त्वं जातवेदः सुरेश्वर । देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन वि-
 पुनीहि माम् ॥ ४७ ॥ अपिभिर्वाक्साक्षैश्चैव दैवतैरसुरैरपि । नित्यं
 सुहृन् यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४८ ॥ धूमकेतुः शिखी च त्वं
 पापहानिलसंभवः । सर्वपाणिषु नित्यस्यः सत्येन विपुनीहि माम्
 ॥ ४९ ॥ एवं स्तुतोऽसि भगवन् प्रीतेन शुचिना मया । तृप्तिं पुष्टिं
 भुक्तिं चैव प्रीतिं चाग्ने मयञ्च मे ॥ ५० ॥ वैशम्पायन उवाच ॥
 इत्येवं मन्थमानेयं पठन्त्यो जुहुजादिभुम् । श्रद्धिमान् सततं दान्तः

और अनल हैं आप ही स्वर्गद्वारका स्पर्श करने वाले हुताशन,
 ज्वलन और शिखी हैं ॥ ४४ ॥ आप ही वैश्वानर, पित्रेश और
 प्लवङ्ग और सङ्गत तेजोंके निधि, स्वाभिकार्त्तिकेपक्षों उत्पन्न करने
 वाले हैं तथा आप ही भगवान् रुद्रगर्भ और हिरण्यकृत् हैं ४५
 हे अग्निदेव ! आप मुझ तेज दीजिये, हे वायो ! आप मुझ
 माण दें, पृथिवी मुझ पल देय और जल मुझ कम्पाण दें ४६
 हे अग्निदेव ! आप जलसे उत्पन्न हुए हैं, हे महाबल जातवेद !
 तुम सब देवताओंमें श्रेष्ठ और देवताओंके मुखरूप हो आप इस
 समय मुझ पवित्र करिये ४७ श्रद्धि, वाक्साक्ष, देव और असुर यह सब
 यज्ञोंमें सुन्दर आहुतियों देते हैं तब आप तभी विद्यमान होते हैं, इस
 समय सत्यके द्वारा मुझ पवित्र करिये ॥ ४८ ॥ तुम धूमकेतु,
 शिखी, पापोंके नाशक वायुसे मज्जलित होनेवाले और सदा सब
 पापियोंमें स्थित रहते हो इस समय सत्यके द्वारा मुझ पवित्र
 करो ॥ ४९ ॥ हे भगवन् ! मैंने पवित्र होकर मेमके साथ आपको
 स्तुति करी है, इस कारण हे अग्ने ! आप मुझ तृप्ति, पुष्टि,
 भुक्ति और प्रीति दीजिये ॥ ५० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि- हे
 जनमेजय ! इन अग्निके मंत्रोंको पढ़कर जो अग्निमें होम करते

सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५१ ॥ सहदेव उवाच । यज्ञविघ्नमिदं कर्तुं
 नार्हस्त्वं हव्यवाहन । एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदि-
 नीम् ॥ ५२ ॥ विधिबन्तं पुरुषव्याघ्रः पावकं मत्स्युपाविशत् । प्रसूये
 तस्य सौम्यस्य भीतोद्भिन्नस्य भारत ॥ ५३ ॥ न चैनमस्यगादग्नि-
 र्वेलापिब महोदधिः । तमुपेत्य शनैर्दक्षिणां कुरुनन्दनम् ॥ ५४ ॥
 सहदेवं वृष्णां देवं सान्त्वयन्मिदं वचः । उत्तिष्ठोत्तिष्ठ क्रौरव्य जिज्ञा-
 सेयं मया कृता ॥ ५५ ॥ वेदिं सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च ।
 मया तु रक्षितव्या पूरियं भरतसत्तम ॥ ५६ ॥ पावद्राक्षो हि नीलस्य
 कुले वंशधरा इति । ईदृशितन्तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव ५७
 तत उरपाय दुष्टात्मा प्राञ्जलिः शिरसा नतः । पूजयामास माद्रेयः
 पावकं भरतर्षभ ॥ ५८ ॥ पावके विनिरुत्ते तु नीलो राजाभ्यगा-
 हं बह सद्रा सम्पत्तिपाम्, जितेन्द्रिय और पापोंसे मुक्त रहते हैं
 ॥ ५१ ॥ सहदेवने इस प्रकार स्तुति करके कहा, कि-हे हव्य-
 वाहन ! आपको इस यज्ञमें विघ्न नहीं करना चाहिये, ऐसा कह
 कर सहदेवने भूमिपर कुश बिछाये ॥ ५२ ॥ और वह धीरपुरुष
 उस पत्रवाई हुई सेनाके सामनेही विधिपूर्वक अग्निके समीप बैठ
 गया ॥ ५३ ॥ जैसे महासागर अपने लटकी भूमिको नहीं लौघता
 है तैसे ही अग्निदेवने भयभीत और व्याकुल सेना तथा सामने
 बैठेहुए नरदेवका उल्लंघन नहीं किया किन्तु प्रत्यक्ष मूर्तिमान्
 हो धीरे २ विनयवान् सहदेवके सामने आ समझाकर कहनेलगे
 कि-हे कुरुनन्दन ! बैठ बैठ यह मैंने तेरी परीक्षा की थी ॥ ५४ ॥
 ॥ ५५ ॥ और मैं तुम्हारे धर्मपुत्र युधिष्ठिरके भी सब धर्मिप्राय
 को जानता हूँ परन्तु हे भारत ! मुझे इस नगरीकी भी तो रक्षा
 करनी है ॥ ५६ ॥ जबतक राजा नीलके वंशमें कोई वंशधर रहेगा
 तबतक मैं इसकी रक्षा करूँगा इसके सिवाय तुम्हारी जो कुछ
 अभिलाषा होगी उसको मैं सिद्ध करूँगा ॥ ५७ ॥ हे महाराज !
 तब सहदेवने प्रसन्न अन्तःकरण से उठकर हाथ जोड़ेहुए मणाम
 करके अग्निका पूजन किया ॥ ५८ ॥ ऐसा कहकर अग्निके लौट

तदा । पावकस्याज्ञया चैनमर्चयामास पार्थिवः ॥ ५६ ॥ सत्कारेण
 नरव्याघ्रं सहदेवं युष्मां पतिम् । प्रतिगृह्य च तां पूनां करे च विनिवेश्य
 च । माद्रीसुतस्ततः प्रायाद्विजयी दक्षिणां दिशम् ॥ ६० ॥ मैपुरं स
 वशे कृत्वा राजानमभितौजसम् । निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवे-
 श्वरम् ॥ ६१ ॥ आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता व्रतः ।
 वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ॥ ६२ ॥ सुराष्ट्रविषयस्थश्च
 मेपयामास रुक्मिणे । राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ॥ ६३ ॥
 भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रमत्वाय यै । स वास्य मतिजग्राह
 सस्रुतः शासनं तदा ॥ ६४ ॥ भीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य
 च । ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद्युष्मां पतिः ॥ ६५ ॥
 ततः शूर्पारकश्चैव तालाकटमथापि च । वशे चक्रे महातेजा दण्डका-
 श्च महाबलः ॥ ६६ ॥ सागरद्वीपवासारश्च नृपतीन् म्लेच्छ-

जानेपर राजा नीलने उनकी आज्ञानुसार सहदेवके पास आकर
 शास्त्रविधिसे पूजन किया ॥ ५९ ॥ जब राजा नीलने वीराग्रणी
 युवपश्रेष्ठ सहदेवका सत्कारपूर्वक पूजन किया तब उस पूजाको
 स्वीकार कर और राजा नीलको अपना करद बनाकर माद्रीकुमार
 विजयी, सहदेव दक्षिण दिशाकी ओरको चला गया ॥ ६० ॥ महा-
 बाहु सहदेवने परमतेजस्वी राजा त्रिपुररत्नको अपने वशमें करके
 पौरवेश्वरको बलात्कारसे अपने वशमें किया ॥ ६१ ॥ फिर उस
 महाबाहुने बड़े यत्नसे सुराष्ट्रदेशके स्वामी कौशिकाचार्य आकृति
 को अपने वशमें किया ॥ ६२ ॥ और सुराष्ट्रदेशमें ठहरकर ही
 उसने भोजकटमें रहने वाले महाबली रुक्मी और साक्षात् इन्द्रके
 भिन्न बुद्धिमान् धर्मात्मा राजा भीष्मकके पास दूत भेजा तब भीष्मक
 और उसके पुत्र दोनोंने हे महाराज ! श्रीकृष्णकी ओर ध्यान
 देकर भीतिपूर्वक सहदेवकी आज्ञाको मान लिया और सहदेव
 उनसे उत्तम २ पदार्थ पाकर तहाँ से चल दिये ॥ ६४ ॥ ६५ ॥
 फिर महाबली परम तेजस्वी सहदेवने शूर्पारक तालकट और
 दण्डकोंको वशमें किया ॥ ६६ ॥ फिर समुद्रके टापुओंमें रहने

योनिजान् । निपादान् पुरुषादाश्च कर्णमावरणानपि ॥ ६७ ॥ ये च
 कालमुखानामनरराक्षसयोनयः । कृत्स्नं कोलगिरिं चैव सुरभी-
 पट्टनं तथा ॥ ६८ ॥ द्वीपं ताम्रादयश्चैव पर्वतं रामकं तथा ।
 तिमिङ्गिलञ्च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ॥ ६९ ॥ एकपादाश्च
 पुरुषान् केरलान् वनवासिनः । नगरीं सञ्जयन्तीञ्च पापघटं कर-
 हाटकम् ॥ ७० ॥ दूतैरेव वशे चक्रे करञ्चैनानदापयत् । पाण्ड्याश्च
 द्रविडाश्चैव सहितश्चोदकेरलीः ॥ ७१ ॥ अन्ध्रास्तालवनाश्चैव
 कलिङ्गानुष्टुक्लिकान् । आटवी च पुरी रम्पा यवनानां पुरं तथा
 ॥ ७२ ॥ दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् । ततः कञ्छगतो
 भीमान् दूतान् माद्रवतीसुतः ॥ ७३ ॥ प्रेषयामास राजेन्द्र पौल-
 स्ताय महात्मने । विभीषणाव धर्मार्ता प्रीतिपूर्वमरिन्दमः ॥ ७४ ॥
 स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वरूपम् । तच्च कालकृतं धी-
 यानभ्यपमन्यत स प्रभुः ॥ ७५ ॥ ततः संप्रेषयामास रत्नानि विवि-

चाले श्लेषप्रजातिके राजे निपाद पुरुषाद और कर्णमावरण
 ॥ ६७ ॥ तथा नरराक्षसयोनिके कालमुख नामवाले राजाओंको
 सम्पूर्ण कोलाचल और सुरभीपट्टनको ॥ ६८ ॥ ताम्रद्वीप तथा
 रामक पर्वत और तिमिङ्गिल राजाको उस बुद्धिमान् सहदेवने वश
 में किया ॥ ६९ ॥ फिर एकपाद पुरुष, वनवासी केरल, सञ्जयन्ती
 नगरी और पापघट, करहाटक ॥ ७० ॥ इन सबको केवल दूत
 भेजकर ही अपने वशमें करके कर मैंगवा लिया फिर पाण्ड्य
 द्रविड़ वहाँसहित केरल ॥ ७१ ॥ अन्ध, तालवन, कलिङ्ग, वट्ट
 देश, रम्पीय आटवी नगरी और यवनपुर ॥ ७२ ॥ इन सबको
 भी दूत भेजकर ही वशमें किया और कर मैंगवा लिया, फिर
 शत्रुओंको दवानेवाले माद्रीनन्दन सहदेवने कञ्छ देशमें ही ठहर
 कर पुलस्त्यकुमार महात्मा विभीषणके पास प्रेषभावसे दूत भेजा
 ॥ ७३ ॥ ७४ ॥ विभीषणने भी प्रेषके साथ सहदेवकी आज्ञाको
 स्वीकार किया, क्योंकि— राजा विभीषणने ऐसा करना ही सम

धानि च । चन्दनागुरुकाष्ठानि दिव्याभरणानि च ॥ ७६ ॥
 चासांसि च यशोर्ध्वणि मण्यैश्चैव महाधनान् । न्यवर्त्तत ततो धीमान्
 सहदेवः प्रतापमान् ॥ ७७ ॥ एवं निमित्त्य तरता सान्त्वेन विज-
 येन च । करदान् पार्थिवान् कृत्वा प्रत्यागच्छद्गन्दिमः ॥ ७८ ॥
 धर्मराजाय तत्सर्वं निवेद्य भरतर्षभः । कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास
 जनमेजय ॥ ७९ ॥ छ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि सहदेवदिविजय एकत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच । नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं
 तथा । वासुदेवजितामाशां यथासाधयत् प्रभुः ॥ १ ॥ निर्याय
 खाण्डवस्थपात् प्रतीचीमभितो दिशम् । उद्दिश्य मतिमान् माया-
 न्महत्या सेनया सह ॥ २ ॥ सिंहनादेन महता योधाना गजितेन

पानुसार वीरु सभक्ता ॥ ७५ ॥ और अनेकों प्रकारके रत्न, अगर
 चंदन, काष्ठ, दिव्य गहने बहुमूल्य वस्त्र और महामूल्य मणियों
 भेजीं तब घुड़िमान् प्रतापी सहदेव पीछेको लौटआये ॥ ७६ ॥ ७७ ॥
 शत्रुनाशी सहदेव इस प्रकार बलात्कार से राजाओंको जीतकर
 सामनीति और विजयके द्वारा सकल राजाओंको अपना करद-
 वनाकर इन्द्रप्रस्थमें आगए ॥ ७८ ॥ और वह सब विजयमें
 पायेहुए पदार्थ धर्मराजको अर्पण करके सहदेवने अपनेको कृत-
 कृत्य माना और परमसुखके साथ रहने लगे ॥ ७९ ॥ एकत्रिंश
 अध्याय समाप्त ॥ ३१ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे महाराज : अब मैं नकुलके पराक्रम
 और विजयको कहता हूं, जिस प्रकार नकुलने वामुदेवकी जीती
 हुई दिशाओंको जीता ॥ १ ॥ घुड़िमान् नकुल चढ़ीभागी सेनाको
 साथ लियेहुए खाण्डवस्थसे निकलकर पश्चिमदिशाकी ग्रासको
 चलदिये ॥ २ ॥ प्रस्थानके समय योरांजी सिंहनादके समान
 गर्जना और रथके पहियोंकी धरधर ध्वनिसे यह भूगण्डल मानो

च । रथनेभिनिनादैश्च दम्पयन् वमुग्रामिमाम् ॥ ३ ॥ ततो बहुधनं
 रम्पं गवाढ्यं धनधान्यवत् । कर्त्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत् ४
 तत्र युद्धं महत्वासीच्छरैर्मत्तमयूरकैः । मरुभूमिं स कात्स्न्येन तथैव
 बहुधान्यकम् ॥ ५ ॥ शैरीपकं महेत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः ।
 आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत् ॥ ६ ॥ वान् दशार्णान्
 स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः । शिर्वीस्त्रिगर्त्तान्वष्टान्मालवा-
 न्यं चार्पयान् ॥ ७ ॥ तथा मध्यमकेयाश्च वाटधानान् द्विजानथ ।
 पुनश्च परिवृत्त्याथ पुष्करारण्यवासिनः ॥ ८ ॥ गणानुत्सवसंके-
 तान् व्यजपत् पुरुषर्षभः । सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महा-
 वलाः ॥ ९ ॥ शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम् । वर्त्त-
 यन्ति च ये मत्स्यैर्ध्वं च पर्वतवासिनः ॥ १० ॥ कुस्त्रं पञ्चनद-
 श्चैव यथैवामरपर्वतम् । उत्तरज्योतिषश्चैव तथा दिव्यकटं पुरम्
 ॥ ११ ॥ द्वारपालश्च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः । रामठान्

कापनेलगा ॥ ३ ॥ तहांसे चलकर नकुल गौओंसे भरे, धन धान्य
 से पूर्ण, सम्पदाके भण्डार परम रणीय स्वाभिकर्त्तिकेय के प्रिय
 रोहितक देशमें पहुंचे ॥ ४ ॥ तहां परम शूर मत्तमयूरोंके साथ
 नकुल का घोर युद्ध हुआ, अन्तमें नकुलने मरुभूमि, शैरीपक
 और अन्नके भंडाररूप महेत्थ देशपर पूर्ण अधिकार कर लिया, फिर
 मवल पुद्गलिनको मञ्जलित करके राजर्षि आक्रोशको वशमें किया
 ॥ ५ ॥ ६ ॥ तदनन्तर दशार्ण, शिवि, त्रिगर्च, अम्बष्ठ, मालव,
 पञ्चर्षट, मध्यमक, वाटधान और द्विजोंको जीता, तहां से चलकर
 पुष्कर वनके निवासी उत्सव सङ्केतनामक गणोंको जीता फिर समुद्र-
 तटके निवासी और तहांके ग्रामवासी महाबली शूद्र और आभीर
 त ॥ जो सरस्वती नदी का आश्रय लेकर मत्स्योंके द्वारा आजीविका
 करते हैं उनको जीतकर पर्वतवासी सकल पञ्चनद अपरपर्वत, उत्तर-
 ज्योतिष दिव्यकट नगर और द्वारपालको बलात्कारसे वशमें किया
 फिर परम तेजस्वी पाण्डुकुमार नकुलने ग्राह्यापात्रसे रामठ और

हारहृणांश्च मतीच्याश्चैव ये नृपाः । १२ ॥ तान् सर्वान्
 स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः । तत्रस्थः प्रेषयामास वासु-
 देवाय भारत ॥ १३ ॥ स चास्य यादवैः सार्द्धं मतिजग्राह
 शासनम् । ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुत्रभेदनम् ॥ १४ ॥
 मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली । स तेन सत्कृतो राज्ञा
 सत्कारार्हो विशाम्पते ॥ १५ ॥ रत्नानि भूरीषयादाय सम्प्रतस्थे
 युशाम्पतिः । ततः सागरकुत्तिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ॥ १६ ॥
 पहवान् वर्षरांश्चैव किरातान् यवनान् शकान् । ततो रत्नान्पुपा-
 दाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ॥ १७ ॥ न्यवर्त्तत कुरुश्रेष्ठो नकुल-
 क्षिप्रमार्गवित् । करभाणां सहस्राणि कोपं तस्य महात्मनः ॥ १८ ॥
 ऊर्ध्वदश महाराज कुच्छादिव महाधनम् । इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य
 स युधिष्ठिरम् ॥ १९ ॥ ततो माद्रीसुतः श्रीमान् धनं तस्मै न्यवेद-

हार हूण आदि जो पश्चिमके राजे थे उन सर्वोंको अपने वशमें
 किया, फिर तहां ठहर कर ही वासुदेवके पास दूत भेजा ॥ ७ ॥
 ॥ १३ ॥ वासुदेव और यादवोंने नकुलके शासनको मानलिया,
 फिर शाकल देशमें मद्रोंके नगर पर अधिकार करके ॥ १४ ॥
 बली नकुलने अपने मामा शल्यको प्रे।पूर्वक वशमें करलिया, ऐ
 महाराज ! माद्रीनन्दन नकुल, शल्यसे सत्कार पाकर और बहुतसे
 रत्न लेकर चलदिपा, पीछेसे समुद्रके टापुओमें रहनेवाले परम-
 दारुण म्लेच्छ पहव वर्षर किरात यवन और शक राजाओंको
 वशमें करके तथा उनसे सुन्दर २ पदार्थ लेकर ॥ १५-१७ ॥
 विचित्र मार्गोंको जाननेवाले नकुल लौट आये, हे महाराज ! महात्मा
 नकुलके, जीतेहुए धनमंडारको दश सहस्र हाथी भी पड़ी
 कठिनतासे दोसके, शीघ्र ही माद्रीकृपार नकुल इन्द्रप्रस्थमें
 वीर युधिष्ठिरके पास आगये और इसप्रकार वरुणकी रक्षा भी हुई
 तथा वासुदेवकी जीती हुई पश्चिम दिशाको जीतकर लाया हुआ

यत् । एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम् । मतीर्चीं वासु-
देवेन निर्जितां भरतर्षभ ॥ २० ॥

इति सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीविजये द्वात्रिं-
शोऽध्यायः ॥ ३२ ॥ समाप्तश्च दिग्विजयपर्वः ॥

॥ अथ राजसूयपर्वः ॥

वैशम्पायन उवाच । रज्ज्वाद्धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १ ॥ वलीनां सम्पगा-
दानाद्धर्मतथानुशासनात् । निरामयर्षोऽप्यन्यः स्कीतो जनपदोऽभ-
वत् ॥ २ ॥ मर्वारम्भाः सुमृत्ताः गोरक्षाकर्मणं वलिकम् । विशेषात्
सर्वमेवैतत् सज्जते राजकर्मणः ॥ ३ ॥ दत्सुभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन्
प्रतिपरस्परम् । राजवत्सलभतथैव नाथ्ययन्त मृषा गिरः ॥ ४ ॥
अवर्षकवातिवर्षञ्च वपाधिपावकयूच्छनम् । सर्वमेतत्तदा नासीद-
र्मनिस्त्वे युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥ मियं कर्तुं मुपस्थातुं वलिकर्म स्वभावजम् ।

वह भन राजा युधिष्ठिरको अर्पण करदिया ॥ १८—२० ॥ इति
द्वात्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे महाराज ! राजा युधिष्ठिरने
प्रजाओंकी रक्षा, सत्यका पालन और शत्रुओंका नाश करने से
प्रजाएँ अपने २ कामोंको करनेलगी ॥ १ ॥ शास्त्रके लेखानुसार
कर लेने और धर्मसे राज्यका शासन करनेके कारण मेघ समय पर
ठीक २ वर्षा करने लगे, जिससे उनके देशभी भन सारा बहुत
ही बढ़ गयी ॥ २ ॥ राजाके पुण्यके प्रभावसे खेती व्यापार और
गोरक्षा आदि सब कार्य ठीक २ सिद्ध होने लगे ॥ ३ ॥ हे महाराज !
प्रजाके लोगोंमें कोई किसीको धोखा नहीं देता था लुटेरे या चोरों
का भय नहीं था और राजकर्मचारियोंमें किसीके मृगसे भेदी
गान सुननेमें नहीं आती थी ॥ ४ ॥ उस अमराजके हित्य गो-
चरण करनेके मतानसे अधिक वर्षा, अर्घा, रोग और अग्निका
भय आदि कोई भी अमंगल नहीं होता था ॥ ५ ॥ चारों ओरको

अभिहर्तुं नृपा जग्दुर्नान्यैः कार्यैः कथञ्चन ॥ ८ ॥ धर्मैर्धनागमै-
स्तस्य वदथे निचयो महान् । कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि
॥ ७ ॥ स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोपस्य च महीपतिः । विज्ञाय राजा
कौन्तेयो यशायैव मनो दधे ॥ ८ ॥ सहृदश्चैव ये सर्वे पृथक् च
सहिताद्युवन् । यज्ञकालस्तत्र विभो क्रियतामत्र साम्प्रतम् ॥ ९ ॥
अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्यासपौ हरिः । श्रुतिः पुराणो वेदात्मा
दृश्यश्चैव विज्ञानताम् ॥ १० ॥ जगत्स्तस्मिन् श्रेष्ठः प्रभवश्चाव्य-
यश्च ह । भुतभग्यभवन्नायः केशवः केशिमूर्दनः ॥ ११ ॥ माकारः
सर्ववृष्णीनामापस्त्वभयदोऽरिहा । बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगा-
नकदुन्दुभिम् ॥ १२ ॥ उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ।

राजे इनके यहाँ केवल भेट देने और स्वाभाविक मिय काप करने
को ही आते थे, युद्ध आदि अन्य कामों के लिये कभी नहीं आते
थे ॥ ६ ॥ धर्मानुसार इनकी आमदनियों से ही इनका धनभंडार
(खजाना) इतना बढ़ गया, कि—सैंकड़ों वर्ष तक खर्च करने पर
भी जिसका क्षय होनेका संभावना नहीं थी ॥ ७ ॥ कुन्तीनन्दन
राजा युधिष्ठिरने अपने अन्नादिके भंडार और धनभण्डारकी
पूर्णताको जानकर यज्ञ करनेका विचार लिया ॥ ८ ॥ उनके मित्र
उनसे अलग अलग और इकट्ठे दोसर भी कहने लगे, कि—हे महा-
राज ! यह समय आपके यज्ञ करनेका है इस कारण अब आपको
शीघ्र ही यज्ञ करना चाहिये ॥ ९ ॥ सब लोग ऐसा कहा ही
करते थे कि—इसी अवसरमें दिव्यदृष्टि सनातन, वेदके आत्मा
ज्ञानियोंके ध्यानमें आनेवाले चराचरमें श्रेष्ठ जगदाधिकारण
अविनाशी त्रिकालके स्वामी केशीमूर्दन भगवान् कृष्ण तहां आ-
पहुंचे जैसे परकोटेसे नगरकी रक्षा होती है ऐसे ही वह यादवों
की रक्षा करते थे वही आपत्तिमें अभय देनेवाले शत्रुनाशक कृष्ण
सेनाका अधिकार भलेपकार वसुदेवजीको सौंपकर धर्मराज युधि-
ष्ठिरके लिये असंख्यों धन और अविनाशी रत्नोंका ढेर और यज्ञ

धनीय पुरुषव्याघ्रो बलेन महता वृतः ॥ १३ ॥ तं धनीयमपर्यन्तं
रत्नसागरमक्षयम् । नादयन्त्यघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १४ ॥
पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विपञ्चोकावहोऽभवत् । असूर्यस्मिन् सूर्येण
निवातमिव वायुना ॥ १५ ॥ कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ।
तं मुदाभिसमागम्य सत्कृत्य च यथानिधि ॥ १६ ॥ स पृष्ठा कुशलं
चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः । धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुष-
र्षभः । भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमत्रवीत् ॥ १७ ॥ युधि-
ष्ठिर उवाच । त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मदृशे कृष्ण वक्षते । धनं
च बहु चाप्येव त्वत्पसादादुपाजितम् ॥ १८ ॥ सोऽहमिच्छामि
तत्सर्वं विधिवदेवकीमुत । उपयोक्तुं द्विनाम्नेभ्यो हव्यवादे च
माधव ॥ १९ ॥ तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्हं सहितस्त्वया । अनु-

भारी सेनादलका साथ लेकर अपने रथकी भुनकारसे दिशाओं
को गुंजारतेहुए इन्द्रमस्य नगरीमें आपहुंचे ॥ १०-१४ ॥ यह
देखकर पाण्डवोंके अनुओंको शोक हुआ, परन्तु जैसे सूर्योदय
होनेपर अन्धकारमें पड़ेहुए लोगोंका अन्तःकरण मसन्न होजाता
है, और जैसे वायुहीन स्थानमें पवनके चलनेपर लोगोंके शरीरों
में मानो प्राण आजाते हैं तैसे ही श्रीकृष्णजीके आनेपर पांडवों
ने सुखसरोवर और आनन्दसागरमें गोता लगाया, उस समय
लोगोंसे भरीहुई इन्द्रमस्यपुरी और भी भर गई तहाँके लोगोंने अग-
धानी करके श्रीकृष्णजीका विधिपूर्वक सत्कार किया ॥ १५-१६ ॥
धर्मराज युधिष्ठिरने चारों भाई पुरोहित धौम्य और द्वैपायन आदि
ऋषियों सहित श्रीकृष्णजीके पास जा उनसे कुशल पूछा और
आरामसे बैठजाने पर उनसे कहने लगे ॥ १७ ॥ युधिष्ठिरने कहा-
कि—हे भैया कृष्ण ! केवल तुम्हारी ही कृपामे यह सब भूयंढल
मेरे घरमें है और तुम्हारे ही अनुग्रहसे यह बड़ीगारी धनसंपदा
मैंने इकट्ठा करी है ॥ १८ ॥ हे देवकीनन्दन कृष्ण ! अगर देह
राज धन सम्पदा में शास्त्रकी विधिसे श्रेष्ठ ब्राह्मण और अग्निदेवके
लिये अर्पण करना चाहता हूं ॥ १९ ॥ मेरी यह बड़ी भारी इच्छा

जैत्र महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥ तदीक्षापय गोविन्द
 त्वमात्मानं महाभुजः । त्वयाष्टवति दाशार्धं निषाम्या भविता ह्यहम् ॥
 ॥ २१ ॥ यां वाप्यभ्यञ्जनीहि सदैविरनुजैर्निभुः । अनुज्ञानस्त्वया
 कृष्ण गाप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ॥ २२ ॥ वैशंपायन उवाच । तं कृष्णः
 प्रत्युनाचेयं बहुकृत्वा गुणविस्तरम् । त्वमेव राजशार्दूल सम्राट्दहो
 महाक्रतुम् ॥ २३ ॥ संग्रामुहि त्वया मास्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् ।
 यज्ञस्याभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते । नियुक्त्वैव त्वञ्च मां
 कुंत्ये 'सर्व' कर्त्तासि ते वचः ॥ २४ ॥ युधिष्ठिर उवाच ॥ सफलः
 कृस्तेन सङ्कल्पः सिद्धिश्च नियता मम । वस्य मे त्वं हृषीकेश
 यथेप्सितमुपस्थितः ॥ २५ ॥ वैशंपायन उवाच । अनुज्ञातस्तु कृष्णेन
 है कि—आपको और अपने भाइयोंको साथ लेकर राजसूय यज्ञ
 करूँ सो हे कृष्ण ! मुझै यज्ञका आरम्भ करनेकी आज्ञा दीजिये
 ॥ २० ॥ हे गोविन्द ! आपको इस यज्ञमें दीक्षित होना पड़ेगा
 हे महाबाहो ! आपके दीक्षा लेकर यज्ञ करनेपर मैं निष्पाप हो
 जाऊँगा ॥ २१ ॥ अथवा भाइयों सहित मुझका ही दीक्षा लेने
 की आज्ञा दीजिये हे कृष्ण ! आपके आज्ञा दे देनेसे भी मैं परम
 श्रेष्ठ यज्ञ करनेके फलको पाजाऊँगा, इसमें सन्देह नहीं है ॥ २२
 वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! श्रीकृष्णने युधिष्ठिर
 के बहुतसे गुणोंका वर्णन करते हुए उत्तर दिया, कि—हे महाराज
 तुम ही इस महायज्ञ राजसूयको करनेके योग्य हो ॥ २३ ॥ इस
 कारण शीघ्रही यज्ञकी दीक्षा लो, तुम्हारे यज्ञफलको पालने पर
 हम सब कृतार्थ होजायँगे मैं आपका हित करने में लगा रहूँगा
 तुम शयनी इच्छानुसार यज्ञ करो तुम मुझै जिस कामपर नियत
 करदेगे मैं उसको ही तुम्हारे करनेके अनुसार करूँगा ॥ २४ ॥
 यह सुनकर युधिष्ठिर कहने लगे कि—हे हृषीकेश ! जब तुम मेरी
 इच्छानुसार स्वयं यागए हो, तो मेरा सङ्कल्प सिद्ध होगया और
 सिद्धि पानेमें कुछ भी सन्देह नहीं है ॥ २५ ॥ वैशम्पायन कहते

पांडवो भ्रातृभिः सह । ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे २६
 ततस्त्वाद्यापयापास पाण्डवोऽरिनिर्दहणः । सहदेव युवां श्रेष्ठं
 मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥२७॥ अस्मिन् क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि
 द्विजातिभिः । तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ २८ ॥
 अग्नियज्ञाश्च सम्पारान् धौम्योक्तान् क्षिप्रमेष हि । समानयन्तु पुरुषा
 यथायोगं यथाक्रमम् ॥ २९ ॥ इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चार्जुन-
 सारथिः । अन्नाग्राहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियैकाम्यया ॥ ३० ॥
 सर्वकामाश्च कार्म्यन्तां रसगन्धसमन्विताः । मनोहराः प्रीतिकरा
 द्विजानां कुरुसत्तम ॥ ३१ ॥ तद्वाक्यसमकालञ्च कृतं सर्वं न्यवे-
 दयत् । सहदेवो युवां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे ॥३२॥ ततो द्वैपा-
 यनो राजन्तृत्वजः समुपानयत् । वेदानि च महाभागान् साक्षान्

हैं, कि—हे जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर धीरुष्णजीके आज्ञा देने
 पर अपने भाइयों सहित राजसूय यज्ञ करनेके लिये सामग्री इकट्ठी
 करनेलगे ॥२६॥ तदनन्तर युधिष्ठिरने मंत्रियोंको और सहदेवको
 आज्ञा दी, कि ॥ २७ ॥ ब्राह्मणोंने इस यज्ञके अङ्गरूप जिन
 पदार्थोंको इकट्ठा करनेकी संमति दी है वह सामग्री तथा अन्य
 माङ्गलिक पदार्थ तथा पुरोहित धौम्यकी कही हुई सत्र यज्ञकी
 यथोचित सामग्री शीघ्र ही पुरुषोंको भेजकर क्रम २ से मँगवाओ
 ॥२८॥२९॥ इन्द्रसेन, विशोक और अर्जुनका सारथि (पुरु) इनने,
 मेरी इच्छा है कि—अन्न आदि लानेपर नियत करो ॥ ३० ॥
 और हे सहदेव! तुम ब्राह्मणोंकी इच्छानुसार प्रसन्न करनेके लिये
 मनोहर रमणीय सकल सुगन्धित मन लुभानेवाले पदार्थोंको इकट्ठा
 करो ॥ ३१ ॥ युधिष्ठिरकी बात पूरी भी नहीं होनेपाई, कि—
 सहदेवने बड़े विनयके साथ निवेदन किया, कि—हे भयो ! आप
 की आज्ञासे पहिले ही यह सब काम तयार है ॥३२॥ हे राजन् !
 तदनन्तर महर्षि रुष्णद्रौपायन मूर्त्तिगरी वेदरूप कितने ही यज्ञ

मूर्तिमतो द्विजान् ॥३३॥ सयं ब्रह्मत्वमकरोत्तस्य सत्यवतीसुतः ।
 धनञ्जयानामृषयः सुमामा सामगोऽभवत् ॥ ३४ ॥ याज्ञवल्क्यो
 बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युः सत्तमः । पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन
 सहितोऽभवत् ॥ ३५ ॥ एतेषां शिष्यवर्गाश्च पुत्राश्च भरतर्षभ ।
 बभूवुर्दोत्रगाः सर्वे वेदवेदांतपारगाः ॥३६॥ ते वाचयित्वा पुण्याह-
 मूढयित्वा च तं विधिम् । शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद्देवयज्ञं
 महत् ॥ ३७ ॥ तत्र चक्रुरनुज्ञाता शृण्वान्युत शिल्पिनः । गन्ध-
 धन्ति विशालानि वेश्पानीव दिवौकसाम् ॥३८॥ तत आह्वापयामास
 स राजा राजसत्तमः । सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुत्रपर्षभ ॥३९॥
 आमन्त्रणार्थं दूतास्त्वं प्रेषयस्वाशुगान् द्रुतम् । उपश्रुत्य वचो राज्ञः
 स दूतान् माहिषोच्चदा ॥ ४० ॥ आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान्
 भूमिपानथ । विशथ मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च ॥ ४१ ॥

करानेवाले महात्मा ब्राह्मणोंको लावे ॥ ३३ ॥ और आप भी
 उन्होंने तिस यज्ञमें ब्रह्माके कामकी दीक्षा ली धमञ्जयगोत्रियोंमें
 श्रेष्ठ सुमामा सामवेदका गान करनेवाले हुए ॥ ३४ ॥ ब्रह्मशानी-
 पाशवल्क्य अध्वर्यु हुए वसुका पुत्र पैल और धौम्य अपि होता
 हुए ॥ ३५ ॥ और हे महाराज ! वेदवेदाङ्गके पारगामी इनके
 शिष्य और पुत्र सदस्य हुए ॥ ३६ ॥ अब सब यज्ञके विषयमें अनेकों
 प्रकारकी तर्क वितर्क करके स्वस्तिवाचन करने लगे और फिर
 सङ्कल करके उस बड़े भारी यज्ञमण्डपकी विधिविधानमें पूजा करी
 ॥ ३७ ॥ फिर शिल्पियोंने आह्वा पाकर तहां देवमंदिरोंकी समान
 परमोत्तम विशाल भवन बनाये ॥ ३८ ॥ तदमंतर राजा युधिष्ठिरने
 सहदेवको आह्वा दी, कि-हे भाई ! शीघ्र ही निमंत्रण देनेके लिये
 शीघ्रगामी दूतोंको भेजो, सहदेवने राजा युधिष्ठिरकी यह बात सुनने
 ही दूतों को भेज दिया ॥ ३९-४० ॥ उनसे कह दिया, कि-देशके
 संपूर्ण ब्राह्मण और क्षत्रियोंको निमंत्रण कर आना और वेश्य तथा

वैशम्पायन उवाच ॥ समाश्रप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात् ।
 आमन्त्रयाम्यभूवुश्च आनयंश्चापरान् द्रुतम् । तथा परानपि नराना-
 त्यनः शीघ्रगामिनः ॥ ४२ ॥ ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधि-
 ष्ठिरम् । दीक्षयांचक्रिरे विमा राजसूयाय भारत ॥ ४३ ॥ दीक्षितः
 स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः । जगाम यज्ञायतनं द्रुतो विप्रैः
 सहस्रशः ॥ ४४ ॥ भ्रातृभिः ज्ञातिभिरचैव मुहूर्द्धिः सचिवैः सह ।
 क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ॥ ४५ ॥ अपात्यैश्च नरश्रेष्ठो
 धर्मो विग्रहवानिव । आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ॥ ४६ ॥
 सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारंगाः । तेषामावसथांश्चक्रु-
 र्धर्मराजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥ बहन्नाच्छादनैर्युक्तान् सगणानां
 पृथक् पृथक् । सर्वचुगुणसंपन्नान् शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥ ४८ ॥
 तेषु ते म्यवसन्तानन् ब्राह्मणा नृपसत्कृताः । कथयन्त कथा बह्वी

सन्मानके योग्य शूद्रोंको साथ ही लियाते लाना ॥ ४१ ॥ वैशम्पा-
 यनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! धर्मराजकी आज्ञासे भेजेहुए
 वह शीघ्रगामी दूत ब्राह्मण और राजाओंको निमन्त्रण देकर
 वैश्य और शूद्रोंको तथा अपनेसे मेल रखनेवाले अन्य मनुष्योंको
 भी साथ लेकर आगए ॥ ४२ ॥ हे भारत ! उन सकल ब्राह्मणोंने
 ठीक समय पर कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिरको राजसूय यज्ञके लिये
 दीक्षित किया ॥ ४३ ॥ धर्मात्मा युधिष्ठिरने यज्ञमें दीक्षित हो सहस्रों
 ब्राह्मण, भार्य, मित्रगण, जातिवाले, सहचर, अनेकों देशोंसे आयेहुए
 प्रधान २ क्षत्रिय राजे और मंत्रियोंके साथ, साक्षात् मूर्तिमान् धर्म
 की समान यज्ञशालामें प्रवेश किया राज्यके चारों ओरसे सकल
 विद्याओंमें प्रवीण वेद वेदान्तके पारगामी ब्राह्मण उस यज्ञके महो-
 त्सवमें आनेलगे, धर्मराजकी आज्ञासे उनके लिये अलग २ ठहरने
 को स्थान बनवाये गये थे ॥ ४४-४७ ॥ वह सब स्थान बहुतसे अन्न
 पानादिसे भरे, विचित्र कपदद्वयसे शोभित और सकल ऋतुओं की
 सुखदायक सामग्रियोंसे पूर्ण थे, जिनको सहस्रों कारीगरोंने
 बनाया था ॥ ४८ ॥ हे राजन् ! वह ब्राह्मण उन स्थानोंमें ठहरकर

पश्यन्तो नः कर्तुं क्षमः ॥ ४८ ॥ भुञ्जतां चैव विशाखां वदतां च
महात्मनः । अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम् ॥ ४९ ॥ दीयतां
दीयतामेपां भुज्यतां भुज्यतामिति । एवं प्रवाराः संजन्त्या श्रूयन्ते
स्माद्य नित्यशः ॥ ५१ ॥ गतां शतसहस्राणि शयनानां च भारता
कनकस्य योषिता चैव धर्मराजः पृथक् ददौ ॥ ५२ ॥ भावत त्वं
यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः । पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव
त्रिदिष्टे ॥ ५३ ॥ ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम् ।
नकुलं हस्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभ ॥ ५४ ॥ द्रोणाय धृतराष्ट्राय
विदुराय कृपाय च । आतुर्णञ्चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरं ५५
इति सभापर्वणि राजसूयकपर्वणि राजसूयदीक्षायां

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

पैशंगायन उवाच । स गत्वा हस्तिनपुरं नकुलः समितिञ्जयः ॥

नृत्य गाना आदि देखने हुए अनेकों प्रकार की कथाएँ कहकर समय
को व्यतीत करने लगे ॥ ४९ ॥ वहाँ रातदिन भोजन करते हुए,
कथाएँ कहते हुए और आनन्दसागरमें निमग्न महात्मा ब्राह्मणों
का बड़ा भारी कोलाहल, सुननेमें आता था ॥ ५० ॥ वहाँ हर
समय दीजिये, दीजिये, भोजन कीजिये भोजन कीजिये भोजन
कीजिये केवल ऐसी बातें ही सुननेमें आती थीं ॥ ५१ ॥ धर्मराज
ने सब निमग्न पुरुषोंको अलग २ गौण, शय्याएँ सुवर्ण और
खाद्योन्नत सभी सर्वाङ्ग सुन्दरी स्त्रियों दी ॥ ५२ ॥ स्वर्गपति इन्द्रभी
समान पृथिवीपति महात्मा युधिष्ठिरका वह यज्ञ उत्तरोत्तर अधिक
शोभाको प्राप्त होने लगा ॥ ५३ ॥ तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने
भीष्म, द्रोण धृतराष्ट्र विदुर, कृपाचार्य, दुर्योधनादि भाई और
जो अनेकसे प्रेम करते थे उनको निमग्न देनेके लिये नकुलका
हस्तिनापुर भेजा ॥ ५४-५५ ॥ त्रयस्त्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय । उस पाण्डुकुमार
को नकुलने हस्तिनापुरमें जाकर विनयके साथ सत्कारपूर्वक भीष्म

भीष्मपापमन्त्रयां गङ्गे घृतराष्ट्रञ्च पाण्डवः ॥ १ ॥ सत्कृत्यामन्त्रिता-
स्तेन आचार्यममुखास्ततः । मय्यु प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरः-
सराः ॥ २ ॥ संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा । अन्ये च
शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ ॥ ३ ॥ द्रष्टुं कामाः सभाञ्चैव धर्मराजश्च
पाण्डवम् । दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ॥ ४ ॥
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च । घृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च
विदुश्च महावतिः ॥ ५ ॥ दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ।
गान्धारराजः सुचलः शकुनिश्च महाबलः ॥ ६ ॥ अचलो वृषकर्षश्च
कर्णश्च रथिनां वरः । तगा शल्यश्च बलवान् बाह्लिकश्च महाबलः
॥ ७ ॥ सोमदत्तोऽथ कौरव्य भूरिभूरिश्रवाः शलः । अश्वत्थामा
कृणो द्रोणः सैन्यश्च जयद्रथः ॥ ८ ॥ यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च
वसुधात्रिपः । मागज्योतिपश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ॥ ९ ॥ स
तु सर्व सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः । पार्वतीयाश्च राजानो
राजा चैव बृहद्वलः ॥ १० ॥ पौण्ड्रको वासुदेवश्च यज्ञः कालिङ्गक-

घृतराष्ट्र और कृपाचार्य आदिको निमन्त्रण दिया, वह प्रसन्नमनसे
निमन्त्रणको स्वीकार करके बहुत से ब्राह्मणोंको साथ ले यज्ञ देखने
को आये ॥ १-२ ॥ हे जनमेजय ! यज्ञके महोत्सवको सुन कुतूहल
में भरकर अनेकों दिशाओंके निवासी क्षत्रिय उस यज्ञको और
पाण्डवों की सभासे देखने के अभिलाषी होकर मनमें रहे प्रसन्न
होते हुए उनके साथ चले आये ॥ ३-४ ॥ अनेकों प्रकारके बड़े २
रत्न लेकर घृतराष्ट्र भीष्म परमबुद्धिमान् विदुः ॥ ५ ॥ दुर्योधनादि सब
भाई, गान्धार देशके राजा सुचल, महाबली शकुनि ॥ ६ ॥ अचल,
वृषक, रथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण, बलवान् शल्य, महाबली बाह्लिक ॥ ७ ॥
सोमदत्त भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य द्रोणा-
चार्य, सिन्धदेशके राजा जयद्रथ ॥ ८ ॥ पुत्रमहिन यज्ञसेन राजा
शल्व, मागज्योतिपदेशके राजा, महारथी भगदत्त ॥ ९ ॥ महा-
सागर की तराई के म्लेच्छ, पहाड़ी राजे, राजा बृहद्वल ॥ १० ॥

स्तथा । आकर्षा कुन्तलाश्चैव गालवाश्चान्धकास्तथा ॥ ११ ॥ द्रवि-
 ष्टाः सिंहलाश्चैव राजा कश्मीरकस्तथा । कुन्तिभोजो महातेजाः
 पार्थिवो गौरवाहनः ॥ १२ ॥ बाह्लिकाश्वापरे शूरा, राजानः सर्व
 एव ते । विराटः सह दुनाभ्यां मावेन्लश्च महाबलः ॥ १३ ॥ राजानो
 राजपुत्राश्च नाजाननपदेश्वराः । शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण
 भारत ॥ १४ ॥ आगच्छन् पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः । राम-
 श्चैवानिरुद्धश्च कट्ठश्च सहसारणः ॥ १५ ॥ गदप्रद्युम्नशाम्बाश्च
 चारुदेष्णश्च वीर्यवान् । उन्मुक्तो निशठश्चैव वीरश्चाद्वावहस्तथा
 ॥ १६ ॥ वृष्णयो निखिलाश्चान्ये समाजगुर्मुहाराथाः । एते
 चान्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः ॥ १७ ॥ आजगमुः पाण्डु-
 पुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् । ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य
 शासनात् ॥ १८ ॥ बहुभक्ष्यान्वितान् राजन् दीपिकावृक्षशोभितान् ।
 तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥ सत्कुतारच
 यथोद्दिष्टान् जम्बूरावसथान् नृपाः । कैलासशिखरप्रख्यान् मनोज्ञान्
 पाण्डुक, वासुदेव, बह्व और कलिङ्गदेशका राजा, आकर्ष
 कुन्तल मालव और अंध्रक देशके राजे ॥ ११ ॥ द्रविड
 सिंहल देशके स्वामी, कश्मीरका राजा महातेजस्वी कुन्तीभोज,
 राजा गौरवाहन ॥ १२ ॥ बाह्लीक देशके अन्य शूर राजे,
 दोनों पुत्रों सहित विराट् महाबली मावेन्ल ॥ १३ ॥ हे भारत !
 अनेकों देशोंके राजे और राजपुत्र तथा अपने पुत्रसहित
 महावीर रणरांकुरा शिशुपाल ॥ १४ ॥ राणा युधिष्ठिरके यज्ञ
 में आपा पलराम अनिरुद्ध, कट्ठ, सारण ॥ १५ ॥ गद प्रद्युम्न
 सांव, वीर चारुदेष्ण, उन्मुक्त, निशठ और वीर अद्वावह आदि १६
 यह सकल महारथी यादव और बहुतसे मध्यदेशके राजे ॥ १७ ॥
 पाण्डुनन्दनके राजसूय महायज्ञमें आये, धर्मराजकी आज्ञासे उन
 आयेहुए राजाओंको सत्कारके साथ अलग २ स्थानोंमें ठहराया
 गया धर्मराजने उनकी पूजा करी वह सब स्थान जाना मकार
 के भोजनके पदार्थोंसे शोभायमान थे, वह सब मन्दिरमाला

द्रव्यभूषितान् ॥२०॥ सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः ।
 सुवर्णजालसम्बीतान् पथिकुट्टिमभूषितान् ॥ २१ ॥ सुखारोहण-
 सोपानान् महासनपरिच्छदान् । सुगदामसमवच्छान्मानुत्तमागुरु-
 गन्धिनः ॥ २२ ॥ हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् । असम्बा-
 धानसमद्वारान् युतानुच्चावचैर्गुणैः ॥ २३ ॥ बहुधातुनिबद्धाङ्गान्
 हिमवज्जिखरानिवाविश्रान्तास्ते ततोऽपरयन् भूमिपाः भरिदक्षिणम्
 २४ वृत्तं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् । तत्सदः पार्थिवैः कीर्णं
 ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः । भ्राजते स्म तदा राजन् नोऽकृष्टं ययामरैः २५
 इति सभापर्वणि राजसूयिकपर्वणि निमन्त्रितराभागमने चतु-
 र्विंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

कैलासके शिखरकी समान ऊँची, योजनभरसे दीखनेवाली
 रमणीय और सब प्रकारकी सामग्रीसे युक्त थी वन स्थानोंके
 चारोंओर चूनेकी पुताईसे स्वेत अतिऊँचा परपोटा बना
 हुआ था, उनके भरोखोंमें सुनहरी जाल बनेहुए थे और
 मणियों की जड़ाई होरही थी। उन सबोंके द्वार एकसे
 बनाये गए थे, दीवारें नानाप्रकारकी धातुओंसे बनी थी और
 सीढियों ऐसी सुढौल बनी थी, कि—उनपर चढ़नेमें जरा
 भी परिश्रम नहीं मालूम होता था, उनमें बहुमूल्य आसन बिछे
 हुए थे, वह सब स्थान अति मनोहर राजसी सामानसे सजेहुए
 और पुष्पमालाओंसे भूषित होनेके कारण अपूर्व छटा दिखारहे
 थे, अगरकी उत्तम गंधसे चारों दिशा महक रही थी, उन
 हिमालयके शिखरों की समान रमणीय महलोंमें विश्राम करके
 राजाओंने परमरमणीय सभाकी शोभाको देखा और उस
 समामें बहुतसे सदस्य, राजें, ब्राह्मण और महर्षियोंके मध्यमें
 मान विराजमान बहुत दक्षिणावाले राजसूय यज्ञ के उर्चा
 धर्मराज युधिष्ठिरको देखा, हे महाराज ! उस समय युधिष्ठिर
 देवताओंके मध्यमें बैठे इन्द्रकी समान शोभा पारहेथे ॥ १८-३५ ॥
 चतुर्विंश अध्याय समाप्त ॥ ३४ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायन उवाच । पितामहं गुरुञ्चैव मत्पुद्गलभ्यं युधिष्ठिरः ।
 अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥ भीष्मं द्रोणं कृपं
 द्रोणिं दुर्योधनविचिंशती । अस्मिन्पक्षे भवन्तो मामनुग्रहण्य
 सर्वशः ॥ २ ॥ इदं वसु महत्तैव यदिहास्ति धनं मेमे । प्रणयन्तु
 भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिता ॥ ३ ॥ एवमुक्त्वा स तान् सर्वान्
 दीक्षितः पाण्डवाग्रजः । युषोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम्
 ॥४॥ भक्ष्यभोग्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत् । परिग्रहे ब्राह्मणा-
 नामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥५॥ राज्ञान्तु प्रतिपूजार्थं सञ्जन्य
 संन्ययोजयत् । कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥ ६ ॥
 हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षण्ये । दक्षिणानाञ्च वै दाने
 कृपं राजा न्ययोजयत् ॥ ७ ॥ तथान्यान् पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्त-

वैशम्पायनजीने कहा कि—हे राजन् ! तदनन्तर युधिष्ठिरने
 भीष्मपितामह और गुरु द्रोणाचार्यको प्रणाम करके यह कहा कि-
 ॥१॥ भीष्मजी, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अश्वत्थामा, दुर्योधन और
 विचिंशति आप सब इस यज्ञके करनेमें सब कर्षोंमें मेरी सहायता करें
 । शायद यहाँ मेरा बड़ा भारी धनभण्डार है, इसको आप अपना ही,
 समझें और आप इस प्रकार काम करें, कि—जिसमें मेरा नाम
 हो ॥३॥ यज्ञमें दीक्षित राजा युधिष्ठिरने ऐसा कहकर उन सर्वों
 को योग्यताके अनुसार एक एक काम काम सौंप दिया ॥ ४ ॥
 दुःशासन को भोजनके पदार्थोंका देखभाल पर रखवा, अश्वत्थामा
 से कहा, कि—तुम ब्राह्मणोंकी शुश्रूषा करो ॥ ५ ॥ राजाओंके
 सत्कारका काम संजयको सौंपा, परममनीष भीष्म और द्रोणा-
 चार्यजीसे कहा, कि—सब काम ठीक २ होते हैं या नहीं, आप
 इसकी देखभाल रखें ॥ ६ ॥ सोना, चांदी और रत्नोंकी देख-
 भाल तथा दक्षिणा देनेके काम पर कृपाचार्य को नियुक्त किया
 ॥७॥ इसीमंदार अन्य असिद्ध २ पुरुषोंको दूसरे कामों पर नियुक्त
 किया नकुलके बुलाकर लायेहुए बाह्यीक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त

स्मिन्त्योजयत् । बाह्विहो धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः ॥ ८ ॥
 नकुलेन समानोताः स्वाभिर्वत्तत्र रेभिरे । सत्ता व्ययकरस्त्यासी
 द्विदुरः सर्वधर्मवित् ॥ ९ ॥ दुर्योधनस्त्वर्द्धणानि प्रतिजग्राह सर्वशः
 चरणनालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्वभूत् ॥ १० ॥ सर्वलोक-
 समावृत्तः पिपीपुः फलपुत्तमम् । द्रष्टुं कामः सभाश्चैव धर्मराजं युधि-
 ष्ठिरम् ॥ ११ ॥ न कश्चिदाहरत्तत्र सहस्राचरमर्हणम् । रत्नस्यै बहु-
 भिस्तत्र धर्मराजमवर्द्धयत् ॥ १२ ॥ कथन्तु मम कौरव्यो रत्नदानैः
 समाप्नुयात् । यज्ञमित्येव राजानः स्पर्द्धमाना ददुर्यधनम् ॥ १३ ॥
 भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्षलसंश्रितैः । लोकराजविमानैश्च
 ब्राह्मणावसयैः सह ॥ १४ ॥ कृत्तरावसयैर्दिव्यैर्विमानमतिमैस्तथा ।
 विविधैरर्त्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः ॥ १५ ॥ राजभिश्च
 समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः । अशोभत सद्यो राजन् कौन्तेयस्य
 महात्मनः ॥ १६ ॥ ऋद्ध्या च वरुणं देवं स्पर्द्धमानो युधिष्ठिरः ।
 और जयद्रथ घरके स्वामीकी समान विराजमान रहे पूर्णरूपसे
 धर्मके ज्ञाता महात्मा विदुरजीको खर्च करने पर नियत किया
 ॥ ८-९ ॥ भेंटमें आये हुए पदार्थोंको लेकर रखनेका काम दुर्योधन
 को सौंपा और श्रीकृष्णजीने आप ही ब्राह्मणोंके चरण धोनेका
 काम लिया ॥ १० ॥ सभाकी शोभा और धर्मराज युधिष्ठिरका
 दर्शन करके परम फल पाने की आशासे तहाँ जितना जन-
 समुदाय इकट्ठा हुआ था, उनमेंसे किसीने भी सहस्रोंसे कमकी
 भेंट नहीं दी उन सबोंने ही अनेकों रत्न समर्पण करके राजा
 युधिष्ठिरका सम्मान बढ़ाया ॥ ११ ॥ १२ ॥ महाराज युधिष्ठिर
 मेरे दिये हुए रत्नोंसे ही यज्ञको पूरा करें मन मनमें ऐसी
 स्पर्धा करके सब राजाओंने बहुतसा धन दिया ॥ १३ ॥ सेनासे
 पिरी हुई विमानोंकी समान विचित्र, रत्न और नानामकारकी
 सामग्रियोंसे भरपूर उस रमणीय महलोंकी माला. लोकपालोंके
 विमान ब्राह्मणोंके स्थान और आये हुए ऐश्वर्यवान् राजाओंसे
 महात्मा युधिष्ठिरके यज्ञकी वही भारी शोभा हुई ॥ १४-१६ ॥ ऐश्वर्य

पद्मिनाथ यज्ञेन सोऽयजदक्षिणावता ॥ १७ ॥ सर्वान् जनान्
सर्वकर्मैः समृद्धैः समतर्पयत् । अन्नवान् बहुमन्त्रयश्च भुक्तवज्रज-
संवृतः ॥ १८ ॥ रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः । तिला-
ज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः ॥ १९ ॥ तस्मिन् हि तत्पु-
र्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः । यथा देवास्तथा विप्रो दक्षिणान्नमहाधनैः ।
तत्पुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन्यज्ञे मुदान्विताः ॥ २० ॥ छ ॥ छ ॥

सभापर्वणि राजसूयिकपर्वणि यज्ञकरणे

पञ्चविंशोऽध्यायायः ॥ २५ ॥

समाप्तश्च राजसूयिकपर्वः ॥

अथार्घाष्टरथपर्वः ।

वैशम्पायन उवाच । ततोऽभिपेक्षनीयेऽग्निं ब्राह्मणाः राजभिः
सह । अन्तर्पेदीं प्रविशिशुः सत्कारार्हा महर्षयः ॥ १ ॥ नारदमुत्ता-
स्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः । समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षि-

से बह्मणदेवकी बरावरी करते हुए राजा युधिष्ठिरने छः अग्नियों
वाले-यज्ञमें पूरी २ दक्षिणा देकर मगवान्का यजन किया ॥ १७ ॥
राजा युधिष्ठिरने आये हुए लोगोंको इच्छानुकूल पदार्थ देकर
सन्तुष्ट किया उन आये हुए पुरुषोंके स्वा पी लेनेपर भी बहुत
सा भोजन और अन्न बच रहा ॥ १८ ॥ उस महोत्सवकी भेटोंमें
सब पदार्थ रत्नरूप ही आये महर्षियोंके द्वारा उत्तम रीतिसे किये
हुए उस यज्ञमें मन्त्रशिक्षामें प्रवीण ब्राह्मणोंके तिल घृत आदि
साकन्यकी आहुति देनेपर देवता तृप्त हुए और तिसी प्रकार
दक्षिणामें बहुतसा धन पाकर ब्राह्मण भी तृप्त हुए अधिक क्या कहें
उस यज्ञमें आयेहुए सब वर्णोंके पुरुष परममसन्न हुए ॥ १९-२० ॥
पञ्चविंश अध्याय समाप्त ॥ २५ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

वैशम्पायनजी कहते हैं कि— तदनन्तर अभिषेकके दिन मान्य
महर्षि ब्राह्मण और राजे इकट्ठे होकर भीतर यज्ञमण्डपमें गए
॥ १ ॥ मसिद्ध २ राजाओंके साथ नहीं बैठेहुए नारद आदि

पिस्तदा ॥ २ ॥ समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयस्तथा । कर्मान्तर-
मुपासन्तो जज्ञन्पुरपितौजसः ॥ ३ ॥ एवमेतन्न चाप्येवमेवञ्चैतन्न
चान्यथा । इत्युत्पूर्वहस्तम्र वितण्डा ये परस्परम् ॥ ४ ॥ कृशान-
र्यास्तवः केचिदकृशास्तम्र कुर्वते । अकृशाश्च कृशाश्चक्रुर्हेतुभिः
शास्त्रनिश्चयैः ॥ ५ ॥ तत्र मेधाविनः केचिदर्धमन्यैरुदीरितम् ।
विचिन्तिपुर्यथा रयेना नभोगतमिवापिषम् ॥ ६ ॥ केचिद्धर्मार्थ-
कुशलाः केचित्तनमदाव्रताः । रेभिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः
॥ ७ ॥ सा वेदियेदसम्पन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः । आवभासे सभाकीर्णा
नक्षत्रैर्घोरिवायता ॥ ८ ॥ न तस्यां सन्निधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न
चाव्रती । अन्तर्वेषां तदा राजन् युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ९ ॥ तान्तु
स्तत्पीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम् । तुतोप नारदः पश्यन्

महातमा यज्ञे अच्छे मालूम होते थे ॥ २ ॥ परमतेजस्वी देवता और
देवर्षि ब्रह्माजीकी सभामें बैठकर किसी कार्यका विचार करते हुए
नाना प्रकारकी बातें कह रहे थे ॥ ३ ॥ कोई कहने थे यह ऐसे ही
ठीक है कोई करते थे इस प्रकार ठीक नहीं है इस प्रकार तहां बैठे
हुए बहुतसे विद्वान् अपनी २ कहकर वितण्डावाद करने लगे ॥ ४ ॥
कोई शास्त्रानुसार युक्तियें दिखाकर साधारण अर्थमें गौरव और
गौरवमें लाघव दिखाने लगे ॥ ५ ॥ कोई २ बुद्धिमान् दमरोंकी
कही हुई बातको इस प्रकार पकड़ते थे, कि-जैसे वाजपत्नी आकाश
में मांसको पकड़ना है ॥ ६ ॥ उनमें कोई धर्मार्थमें मवीण, कोई
मदाव्रतधारी और कोई सकल भाष्योंको जाननेवालोंमें श्रेष्ठ थे
वह भी शास्त्रवर्चा करके अपवाद करने लगे ॥ ७ ॥ वेदवेत्ता ब्राह्मण
महर्षि और देवताओंसे भरीहुई वह वेदी, तारागणोंसे भरेहुए
आकाशकी समान शोषायमान हुई ॥ ८ ॥ हे महाराज ! उस
ममय युधिष्ठिरके यहां भीतर यज्ञवेदीमें न कोई शूद्र था और न
कोई उपनयनहीन द्विज था ॥ ९ ॥ देवर्षि नारदजी, परमबुद्धि-

धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥ अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजा
 विप । नारदस्तु तदापश्यन् सर्वज्ञसमागमम् ॥ ११ ॥ सस्मार
 च पुरावृत्तां कथान्तां पुरुषर्षभ । अंशावतरणे यासौ ब्रह्मणो भवने-
 ऽभवत् ॥ १२ ॥ देवानां सङ्गमं तन्तु विज्ञाय कुरुनन्दन । नारदः
 पुण्डरीकाक्ष सस्मार मनसा हरिम् ॥ १३ ॥ साक्षात् स विवधा
 रिद्धिन्, क्षत्रे नारायणो विभु । प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः पर
 पुरञ्जयः ॥ १४ ॥ सन्दिदेश पुरा योऽसौ विबुषान् भूतकृत् स्वयम् ।
 अन्यान्यमभिनिम्नन्त, पुनर्ज्ञोऽकौनयाप्स्यथ ॥ १५ ॥ इति नारायणः
 शम्भुर्भगवान् भूतभावनः । आदिश्य विबुषान् सर्वानजायत
 यदुत्तये ॥ १६ ॥ क्षितावन्बहुवृष्णीनां वशे वशभृतां वरः । परया
 शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोदुराद् ॥ १७ ॥ यस्य बाहुवर्लं सेन्द्रा

मान् स्त्रीमान् धर्मराजके यज्ञानुष्ठानकी शोभाको देखकर बड़े प्रसन्न
 हुए ॥ १० ॥ हे महाराज ! तदनन्तर सखल क्षत्रियोंके समागम
 को देखकर कुछ चिन्तासी करनेलगे ॥ ११ ॥ और हे महाराज !
 पहिले ब्रह्माजीके यहाँ भगवान्के अंशावतारके विषयकी जो कथा
 सुनी थी इस समय वह याद आगई ॥ १२ ॥ हे जनमेजय ! उस
 समय तिस क्षत्रियोंके समागमको देवताओंका समागम जानकर
 नारदजीने मन ही मनमें पुण्डरीकाक्ष श्रीहरिका स्मरण किया ॥ १३ ॥
 देवताओंके शत्रु दानवोंका नाश करनेवाले सर्वव्यापी नारायण
 ने अपनी प्रतिज्ञाका पालन करनेके लिये स्वयं शत्रुविजयी क्षत्रिय
 कुलमें अवतार लिपा ॥ १४ ॥ पहिले जिन जगत्कर्ताने स्वयं देव-
 ताओंको आज्ञा दी थी, कि—तुम मृत्युलोकमें जाकर परस्पर
 मारहिंसा करतेहुए फिर अपने २ लोकमें आजाओगे ॥ १५ ॥
 जगत्प्रति भगवान् नारायणने इसप्रकार देवताओंको आज्ञा देकर
 स्वयं यदुकुलमें अवतार लिपा ॥ १६ ॥ जैसे नारायणोंमें चन्द्रमा शोभा
 पाता है, तैसे ही कुनीनोंमें श्रेष्ठ भगवान् अंजक और वृष्णियोंके
 वंशमें शोभासे दिपनेलगे ॥ १७ ॥ इन्द्र आदि सकल देवता जिन

गुराः सर्व उपासते । सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिर्दैनः ॥१८॥
 अहो नत् समुद्रतं स्वयम्भूर्यदिदं स्वयम् । आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं
 बलसमन्वितम् ॥१९॥ ईत्येतां नारदश्चिन्तां चितयापास सर्ववित् । हरिं
 नारायणं ध्यात्वा यज्ञरीज्यन्तपीश्वरम् ॥२०॥ तस्मिन् धर्मविदां श्रेष्ठो
 धर्मराजस्य धीमतः । महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्यो स बहुमानतः ॥२१॥
 ततो भीष्मोऽन्नवीद्वाजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम् । क्रियतामर्हणं राज्ञां
 यथाहमिति भारत ॥२२॥ आचार्यमृत्विजश्चैव संयुजश्च युधिष्ठिर ।
 स्नातकश्च प्रियं प्राहुः पदार्पाहान्त्पुं कृत्वा ॥२३॥ एतान्भार्याभिगता-
 नाहुः सम्बत्सरोपितान् । त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः
 ॥२४॥ एषामेकैकशो राजन्नर्घ्य आनीयतामिति । अथ चैषां
 वरिष्ठाय समर्थापोपनीयताम् ॥२५॥ युधिष्ठिर उवाच । कस्मै

के भुजबलका भरोसा रखते हैं वह ही दैत्यनाशी भगवान् इस
 समय मनुष्यों के सा नाग धारण किये हुए हैं ॥१८॥ कौन्सी आश्चर्यकी
 बात है, कि-भगवान् स्वयंभू फिर आप ही इन बलधारी क्षत्रियों
 का क्षय करेंगे ॥ १९ ॥ जिनके लिये लोग चांग यज्ञादि का
 अनुष्ठान करते हैं वही यज्ञेश्वर भगवान् स्वयं आकर उड़े सम्मान
 के साथ बुद्धिमान् राजा युधिष्ठिरके यज्ञमहोत्सवमें विराजमान
 है, सर्वज्ञ नारदजी श्रीहरि नारायणका स्मरण करके इस प्रकार
 चिन्तन करने लगे ॥ २० ॥ २१ ॥ हे राजन् ! भीष्मपितामहने
 धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा, कि-हे भारत ! राजाओंका यथोचित
 पूजन करना चाहिये ॥ २२ ॥ हे युधिष्ठिर ! आचार्य, मृत्विक्,
 संनधी, प्रह्लादारी, राजा और प्रियपुरुष यह छः यदि एक २ वर्षके
 बाद अपने यहां आये तो अर्घ्यके योग्य होते हैं सा यह अर्घ्य पानेकी
 इच्छामें बहुत दिनोंसे हमारे अनुगामी प्रिय बने हुए हैं ॥ २३ ॥ २४ ॥
 इस कारण हे राजन् ! इन सबोंके लिये एक २ अर्घ्या भेगवाइये और
 जो इनमें सभसे श्रेष्ठ और समर्थ हो पहिले उसका ही पूजन करो
 ॥२५॥ यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा, कि-हे पितामह ! बताइये कि-

भवान् मन्यतेऽर्धमेकरमै कृतनन्दन । उपनीयमानं युक्तं च तन्मे
 ब्रूहि पितामह ॥ २६ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो भीष्मः
 शीतनयो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान् । वाष्ण्यं मन्यते कृष्णमर्हणीय-
 तमं भुवि ॥ २७ ॥ एष त्वेपां समेस्तानां तेजोदलपराक्रमैः । मध्ये
 तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥ २८ ॥ असूर्यमिव सूर्येण
 निर्घातमिव वायुना । भासितं ह्यादितञ्चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः
 ॥ २९ ॥ तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान् । उपजहेऽथ विधि-
 यद्वाष्ण्येययार्घ्यमुत्तमम् ॥ ३० ॥ प्रतिजग्माह तत् कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणः ॥
 शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥ ३१ ॥ स उवाच भव्य भीष्मश्च
 धर्मरान्ध्र संसदि । अपाक्षिपद्वासुदेवं चेदिराजो महायलः ॥ ३२ ॥

इति सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि कृष्णार्घदाने

पट्विंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

आये हुए संबंधियोंमेंसे आप किसको प्रथम पूजनके योग्य समझते
 हैं ॥ २६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि-यह सुनकर शन्तनुकुमार वीरभीष्म
 जीने अपनी बुद्धिसे निश्चय करके कहा, कि-मैं तो भूमण्डलभरमें
 वृष्णिवंशी श्रीकृष्णजीको सबसे प्रथम पूजनके योग्य समझता हूँ
 ॥ २७ ॥ जैसे सकल ज्योतिषोंमें सूर्यकी कान्ति सबसे अधिक दमकती
 है तैसे ही इन सब लोगोंमें तेज बल और पराक्रमके विषयमें
 श्रीकृष्ण ही सबसे श्रेष्ठ हैं ॥ २८ ॥ जैसे अन्धकारके स्थानमें सूर्यका
 प्रकाश होजानेपर लोगोंका अन्तःकरण मफुल्ल होजाता है और
 जैसे वायुहीन स्थानमें स्वच्छवायु चलने पर परम आनन्द होता
 है, तैसे ही श्रीकृष्णजीके प्रगजानेसे यह दुर्गति समाप्त होअत्यन्त
 और प्रसन्न होरही है ॥ २९ ॥ इसप्रकार भीष्मजीके आज्ञा देनेपर
 प्रतापी सहदेवने उन जगदीश कृष्णजी मुख्य अर्घ दिया ॥ ३० ॥
 और श्रीकृष्णजीने उस अर्घको शास्त्रोक्त विधिसे ग्रहण किया,
 परन्तु शिशुपालजीने वह कृष्णका पूजन सदा नहीं हुआ ॥ ३१ ॥
 वह महायली शिशुपाल भरी सभामें भीष्म, युधिष्ठिर और
 श्रीकृष्णजी निंदा करने लगा ॥ ३२ ॥ पट्विंश अध्याय समाप्त ३६

शिशुपाल उवाच । नायमर्हति वार्ण्येयस्तिष्ठस्विव महात्मसु ।
 महीपतिषु कौरव्य राजपुत्र पार्थिवार्हणम् ॥ १ ॥ नायं युक्तः समा-
 चारः पाण्डवेषु महात्मसु । यस्काभात् पुण्डरीकाक्षं पांडवार्चित-
 वानसि ॥ २ ॥ याला युयं न जानीध्वं धर्मः सूचये हि पांडवाः । अयं च
 स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यावगेयेऽल्पदर्शनः ॥ ३ ॥ त्वादृशो धर्मयुक्तो हि
 कुर्वाणः प्रियकाम्यया । भवत्यभ्यधिकं भीष्म लोकेष्ववमतः सताम्
 ॥ ४ ॥ कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम् । अर्हणामर्हति
 तथा यथा युष्माभिरर्चितः ॥ ५ ॥ अथवा मन्यसे कृष्णं स्थविरं क्रु-
 द्धं पुण्ड्रं । वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः ॥ ६ ॥ अथवा पाण्ड-
 देवेऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान् । द्रुपदे तिष्ठति कथं पाण्डवोऽहति
 पूजनम् ॥ ७ ॥ आचार्यं मन्यसे कृष्णमथवा कुरुनन्दन । द्रोणे

शिशुपालने कहा, कि—हे पाण्डव ! इन सब योग्य राजाओंके
 विद्यमान होते हुए यह कृष्ण किसी प्रकार पूजाके योग्य नहीं
 होसकता ॥ १ ॥ तुमने जानकर पहिले कृष्णका पूजन करा है,
 परन्तु यह बात महात्मा पांडवोंके योग्य नहीं हुई ॥ २ ॥ हे पांडवों !
 तुम बालक हो इसकारण धर्मके तत्त्वको नहीं जानते हो, धर्म बढ़ा
 सूक्ष्म पदार्थ है और यह भीष्म तो निकम्मे हैं क्यों कि— इनको
 अनुभव नहीं है और इनकी बुद्धि भी ठिकाने नहीं रही है ॥ ३ ॥
 हे भीष्म ! तुम्हारे समान प्रिय करना चाहनेवाले धर्मात्मा पुरुषों
 का सज्जनोंके समानमें बड़ा निरस्कार होता है ॥ ४ ॥ जो कृष्ण
 कभी राजा नहीं हुआ उसका पूजन तुमने सब राजाओंमें पहिले
 कैसे किया ? और इसने भी सब राजाओंमें बैठकर पहिले पूजा
 कैसे कराली ॥ ५ ॥ और हे पाण्डव ! यदि कहो, कि कृष्ण
 वृद्ध है, तो इनसे भी बड़े वसुदेवजीके होते हुए यह जनका पुत्र
 पहिले पूजा पानेका अधिकारी कैसे होसकता है ? ॥ ६ ॥ हे कुरु
 नन्दन ! कृष्ण सदा ही तुम्हारे सचे द्वितीय है इसकारण इनकी
 पहिले पूजन किया हो तो यह भी ठीक नहीं है, कि— द्रुपद
 के होतेहुए कृष्णकी पूजा नहीं होसकती ॥ ७ ॥ हे युधिष्ठिर !

तिष्ठति याण्येयं कस्मादर्थितवानसि ॥ ८ ॥ अतिवृजं मन्यसे
 कृष्णमपवा कुरुनन्दन । द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्थित-
 स्त्वया ॥ ९ ॥ भीष्मे शान्तनवे राजन् स्थिते पुरुषत्तमे ।
 स्वच्छन्दमृत्युके राजन् कथं कृष्णोऽर्थितस्त्वया ॥ १० ॥ अश्व-
 त्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे । कथं कृष्णस्त्वया राज-
 न्नर्थितः कुरुनन्दन ॥ ११ ॥ दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुष-
 सत्तमे । कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयार्थितः ॥ १२ ॥
 द्रुपं किंपुरुषाचार्यमतिक्रम्य तयार्थितः । भीष्मके चैव दुर्योधने
 पाण्डुवत् कृतलक्षणे ॥ १३ ॥ नृपे च रुक्मिणि भ्रष्टे
 एकलव्ये तथैव च । शन्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयार्थितः
 ॥ १४ ॥ अयञ्च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः ।
 जामग्नस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत ॥ १५ ॥ येनात्मबल-
 यदि कृष्णको आचार्य मानते द्रोणो तव भी द्रोणाचार्यके बैठे हुए
 तुमने पहिले कृष्णकी पूजा कैसे करी ॥ ८ ॥ अथवा हे कुरु-
 नन्दन ! कृष्णको अतिवृज समझा हो तो भी वृद्ध द्वैपायनके बैठे-
 हुए कृष्णकी पूजा करना तुमको उचित नहीं है ॥ ९ ॥ हे राजन्
 स्वाधीनमृत्यु शान्तनुकुमार पुरुषोंमें भ्रष्ट भीष्मजीके बैठे हुए तुमने
 कृष्णका पूजन कैसे किया ॥ १० ॥ हे राजन् युधिष्ठिर ! सकल
 शास्त्रोंके ज्ञाता वीर अश्वत्थामाके बैठे हुए तुमने कृष्णका पूजन
 कैसे किया ॥ ११ ॥ किंपुरुषोंके आचार्य द्रुपको लांघकर और
 पाण्डुकी समान मान्य, किसीसे दबाव न खानेवाले भीष्मके
 होते हुए तुमने कृष्णका पूजन कैसे कर दिया ॥ १२ ॥ राजा
 रुक्मी तथा भ्रष्ट एकलव्य और मद्रपति शन्यके होते हुए तुमने
 पहिले कृष्णका पूजन कैसे कर दिया ॥ १३ ॥ सब राजाओंमें
 जिसके बलकी सराहमा है जो प्रसिद्ध ब्राह्मण परशुरामका प्यारा
 शिष्य है और जिसने अपने बलके भरोसेपर रणभूमिमें सब
 क्षत्रियोंका विरस्कार किया है उस महाबली कर्णको धेड़कर तुमने

माश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः । तच्च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्ण-
स्त्वयार्चितः ॥ १६ ॥ नैव ऋत्विक् न चाचार्यो न राजा मधु-
सूदनः । अर्धितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत् प्रियकाम्यया ॥ १७ ॥ अथवा-
भ्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः । किं राजभिरिहानीर्तरयणानाय
भारत ॥ १८ ॥ वपन्तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः । प्रयच्छामः
करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥ १९ ॥ अस्य धर्मप्रवृत्तस्य
पार्थिवत्वं चिरीर्यतः । करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान्न मन्यते
॥ २० ॥ किमन्यदवमानाद्धि यदेनं राजसंसदि । अमाप्तलक्षणं
कृष्णमर्पेनार्चितवानसि ॥ २१ ॥ अकस्माज्जर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति
यशो गतम् । को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ॥ २२ ॥
योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान् पुरा । जरासन्धं महा-

कृष्णका पूजन कैसे किया ? ॥ १५ ॥ १६ ॥ यह कृष्ण न
ऋत्विक् है, न राजा है, न आचार्य है हे युधिष्ठिर ! केवल मसन्न
। करनेके लिये तुमने कृष्णका पूजन किया है ॥ १७ ॥ अथवा यदि
कृष्णका प्रथम पूजन करनेका पहिलेसे ही तुमने अपने मनमें
विचार कर लिया था तो फिर हे भारता सब राजाओंको बुलाकर
इनका अपमान क्यों किया ? ॥ १८ ॥ हमने भी महात्मा युधिष्ठिरके
भवसे समझानेसे वा किसी प्रकारके लोभसे कर नहीं दिया था
किंतु राजा युधिष्ठिर धर्माचरणके मेमी है और साम्राज्य पद पाना
चाहते हैं इसलिये कर दे दिया था, परन्तु इन्होंने हमारा सम्मान
नहीं रखा ॥ १९ ॥ इस राजसभामें अयोग्य कृष्णका पहिले
पूजन कर दिया और इससे अधिक हमारे अपमानकी कौनसी बात
हागी ? ॥ २० ॥ युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं, यह यश जहां वहां भूटा
फैल गया है, इसमें कुछ संदेह नही अथवा इन धर्मपुत्रका धर्मात्मा-
पन जाता रहा, क्योंकि—कौनसा धर्मात्मा गुरुप, धर्मभ्रष्ट गुरुपकी
इस प्रकार राज्ञर्नोभीसा पूजा करेगा ? ॥ २२ ॥ जो वृष्णवंशमें
उत्पन्न हुआ, जिसने पहिले महात्मा राजा जरासन्धको अन्याय

त्वानपन्यायेन दुरात्मवान् ॥ २३ ॥ अथ धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा
 युधिष्ठिरात् । दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घ्यस्य निवेदनात् ॥ २४ ॥
 यदि भीताश्च कान्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः । ननु त्वयापि
 शोद्धव्यं यां पूजा मागवाहसि ॥ २५ ॥ अथवा कृपणैरेतामुपनीतां
 जनार्दनः । पूजामनर्हः कस्माच्चमन्यमुज्ञातवानसि ॥ २६ ॥
 अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्वहु मन्यसे । हविषः प्राप्य निस्पन्दं
 प्राशिता श्वेर निर्जवे ॥ २७ ॥ त्वयं पार्यिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते
 त्वामेव कुरवो व्यक्तं मलेभन्ते जनार्दनः ॥ २८ ॥ बलीवे दारक्रिया
 यादगन्धे वा रूपदर्शनम् । अराज्ञो राजवत् पूजा तथा ते मधुसूदन
 ॥ २९ ॥ दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः । वासुदेवो-
 ऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद्यथातथम् ॥ ३० ॥ इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाप्य
 से मारढाला ऐसे दुष्टारवा कृष्णको अर्घ्य देनेसे आज युधिष्ठिरने
 अपनी नीचता दिखाई है और धर्मात्मापन सब नष्ट होगया ॥ २३ ॥
 ॥ २४ ॥ कुंतीके पुत्र तो ढरपोक, नीचस्वभाव और तपस्वी हैं,
 परंतु हे कृष्ण । तुमने जो आज अपनी पूजा कराई है, इसके
 योग्य तुम कैसे हो यह बात अब तुमको बताये देते हैं ॥ २५ ॥
 अथवा हे कृष्ण ! इन्होंने तो नीचताके कारण तुम्हारी पूजा करी
 परंतु तुमने अयोग्य होकर कैसे ग्रहण करली ॥ २६ ॥ जैसे छुपे
 हुए जरासा यी चाटकर कुत्ता अपनी सराहना करता है तैसे ही
 तुम अपनी अनुचित पूजाको बड़ी बात मानते हो ! ॥ २७ ॥
 कृष्ण ! इसमें इन राजाओंका कुछ अपमान नहीं हुआ किन्तु
 स्पष्ट प्रतीत होता है, कि-ऐसा करके पाण्डवोंने तुम्हारी ही अ-
 प्रतिष्ठाकी है ॥ २८ ॥ जैसे नपुंसकका विवाह करना और अन्धका
 रूपको देखना निरर्थक है वैसे ही राज्यहीन का राजाका समान
 सम्मान करना मानो उसको सज्जित करना है ॥ २९ ॥ राजा युधि-
 ष्ठिर और भीष्मकी जैसी विद्या बुद्धि है उसको तथा जैसे कृष्ण हैं
 सो भी देखलिया वास्तवमें सब ज्यों त्यों ही हैं ॥ ३० ॥ शिशु-

परमासनत् । नियेयौ सदसस्तस्मात्सहितौ राजभिस्तदा ॥३१॥

इति सभापर्वणि अर्घ्याभिहरणपर्वणि शिशुपालक्रोधे

सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत् ॥
उवाच चैनं मधुरं सान्स्वपूर्वमिदं वचः ॥ १ ॥ नेदं युक्तं महीपाल
पारशं वै स्वमुक्तवान् । अथर्मश्च परो राजन् पारुष्यं च निरर्थकम्
॥२॥ न हि धर्मं परं जातु नावमुध्येत पार्थिवः । भीष्मः शान्तनव-
स्त्वेनं भावमस्थास्त्वमन्यथा ॥ ३ ॥ पश्य चैतान्महीपालांस्त्वत्तो
वृद्धतरान्वहन् । मृप्यन्ते चार्हणां कृष्णं तदस्त्वं ज्ञान्तुमर्हसि ॥ ४ ॥
वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते मृशम् । न ह्येनं त्वं तथा वेद्य
यथैनं वेद फीरवः ॥ ५ ॥ भीष्म उवाच । नास्मै देवो ह्यनुनयो

पाल वनसे ऐसा कहकर अपने आसनसे उठ खड़ा हुआ और
राजाओंको साथ लिये हुए तहाँसे चलनेको उद्यत हुआ ॥३१॥

सप्तत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३७ ॥ अ ॥ अ

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—तब राजा युधिष्ठिर शीघ्र ही उठ
कर शिशुपालके पास गए और उसको समझाकर मधुर वाणीमें
यह बात बोले कि—॥१॥ हे भूपाल ! तुमने जो कुछ कहा, यह बातें
तुम्हें नहीं कहना चाहियें, क्योंकि—हे राजन् ! कठोर वचन कहना
अथर्म और निरर्थक बात है ॥ २ ॥ प्रतीत होता है इस बातको
तुम जानते ही नहीं, कि—धर्म किसको कहते हैं, नहीं तो तुम इन
शान्तनुनन्दन भीष्मपितामहका तिरस्कार नहीं करते ॥ ३ ॥ देखो
यह बहुतसे राजे जो तुमसे अवस्थामें बड़े हैं इनमेंसे किसीको भी
कृष्णका पूजन बुरा नहीं मालूम हुआ, इसकारण इस विषयमें
तुमको भी शान्त होना चाहिये ॥ ४ ॥ हे चेदिराज ! श्रीकृष्णके
वास्तविक स्वरूपको भीष्मजी ही ठीक २ जानते हैं, जैसा यह
जानते हैं तैसा तुम नहीं जानते ॥ ५ ॥ भीष्मने कहा, कि—हे

नायमर्हति सान्त्वनम् । लोऽकृद्गतमे कृष्णे योऽर्हतां नाभिनन्यते
 ॥ ६ ॥ क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वर । यो मुञ्चति
 वशे कृत्वा गुरुर्मवति तस्य सः ॥ ७ ॥ अस्यां हि समितौ राज्ञा-
 मेहमप्यजितं युधि । न परयापि महीपालं सास्वतीपुत्रतेजसा ॥ ८ ॥
 नेहि केवलमस्या रूपमप्यर्पितमोऽन्युतः । त्रयाणामपि लोकानामर्च-
 नीयो महाभुजः ॥ ९ ॥ कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः ।
 जगत्सर्वञ्च चाण्डोपे निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥ तस्मात् सत्स्वपि
 वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान् । एवं वक्तुं न चाहस्त्वं मा तेऽभृद्वुद्धि-
 रीदृशी ॥ ११ ॥ ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पय्युपासिताः ।
 तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥ १२ ॥ समागतानामश्रौषं
 युधिष्ठिर ! सब लोकोंमें बड़े माने जानेवाले कृष्ण की पूजाको जो
 अच्छा नहीं मानता, ऐसे पुरुषसे विनय करना वा उसको सम्-
 भाना निरर्थक है, ॥ ९ ॥ जो युद्ध करनेवालोंमें प्रतिष्ठित क्षत्रिय
 अन्य क्षत्रियको संग्राममें जातकर अपने वशमें करके छोड़ देता है वह
 उस हारनेवाले क्षत्रियका गुरु होता है ॥ ७ ॥ राजाओंकी बड़ी
 भारी सभामें ऐसा एक भी राजा नहीं मालूम होता, जिसको कृष्णने
 अपने तेजोपलसे न जीता हो ॥ ८ ॥ यह अब पुन केवल हमारे ही परम-
 पूज्य नहीं हैं, किंतु यह महाबाहु भिलोकीभरके पूज्य हैं ॥ ९ ॥
 इन कृष्णने संग्राममें बहुतसे वीर क्षत्रियोंको जीता है और सकल
 सार इन कृष्णके आश्रयसे ही टिक रहा है ॥ १० ॥ इस कारण
 और २ अधिक अवस्थावालोंके विद्यमान होते हुए भी हमने
 श्रीकृष्णजीका पूजन पाहिले किया है औरोंका नहीं किया, इस
 पर तुम्हारा ऐसा घमंड दिखाना बहुत ही अनुचित है अब आगे
 को तुम्हारी ऐसी उलट्टी बुद्धि न होनी चाहिये ॥ ११ ॥ हे
 राजन् । मैंने बहुतसे ज्ञानवृद्ध साधुपुरुषोंका समागम किया है,
 और उनसे सकल गुणोंके आधार श्रीकृष्णजीकी बड़ी मशंसा
 सुनी है ॥ १२ ॥ श्रीकृष्णने जन्मसे लेकर अबतक जितने धर्म

बहुन् बहुमतान्सताम् । कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्ममभृति धीमतः
 ॥ १३ ॥ बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे । न केवलं
 वयं कामाक्ष्यचेदिराज जनार्दनम् ॥ १४ ॥ न सम्बन्धं पुरस्कृत्य
 कृतार्थं वा कथञ्चन । अर्वाभरेऽर्चनं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम्
 ॥ १५ ॥ यशः शौर्यं जयं चास्य विशायार्चा प्रयुज्यहे । न न कश्चि-
 दिहास्माभिः सुशलोऽप्यगरीक्षितः ॥ १६ ॥ गुणैर्द्वानतिक्रम्य
 हरिरर्च्यतमो मतः । ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां यत्नाधिरः ७
 वैश्यानां धान्यधनवान्शूद्राणामेव जन्मतः । पूज्यतायां च गोविन्दे
 हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥ १८ ॥ वेदवेदाङ्गविज्ञानं यत्नं चाभ्यधिकं
 तथा । वृणां लोके हि कोऽप्योऽस्ति विशिष्टः केशवाहते ॥ १९ ॥
 दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं हीः कीर्तियुद्धिरुत्तमा । सन्ततिः श्रीधृति-

क्रिये हैं उन सत्पुरुषोंके मान्य चारोंको मैंने अभ्यागत सज्जनों
 से अहनों वार सुना है हे चेदिराज ! हमने केवल किसी कामनासे
 ही कृष्ण का पूजन नहीं किया है ॥ १३ ॥ १४ ॥ कृष्णकी
 अवस्था थोड़ी होनेपर भी हमने इनकी परीक्षा कर देखी है कृष्ण
 की शूरता, वीरता, कीर्ति और विजय आदि सब कुछ समझकर
 इन सफल माणियोंके सुखदाता जगत्भरके पूजनीय अस्त्युतकी
 पूजा करी है, नहीं तो किसीप्रकारके सम्बन्धका ध्यान देकर
 अपना मदलेमें कोई उपकार पानेकी आशासे हमने इनका सरकार
 नहीं किया है ॥ १५ ॥ १६ ॥ गुणोंकी अधिकताके कारण वृद्धोंकी
 याचकर भी कृष्णका पूजन करना चाहिये व्याख्यातोंमें अधिक ज्ञानी
 और क्षत्रियोंमें अधिकयत्नवाला ॥ १७ ॥ वैश्योंमें अधिक धनवाला
 और शूद्रोंमें केवल अवस्थामें बड़ा ही सम्मान पाने योग्य होता है,
 परन्तु कृष्णमें पूजनीय होनेके दो हेतु हैं ॥ १८ ॥ यह सफल वेद
 वेदाङ्गोंके पारगामी हैं और सबसे अधिक यत्नी हैं, सार यह है
 कि—मनुष्यलोकमें कृष्णमें अधिक विद्वान् और यत्नी हैं ही
 कौन ? ॥ १९ ॥ दान, चतुराई, विद्या, शूरता, लज्जा, कीर्ति, उत्तम

सृष्टिः पुष्टिश्च निपताच्युते ॥ २० ॥ तमिमं लोकसम्पन्नमाचार्यं
 पितरं गुरुम् । अर्घ्यमर्चितमर्चाहं सर्वं संचिन्तुमर्हथ ॥ २१ ॥ अश्वत्थिगु
 गुरुर्विद्याश्रय स्नातको वृषतिः प्रियः । सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्य-
 र्वितोऽच्युतः ॥ २२ ॥ कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाव्ययः ।
 कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३ ॥ एष मकृति-
 रव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः । परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमो-
 ऽप्ययः ॥ २४ ॥ बुद्धिर्मनो महद्वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
 चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५ ॥ आदित्य-
 श्वन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये । दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे
 प्रतिष्ठितम् ॥ २६ ॥ अग्निहोत्रमुखाः वेदा गायत्रीछन्दसां मुखम् ।
 राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् २७ नक्षत्राणां मुखं

बुद्धि, विनय, अनूपम शोभा, धीरज, संतोष और पुष्टि आदि
 सब ही गुण कृष्णमें सदा विराजमान रहते हैं ॥ २० ॥ इस
 कारण ऐसे सकलगुणसंपन्न, आचार्य, पिता और गुरुस्वरूप
 जगत्पूजित कृष्ण अर्घ्य और पूजाके योग्य हैं, ऐसा तुम सबको
 ही मानना चाहिये ॥ २१ ॥ यह अश्वत्थि, गुरु, संवन्धी स्नातक
 राजा और प्रीतिपात्र हैं इसीकारण इन अच्युत कृष्णका पूजन
 किया है ॥ २२ ॥ कृष्ण ही इस चराचर विश्वकी रचना, पालन
 और प्रलय करते हैं और यह चराचर भूतरूप विश्व कृष्णके ही
 आधार पर है ॥ २३ ॥ कृष्ण ही अव्यक्त मकृति, सनातन, कर्ता,
 और सकल प्राणियोंके अपीरवर हैं इसकारण निःसंदेह परम
 पूजनीय हैं ॥ २४ ॥ बुद्धि, मन, महत्तत्त्व, वायु, तेज, जल,
 आकाश, और पृथिवी तथा चारों प्रकारके जितने प्राणी हैं सब
 ही कृष्णके आधारसे उठरे हुए हैं ॥ २५ ॥ सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह,
 नक्षत्र, दिशा, विदिशा सब ही एकमात्र कृष्णके आधारसे टिके
 हैं ॥ २६ ॥ जैसे चारों वेदोंका अग्निहोत्र, छन्दोंका गायत्री,
 मनुष्योंका राजा और नदियोंका समुद्र मुख है ॥ २७ ॥ जैसे

चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् । पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां
मुखम् ॥२८॥ ऊर्ध्वन्तिर्यग्गन्धश्चैव यावती जगतो गतिः । सदेवकेषु
लोकेषु भगवान् केशवो मुखम् ॥२९॥ अयन्तु पुरुषो बालः
शिशुपालो न बुध्यते । सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभापते
॥३०॥ यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान्नरः । स वै पश्येद्यथा
धर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥ ३१ ॥ स वृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु
महारमसु । को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत् ॥३२॥
अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति । दुष्कृतायां यथा
न्याय्यं तथायं कर्त्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

इति सभापर्वण्यघाभिहरणपर्वणि भीष्मवाक्येऽष्टत्रिंशो-

ऽध्यायः ॥३८॥

वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः॥

नक्षत्रांका चन्द्रमा, सकल ज्योतिषांका सूर्य, पर्वतोंका मेरु और
पक्षियोंका गरुड, मुख है तैसे ही त्रिलोकीमें ऊपर, इधर उधर,
नीचे जितनी गति कही हैं, देवलोक पर्यन्त सब ही लोकोंके भग-
वान् केशव मुखरूप हैं ॥ १८—२९ ॥ और यह शिशुपाल तो
बालककी समान नासमझ पुरुष है यह नहीं जानता कि-कृष्ण
अविनाशी और सर्वव्यापी हैं, तभी तो ऐसा कह रहा है ॥ ३० ॥
जो बुद्धिमान् पुरुष उत्तम धर्मकी खोज करते हैं वह जैसे धर्मका
धर्म समझ सकते हैं, चेदिराज तैसा नहीं समझ सकता ॥ ३१ ॥
बालकसे लेकर बूढ़े पर्यन्त और सकल महात्मा राजाओंमें कौन
कृष्णको पूजनीय नहीं मानता है और कौन इनकी पूजा नहीं
करेगा ॥ ३२ ॥ हां एक शिशुपाल ही इस पूजाको अनुचित मानता
है यदि हमने अनुचित पूजाकी है तो अब यह जो उचित
समझें सो कर लें ॥ ३३ ॥ अष्टत्रिंश अध्याय समाप्त ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय-! महाबली भीष्मजी
तो ऐसा कहकर चुप हो रहे, तब इसके उत्तममें सहदेवने अर्थभरा

व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्धवद्वचः ॥ १ ॥ केशवं केशिहन्तार
मममेयपराक्रमम् । पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपाः ॥ २ ॥
सर्वेषां बलिनां मूढिन मयेदं निद्वं पदम् । एवमुक्ते मया सम्यगु
त्तर मवरीतु सः ॥ ३ ॥ मतिमन्त्वथ ये 'नेचिदाचार्य्य' पितरं गुरुम् ।
अर्च्यमर्चितमर्हास्मनुजानन्तु ते नृपाः ॥ ४ ॥ ततो न व्याजहारैषां कश्चिद्
वृद्धिमतासताम् । पानिना बलिनां राज्ञां मध्ये दर्शिते पदे ॥ ५ ॥
ततोऽपतत् पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ॥ अदृश्यरूपा वाचश्चा-
प्यनुरन साधु साध्विति ॥ ६ ॥ सर्वसशयनिर्मोक्ता नारदः
सर्वलोभित् । उवाचाखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ७ ॥
कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः । जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया
न सम्भाष्या कदाचन ॥ ८ ॥ वैशम्पायन उवाच । पूजयित्वा

वचन कहा कि-॥ १ ॥ केशीका वध करनेवाले केशव परम
पराक्रमी है और हमारे परमपूज्य है, जो राजे कृष्णकी पूजाको
नहीं सहसकते हैं मैं उन बलके अभिमानियोंके मस्तक पर
लात मारता हूं, यदि उनमें शक्ति हो तो मेरी इस बातका उत्तर
दें ॥ २-३ ॥ और जो बुद्धिमान् तथा भले गुरेका विचार कर
सकतेवाले हैं वह राजे अदृश्य ही आचार्य पिता और गुरुकी
समान पूजनीय कृष्णका पूजन करनेकी अनुमति दें ॥ ४ ॥ सह
देवके इसप्रकार घमण्डके साथ चरण (लात) दिखाने पर उन
सकल अभिमानी महाबली राजाओंमेंसे कोई जीभ भी नहीं हिला
सका ॥ ५ ॥ उस समय सहदेवके ऊपर पुष्पोंकी वर्षा हुई और
आकाशवाणीने 'साधु साधु, कहकर सहदेवकी बातकी सराहना
करी ॥ ६ ॥ उस समय सर्वज्ञ और सबके संदेहोंको काटनेवाले
नारदजीने सबके सामने सदे होकर स्पष्ट घान कही, कि-॥ ७ ॥
जो मनुष्य कमलदलतोचन कृष्णका पूजन न करें उन अशक्तोंको
जीते ही मरे हुए समझो और उनके साथ कभी बात तक नहीं
करना चाहिये ॥ ८ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे राजन् ! तद

च पूजार्हान् ब्रह्मक्षत्रविशेषवित् । सहदेवो नृणां देवः समापयत
 कर्मतत् । तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः । अतिताम्रे-
 क्षणः क्रोधादुराच मनुजाधिपान् ॥ १० ॥ स्थितः सेनापतिर्गोऽहं
 मन्यध्वं किन्तु साम्प्रतम् । युधि तिष्ठामि सन्नद्य समेतान् वृष्णिपाण्ड-
 वान् ॥ ११ ॥ इति सर्वान्समुत्साह्य राज्ञस्ताश्चेदिपुङ्गवः ।
 यज्ञोपधानाय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥ १२ ॥ तत्राहूता गताः
 सर्वे सुनीथममुखा गणः । समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा
 ॥ १३ ॥ युधिष्ठिराभिपेक्ष्य चासुदेवस्य चार्हणम् । न स्याद्यथा
 तथा कार्यमेवं सर्वे तदाब्रुवन् ॥ १४ ॥ निष्कर्षान्निश्चयार्त्तसर्वे
 राजानः क्रोधमूर्च्छिताः । अब्रुवन्स्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात्
 ॥ १५ ॥ सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुरावभी । आभिषादप-

नंतर ब्राह्मण क्षत्रियोंके भेदको जाननेवाले वीर सहदेवने पूजनीय
 पुरुषोंका पूजन करके उस कर्मको समाप्त करदिया ॥ ६ ॥
 कृष्णकी पूजा होजानेपर उस समय सुनीथ नामक एक महाबली
 पराक्रमी वीर पुरुषने क्रोधसे शरीरको कँपाते हुए लाल २ आँखें
 निकालकर सब राजाओंको पुकार कर कहा ॥ १० ॥ कि-मैं
 पहिले सेनापति था, अब यादव और पाण्डवोंके कुलका नाश
 करनेके लिये इसी समय रणसागरमें स्नान करूंगा ॥ ११ ॥ चेदि-
 राज शिशुपाल इसप्रकार राजाओंका उछलता हुआ उत्साह देख
 कर आवेशमें भर कर यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये राजाओंसे संमति
 करनेलगा ॥ १२ ॥ शिशुपालके बुलानेपर सुनीथ आदि सब राजे
 उसके पास गए उस समय वह सब राजे क्रोधमें भर रहे थे और
 उनके मुखोंकी कान्ति बदल गई थी ॥ १३ ॥ वह सब कहनेलगे, कि-
 ऐसा करो, जिसमें युधिष्ठिरका राज्याभिषेक और कृष्णका पूजन
 न होसके ॥ १४ ॥ अपनी २ संमतिका सार निकालकर और निश्चय
 करके वह सब राजे क्रोधमें भरगये और तर्हा बड़े दुःखके साथ
 अपने २ निश्चयको कहने लगे ॥ १५ ॥ मित्रोंके निषेध करने पर

कृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥ १६ ॥ तं वलौघमप्यर्च्यन्तं राज-
सागरमन्तपम् । कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय वुबुधे तदा ॥ १७ ॥

इति सभापर्वण्यर्घ्याभिहरणपर्वणि राजमन्त्रण ऊनचत्वारिंश-
विंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥ समाप्तश्च अर्घ्याहरणपर्वः ॥

अथ शिशुपालवधपर्वः ।

वैशंपायन उवाच । ततः सागरसङ्काशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम् ।
संघर्षवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवाणवत् । रोपात् मचलितं सर्वपिद-
माद् युधिष्ठिरः ॥ १ ॥ भीष्मं प्रतिमतां सुरुपं वृद्धं कुरुपितामहम् ।
वृहस्पतिं वृहत्तेजां पुरुहूत ईनारिहा ॥ २ ॥ असौ रोपात् मच-
लितो महान्नृपतिसागरः । अत्र यत् प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पिता-
मह ॥ ३ ॥ यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् मजानाञ्च हितं भवेत् ।
यथा सर्वत्र तत्सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ॥ ४ ॥ इत्युक्तवति धर्मज्ञे

ऊनके शरीरोंमें ऐसा आवेश उठता था जैसे मांससे ढटाने पर
गर्जनेवाले सिंहोंमें क्रोध भरा होता है ॥ १६ ॥ राजाओंको इस
प्रकार युद्धके लिये संमति करते हुए देखकर श्रीकृष्णजीने समझा
कि—यह तो राजाओंका ऐसा समुद्र उमड़ आया, कि जिनकी सेना
के समूहका ओर ओर बिलना भी कठिन है ॥ १७ ॥ ऊनचत्वारिंश
अध्याय समाप्त ॥ ३६ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन कहते हैं, कि—तदनन्तर युधिष्ठिर उस समुद्र की
समान राजमण्डलकी प्रलयकालके पवनसे बिलोढ़े हुए क्षुब्ध
भयानक समुद्रकी समान क्रोधसे चलायमान होते देखकर बुद्धि-
मानोंमें श्रेष्ठ कुरुकुलके पितामह वृद्ध भीष्मजीसे, मानो शत्रुनाशी
परमतमस्वी इन्द्र वृहस्पतिसे कह रहे हों तैसे, बताने लगे कि—
॥ १ ॥ २ ॥ हे पितामह ! यह बड़ा भारी राजाओंका समुद्र क्रोध
से उबल रहा है, अतः इस विषयमें हमको क्या करना चाहिये सो
बताइये ॥ ३ ॥ जैसे यज्ञमें विघ्न न पड़े और सर्वत्र सब मन्त्रों
का हित हो इसका उपाय मुझसे बताने ॥ ४ ॥ धर्म की जानने

धर्मराजे युधिष्ठिरे । उवाचेद वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः ॥ ५ ॥
 मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति । शिवः पन्थाः सुनीतो-
 ऽत्र मया पूर्वतरं वृतः ॥ ६ ॥ प्रसुप्तं हि यथा सिंहं श्वानस्तस्मिन्
 समागताः । भपेषुः सहिताः सर्वे तयमे वसुधाधिपाः ॥ ७ ॥
 वृष्णिर्हि सिंहस्य सुप्तस्य तथामी प्रमुखे स्थिताः । भपन्ते तात संकुद्धाः
 श्वानः सिंहस्य सन्निधौ ॥ ८ ॥ नाह संबुध्यते यावत् सुप्तः सिंह
 इवाच्युतः । तेन सिंहो करोत्येतान् वृत्तिहश्चेदिषुङ्गवः ॥ ९ ॥
 पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालो व्यजेतनः । सर्वान् सर्वात्मना
 तात नेतुशमो यमक्षयम् ॥ १० ॥ नूनमेतस्समादातुं पुनरिच्छत्य-
 धोक्षजः । यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत ॥ ११ ॥
 विप्लुता चास्य भद्रन्ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर । चेदिराजस्य कौन्तेय
 सर्वेषाञ्च महीक्षिताम् ॥ १२ ॥ आदातुञ्च नरव्याघ्रो यं यमिच्छ-

वाले धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहने पर कुरुकुलके वृद्ध भीष्मजीने
 यह बात कही, कि-॥ ५ ॥ हे कुरुकुलके वीर ! तुम भय न करो
 क्या कही कुता सिंहको मार सकता है ? मैंने पहिले ही इसका
 मुजब जराय विचार रक्खा है ॥ ६ ॥ जैसे सिंहके सोनेपर तहां
 आकर इकट्ठे हुए कुत्ते मौंसा करते है तैसे ही सोयेहुए यदुसिंह
 वासुदेवके सामने यह कोषमें भरे राजे कोलाहल कर रहे हैं
 ॥ ७ ॥ ८ ॥ सिंहस्य कृष्ण जवतक नहीं जागते हैं तवतक ही
 यह शिशुपाल आप सिंह बना हुआ इनको भी सिंह बना रहा है
 ॥ ९ ॥ राजेन्द्र शिशुपाल अनजानमें इन सब राजाओंको सर्वथा
 यमालयमें लेजाना चाहता है ॥ १० ॥ हे भारत ! इस शिशुपाल
 का जो कुछ तेज है उसको अब निःसंदेह भगवान् कृष्ण ग्रहण
 करना चाहते हैं ॥ ११ ॥ हे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम्हारा
 फलपाण हो, इस शिशुपालकी तथा अन्य सब राजाओंकी बुद्धि
 भी इस समय उलट्टी होरही है ॥ १२ ॥ यह नरोत्तम नारायण
 जिस समय जिसको पृथिवीपरसे उठाना चाहते हैं उसकी बुद्धि

त्ययं तदा । तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा ॥ १३ ॥
चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः । प्रभवश्चैव सर्वेषां
निधनञ्च युधिष्ठिरा ॥ १४ ॥ वैशंपायन उवाच । इति तस्य वचः श्रुत्वा
ततश्चेदिपतिर्नृपः । भीष्मं रुक्माक्षरा वाचः श्रान्वयामास भारत १५
इति समाप्यणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने
चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

शिशुपाल उवाच । विभीषिकाभिर्महोभिर्भीषयन् सर्वपार्थिवान् ।
न वपत्रपमे कस्माद्बुद्धः सन् कुलपासन ॥ १॥ युक्तमेतत्तृतीयार्थां
प्रकृतौ वर्त्तता त्वया । वक्तुं धर्मादपेक्षार्थं त्वंहि सर्वकुलतम ॥ २॥
नावि नौरिव संबद्धा यथांधो बान्धवन्वियात् । तथोभूता हि
कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणी ॥ ३॥ पूननायातपूर्वाणि कर्माण्यस्य
विशेषतः । त्वया कीर्तयतास्माकं धूपः प्रव्यथितं मनः ॥ ४ ॥

उलट्टी होजाती है, जैसे, कि—इस शिशुपालकी हो रही है ॥ १३॥
हे युधिष्ठिर ! यह कृष्ण ही तीनों लोकोंमें चारों प्रकारके सकल
माणियोंकी उत्पत्ति और मलय करनेवाले हैं ॥ १४ ॥ वैशंपा-
यनजी कहते हैं, कि—हे राजन् ! भीष्मजीकी इस बातको
सुननेके अनन्तर राजा शिशुपाल उनको कठोर वचन (गालियों)
सुनाने लगा ॥ १५ ॥ चत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४० ॥

शिशुपालने कहा कि—हे भीष्म ! सब राजाओंको धमकी
देतेहुए तुमको राजा क्यों नहीं आती तुम बुद्ध होकर अपने
कुलको कलङ्क लगाते हो ॥ १ ॥ अब बुद्ध अवस्था आगई है
और तुम सब कौरवोंके मुखिया हो, इसकारण तुमसे धर्मानुकूल
या न कइना चाहिये ॥ २॥ जैसे किसी बड़ी नौकाके निचले भागमें एक
छोटीसी नौका बँधी होती है और जैसे एक अन्धा दूसरे अन्धके
पीछे चलता है हे भीष्म ! तुम जिनके अग्रग्राही हो उन कौरवोंकी
भी ऐसी ही दशा है, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ३ ॥ विशेषकर
इस कृष्णके पूतनाचर आदि चरित्रोंका वीर्चन करके तुमने हमारे

अप्रलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः । कथं भीष्म न ते जिह्वा
शतप्रेषं विदीर्यते ॥ ५ ॥ यत्र कुत्सा मयोक्तव्या भीष्म बालतरै-
र्नरैः । तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छति ॥ ६ ॥ यद्य-
नेन हतो वाक्ये शक्रुनिश्चित्रपत्रं किम् । तौ वारवृष्टपथौ भीष्म यौ
न पुद्गलशादी ॥ ७ ॥ चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम् ।
पादेन शक्रुं भीष्म न हि कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥ बाल्मीकमात्रः
सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः । तदा गोवर्द्धनो भीष्म न तच्चित्रं
मत मम ॥ ९ ॥ शुकमेनेन वड्ढनं क्रीडता नगमूर्द्धनि । इति ते
भीष्म शूखानाः परं विस्मयमागताः ॥ १० ॥ यस्य चानेन धर्मज्ञ
शुकपन्नं पत्नीयसः । चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम्
॥ ११ ॥ न ते श्रुत्वा भीष्म नूनं कथयतां सताम् । यद्वक्ष्ये त्वा-

विचको और भी अधिक दुःखित किया है ॥ ४ ॥ हे भीष्म !
तुम अहङ्कारी और बुद्धिहीन होकर दुष्टात्मा कृष्णजी मशंसा
करते हो, यह तुम्हारी जीभ सौं दुकड़े होकर क्यों नहीं कट पड़ती
॥ ५ ॥ मूर्ख पुरुषको भी जिससे घृणा करना चाहिये हे भीष्म !
बस भालिये कृष्णकी तुम ज्ञानवृद्ध होकर मशंसा करते हो ?
॥ ६ ॥ हे भीष्म ! इस कृष्णने बालरूपनयें बनासुर केशी और
वृषासुरको मोरहाला तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? क्योंकि-बह
शुद्ध करना ही नहीं जानते थे ॥ ७ ॥ यदि इस कृष्णने चेतना-
हीन काठके शक्रुको चरणमे गिरा दिया था तो इसमें भी और
आश्चर्य की बात करी ? ॥ ८ ॥ हे भीष्म ! इन कृष्णने जो परस्के
पिण्डजी समान गोवर्द्धनसे सात दिन तक धारण किया था, मैं
तो उससे भी कोई आश्चर्य ही बात नहीं समझता ॥ ९ ॥ हे भीष्म !
इसने जो पहाड़के ऊपर खेलने खेलते बहुतसी अन्न खा लिया था
वस ही मुनकर ही वह गैंगार भालिये आश्चर्यमें होगये ॥ १० ॥
हे धर्मज्ञ ! यह जिस पत्नी कंसके अन्नसे पला था, इसने उस ही कंस
को मार डाला था इस पुरुषार्थवादी ही नुपने आश्चर्य माना है ? ॥ ११ ॥

मधर्मं वाच्यं कुरुकुलाय ॥ १२ ॥ स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि
 पातयेद् ब्राह्मणेण च । यस्य चान्नानि भुञ्जीत यस्य च स्यात्
 प्रतिश्रयः ॥ १३ ॥ इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा ।
 भीष्म लोके हि तत्सर्वं तितथं त्रयि दृश्यते ॥ १४ ॥ ज्ञानवृद्धं च
 वृद्धश्च भूयांस केशवं मम । अजानत इषाण्वासि संस्तुवन् कौरवा-
 धम ॥ १५ ॥ गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म कथं संस्तवमहति ।
 असौ मयिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः मधुः ॥ १६ ॥ संभावयति
 चाप्येवं तद्वाक्याच्च जनार्दनः । एवमेतत् सर्वमिति तत्सर्वं
 विवर्धं ध्रुवम् ॥ १७ ॥ न गाथा गाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति ।
 मठनि यान्ति भूतानि भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ १८ ॥ नूनं मकृति-

हे कुटुम्बशर्मे अरुम भीष्म ! तुम धर्मको नहीं जानते, इस लिये तुम
 को कुछ उपदेश देता हूँ, सुनो, क्या तुमने सत्पुरुषोंको यह कहते
 नहीं सुना है, कि-॥ १२ ॥ स्त्री, गौ, ब्राह्मण और जिसका धन्न
 खाए तथा जिसके आश्रयमें रहता होय इनके ऊपर शस्त्र न छोड़े ॥ १३ ॥
 धर्मात्मा सत्पुरुष सदा लोकमें सज्जनोंको ऐसा उपदेश देते हैं, हे
 भीष्म ! तुममें वह सब बात उलटी ही देखनेमें आती है ॥ १४ ॥
 हे कौरवाधम ! मानो मैं कुछ जानता ही नहीं, तुम मानो अवस्थाओं
 नई होनेसे ज्ञानमें भी बढ़े होगये, ऐसी समझ कर बड़ी गशंसा
 करते हुए कुप्ताकी महिमा गारहे हो ॥ १५ ॥ हे भीष्म ! तुम्हारे
 कहनेसे क्या गोहत्यारा और स्त्रीकी हत्या करनेवाला पूजनीय
 होसकता है ? क्या ऐमेसे ही तुम बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और जग-
 त्रयि तनो हो ? ॥ १६ ॥ हे भीष्म ! तुम्हारे कहनेसे यह भी अपने
 को बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और जगदीश्वर होने का अभिमान करता
 है, तुम्हारी सब बातें झूठी होनेपर भी मैं तुमसे कुछ नहीं कहना
 चाहता ॥ १७ ॥ स्तुति करनेवालेकी बातोंमें अत्युक्तिका दोष
 होनेपर भी इसके लिये उसको कोई दण्ड नहीं दिया जाता क्यों
 कि-जिसका जैसा स्वभाव होता है, भूलिङ्ग नामक पक्षीकी

रेषा ते जघन्या नात्र संशयः । अतः पापीयसी चैषा पाण्डवाना-
मपीप्यते ॥ १६ ॥ येषामर्घ्यतमः कृष्णस्त्वथ येषां मवर्धकः ।
धर्म्यांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ २० ॥ को हि धर्मिण-
मात्मानं जानन् ज्ञानविदां वरः । कुर्व्यायमा स्वया भीष्म द्युतं
धर्ममवेक्षता ॥ २१ ॥ चेत्त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा भतिस्तव ।
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राप्तमानिना । अम्बा नामेति भद्रन्ते
कथं सापहृता स्वया ॥ २२ ॥ यां त्वयापहृतां भीष्म कन्यां नैषित-
वान् यतः । आता विचित्रवीर्यस्ते सुतां प्रागमनुष्ठितः ॥ २३ ॥
दारयोर्यस्य चान्येन भिषतः प्राज्ञमानिनः । तव जातान्यपत्यानि
सज्जनाचरिते पथि ॥ २४ ॥ को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्य-
मिदं वृथा । यद्दारयसि मोहाद्वा क्लीबत्वाद्वा न संशयः ॥ २५ ॥
न त्वहं तव धर्मज्ञं पश्याम्युपचर्यं क्वचित् । न हि ते सेविता वृद्धा

समान वह स्वभाव उसके साथ ही रहता है ॥ १८ ॥ तुम नीच-
स्वभाव, अधर्मी और सन्मार्गसे भ्रष्ट हो, इसकारण तुम जिनके
यंभी हो और कृष्ण जिनके पूज्य हैं, वह पांडव निःसन्देह खोटे
हैं ॥ १६-२० ॥ हे भीष्म ! तुमने धर्मकी आदर्यें जो काम किये हैं,
कौन श्रेष्ठ ज्ञानी अपनेको धार्मिक मानकर तैसं काम करेगा ?
अजी धर्मात्माजी ! काशिराजकी धर्मकन्या दूम्बरके चारुती थी, तुम
तो अपनेको बड़ा बुद्धिमान धर्मज्ञ समझते हो ? भला तुमने उस
अम्बा नामवाली कन्याका हरण कौनसे धर्मके अनुसार किया
था ? ॥ २२ ॥ तुम्हारा विचित्रवीर्य आई सत्यकर्माधी था इसलिये
उसने तुम्हारी हरण कीहुई उस कन्याकी अभिलाषा नहीं करी २३
तुम ऐसे धार्मिक हो और सन्मार्गपर चलने हो कि-तुम्हारे सामने
ही उनके गर्भमे अन्यके द्वारा पुत्र उत्पन्न हुए ॥ २४ ॥ हे भीष्म !
तुम्हारा धर्म ही क्या रहा ? और तुम्हारा ब्रह्मचर्यने धारण करना
वृथा है, यह तो तुमने नहुंसक होनेके कारण अथवा मूर्खनावश
धारण कररक्ता है, इसमे कुद सन्देह नहीं है ॥ २५ ॥ हे धर्मके

य एवं धर्ममग्रवीः ॥ २६ ॥ इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः ।
 सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ २७ ॥ व्रतोपवासै-
 र्वहुभिः कृतं भवति भीष्म यत् । सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति
 निश्चयम् ॥ २८ ॥ सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः ।
 हंसवत्त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया यद्यम् ॥ २९ ॥ एवं हि कथ-
 यन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुराः । भीष्म यत्तदहं सम्पन्वक्ष्यामि तव
 शृण्वतः ॥ ३० ॥ वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धं सोऽभवत्पुरा ।
 धर्मवाग्रन्यथावृत्तः पत्तिणः सोऽनुशास्ति च ॥ ३१ ॥ धर्मं चरत
 मा धर्ममिति तस्य वचः किल । पत्तिणः शुश्रूवुर्भीष्म सततं
 सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥ अयास्य भक्ष्यमाजहुः समुद्रजणचारिणः

ज्ञाता वननेवाले ! मैंने तो कहीं उन्नति देखी नहीं, क्यों कि—
 तुम जैसे धर्मकी बातें कर रहे हो इससे मालूम होता है कि—तुमने
 वृद्धोंकी सेवा नहीं करी है ॥ २६ ॥ यज्ञ, दान, वेद पढ़ना और
 बहुत दक्षिणाका यज्ञ करना, यह सब सन्तान होनेके फलके
 सोलहवें भागकी समान भी नहीं हैं ॥ २७ ॥ हे भीष्म ! बहुतसे
 व्रत उपवास आदि करनेका जो फल है वह सब सन्तानहीनका
 निष्फल जाता है इसमें संदेह नहीं है ॥ २८ ॥ तुम्हारे भी संतान
 नहीं है । बूढ़े होगए हो और झूठे ही धर्मका ढोंग दिखाते हो
 सो तुम हम सजातियोंके हाथसे हंसकी समान मारे जाओगे २९
 हे भीष्म ! पुराने इतिहासको जानने वाले ज्ञानी मनुष्योंने जो
 हंसका इतिहास कहा है, उसको मैं तुम्हारे सामने यथावत् कहता
 हूँ सुनो ॥ ३० ॥ पहिले समुद्रके किनारे पर कोई एक मूढ़ा हंस
 रहता था, वह बातें तो धर्मकी बेंनाता था और आचरण अधर्म
 का करता था तथा पत्तियोंको उपदेश देता था ॥ ३१ ॥ हे
 भीष्म ! यह सत्यवादी वन कर सदा पत्तियोंको यही उपदेश
 सुनाता था, कि—धर्माचरण करो, अधर्म मत करो ॥ ३२ ॥ हे भीष्म !
 यह समुद्रके जलमें विचरने वाले पक्षी सत्यवादी समझकर उस

अण्डजा भीष्म तस्यान्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ॥ ३३ ॥ ते च तस्य
 समभ्यासे निक्षिप्याण्डानि सर्वशः । समुद्राम्भस्यमञ्जन्त चरन्तो
 भीष्म पक्षिणः ॥ ३३ ॥ तेपापण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत्
 स हंसः सम्यक्तानां प्रभक्तः स्वकर्मणि ॥ ३४ ॥ ततः मन्त्रीयमा-
 णेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपरः । अशङ्कत यदामाहः स कदाचिददर्श ह
 ॥ ३५ ॥ ततः स ऋषयामास दृष्ट्वा हंसस्य क्रिन्विषम् । तेषां
 परमदुःखार्त्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥ ३७ ॥ ततः मत्पक्षतो
 दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः । निजघ्नुस्तं तदा हंस मिथ्यावृत्तं कुरु-
 ॥ ३८ ॥ ते त्वां हंससमर्थाणमपीमे वसुधाधिपाः । निहन्तुर्भीष्म
 संकुद्धाः पक्षिणस्तं यथाण्डजम् ॥ ३९ ॥ गाथामप्यत्र गापन्ति
 ये पुराणविदो जनाः । भीष्म यान्ताञ्च ते सम्पक् कथयिष्यामि
 से उपदेश सुना करने थे और इससे हम धर्मार्थका उपदेश पाते हैं
 यह समझकर उसके लिये भोजन लाकर दिया करते थे ॥ ३३ ॥
 हे भीष्म ! वह सब पक्षी उसके पास अपने २ अण्डों रखकर
 विचरते हुए समुद्रके जलमें गोते लगाते थे ॥ ३४ ॥ पक्षी उसकी
 बातका विश्वास करके कुछ ध्यान ही नहीं रखते थे, परन्तु
 दुष्टात्मा हंस अपना काम मन लगाकर करता था, अर्थात् उस
 अवसरमें उनके अण्डोंको खाया करता था ॥ ३५ ॥ उन सब वृक्षों
 का नाश होने पर किसी बुद्धिमान् पक्षीने संदेहमें पड़कर उस
 दुराचारोके पापकर्मका पता लगाया ॥ ३६ ॥ और उस पक्षीने
 हंसके पापकर्मको देखकर चित्तमें परम दुःखित होतेहुए तिन सब
 पक्षियोंसे कहा, ॥ ३७ ॥ हे कुरुवंशके धर्मात्मानो ! तब उन पक्षियों
 ने समीपसे मत्पक्ष देखकर तिस कपटाचारी हंसको मारडाला ॥
 हे भीष्म ! तुम भी उस हंसकी समान ही धर्मात्मा बने हुए हो और
 यह राजे पक्षियोंकी समान है, सो यह क्रोधमें भरकर तुम्हें उसी
 प्रकार मार डालगो ॥ ३८ ॥ हे भारत भीष्म ! इस विषयमें पुराणोंके
 ज्ञाता पुरुष जिस कथाने कहा करते हैं वही मैंने तुमको सुनायो

भारता॥४०॥ अन्तरात्मन्यभिहितं रौपि पत्ररथाशुचि । अएढभक्षण-
कर्मैतत्तव वाचमतीयते ॥ ४१ ॥

इति सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्य
एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

शिशुपाल उवाच । स मे बहुमतो राजा जरासन्धो महाबलः ।
योऽनेन युद्धं नेयेष दामोपमिति संयुगे ॥ १ ॥ केशवेन कृतं कर्म
जरासंधवधे तदा । भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत् साध्विति मन्यते
॥ २ ॥ अद्वारेण प्रविष्टेन ह्यग्न्या ब्रह्मवादिना । दृष्टः प्रभावः
कृष्णेन जरासंधस्य भूपतेः ॥ ३ ॥ येन धर्मात्मनात्मानं ब्रह्मण्यम-
बिजानता । नेपितं पाद्यमस्मै तदातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥ भुव्यता-
मिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनञ्जयाः । जरासंधेन कौरव्य कृष्णेन

है ॥४०॥ उन पक्षियोंने मारते समय हंससे कहा, कि-अरे हंस !
तेरा अन्तःकरण तो काम क्रोधादिसे मलिन होरहा था तू हमको
घनावटी धर्मोपदेश करता था यह तेरा अएडों को खालेना ही तेरे
धर्मोपदेशकी मर्यादाके बाहर होनेको बतारहा है, ऐसे ही हे भीष्म !
तुम्हारा धर्मोपदेशक बनना झूठा है, क्योंकि-तुम्हारा ही यह
वर्त्ताव उसके विपरीत है॥४१॥एकचत्वारिंश अध्याय समाप्त॥४१॥

शिशुपालने कहा, कि—जिसका हम बड़ा मान्य करते थे उस
महाबली राजा जरासन्धने यह दास है ऐसा समझकर २९भूमि
में इसके साथ युद्ध नहीं किया था ॥ १ ॥ इस केशवने उस जरा-
संधका वध करनेके लिये भीमसेन और अर्जुनके द्वारा जो काम
किया था उसको अच्छा कौन कहेगा ? ॥२॥ इस दुरात्मा कृष्ण
ने ब्राह्मणका वेप धारण करके और बलात्कारसे बिना ही द्वार
के महलमें घुसकर राजा जरासंधका प्रभाव देखा था ॥ ३ ॥
जब धर्मात्मा जरासन्ध इस दुरात्मा को अर्थ देने लगा तब इसने
अपनेको अव्राह्मण समझकर उस अर्थको लेना नहीं चाहा या
॥ ४ ॥ हे भीष्म ! जब उस जरासंधने इन कृष्ण, भीम और

विकृतं कृतम् ॥ ५ ॥ यद्ययं जगतः कर्त्ता यथैनं मूर्खं मन्यसे ।
 कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यग्मात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥ इदं त्वाश्चर्यभूतं
 मे यदीदं पांडवास्त्वया । अपकृष्टाः सतां मार्गान् मन्यन्ते तच्च
 साध्विति ॥ ७ ॥ अथवा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत । स्त्रीस-
 धर्मा च दृढश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥ वैशम्पायन उवाच ।
 तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रुक्मं रुक्माक्षरं बहु । चुक्रोष बलिनां श्रेष्ठो
 भीमसेनः पतापवान् ॥ ९ ॥ तथा पञ्चमतीकाशे स्वभावायतविस्तृते
 भूपः क्रोधाभिभावाच्चे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥ त्रिशिखां भ्रुकुटीं
 चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः । ललाटस्था त्रिकूटस्थां गंगां त्रिपथगा-
 मिव ॥ ११ ॥ दन्तान् सन्दृशतस्तस्य कोपाददृशुराननम् । युगान्ते
 सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ॥ १२ ॥ उत्पतन्तन्तु वेगेन
 अर्जुनसे भोजन करनेको कहा तब इसने ही गढ़बड़ी डाली पी
 ॥ ५ ॥ रे मूर्ख ! यदि यह जगत्का कर्त्ता है, जैसा कि—तू इस
 को मानता है तो यह आप ही अपनेको ब्राह्मण क्यों नहीं मान
 लेता ? ॥ ६ ॥ परन्तु मुझी आश्चर्य तो यह मालूम होता है, कि-
 तुमने पाण्डवोंको सुमार्गसे हटा रखवा है और यह इसको ही अच्छा
 मान रहे हैं ॥ ७ ॥ अथवा स्त्रियोंकी समान पुरुषार्थहीन बूढ़ा तू
 जिनको सब बातोंकी सम्पत्ति देनेवाला है उनकी इस बातका
 आश्चर्य नहीं मानना चाहिये ॥ ८ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे
 जनमेजय ! महाबली परम पराक्रमी भीमसेनको शिशुपालकी यह
 रूखे अक्षरोंकी बहुतसी फटोर बात सुनकर क्रोध आगया ॥ ९ ॥
 तथा उसके कमल समान स्वाभाविक ही लम्बे चौड़े लाल २ नेत्र
 अधिक क्रोधके कारण और भी लाल होगये ॥ १० ॥ सब राजाओं
 ने देखा, कि—उस समय त्रिकूटचल पर तीन मार्गसे बहनेवाली
 गङ्गाकी समान भीमसेनके ललाट पर तीन रेखाकी भ्रुकुटी होगई
 ॥ ११ ॥ राजाओंने देखा कि भीमसेन मलयकालमें सकल माणियों
 को असना चाहनेवाले कालान्तककी समान क्रोधके मारे दांतोंसे
 दांतोंको पीस रहा है ॥ १२ ॥ वह क्रोधके वेगमें उठनेको था,

जग्राहैनं मनस्विनम् । भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥१३॥
 तस्य भीमस्य भीष्मेण चार्घ्यमाणस्य भारत । गुरुणा विविधैर्वाक्यैः
 क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४ ॥ नातिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्य-
 मरिन्दमः । समुद्रवृत्तो घनापाये बेलाभिश्च महोदधिः ॥ १५ ॥
 शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप । नाकम्पत तदा वीरः
 पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६ ॥ उत्पतन्तन्तु वेगेन पुनः पुनर-
 रिन्दमः । न स तं चिन्तयामास मिहः क्रुद्धो मृगं यथा
 ॥ १७ ॥ प्रहसंश्चाब्रवीद्वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान् ।
 भीमसेनमतिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥ मुञ्चैनं भीष्म
 पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः । मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतद्गमिव चग्निना
 ॥ १९ ॥ ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत् क्रुद्धसत्तमः । भीमसेनमु-

कि—महाबाहु भीष्मजीने ही उसको रोका उस समय ऐसा प्रतीत
 हुआ, कि—भगवान् शिव देवसेनापति स्वामिकात्तिकेयको रोकरहे
 हैं ॥१३॥ भीष्मजीके अनेकों गौरवभरी बातोंसे निषेध करने पर
 भीमसेनका क्रोध शान्त हुआ ॥ १४ ॥ जैसे हिलोर लेताहुआ
 महामद वर्षा काल बीतने पर अपनी बेलाको नहीं लायता है तैसे
 ही शत्रुविजयी भीमने भीष्मपितामहकी बातका उल्लांघन नहीं
 किया ॥ १५ ॥ परन्तु हे महाराज ! भीमसेनके क्रोधमें भरजाने
 परभी वीर शिशुपाल अपने पुरुषार्थके भरोसेपर उस समय अटल
 रहा ॥ १६ ॥ हे जनमेजय ! आवेगमें भरकर चार २ उठनेवाले
 भीमसेनको शिशुपालने ऐसा समझा जैसे क्रोधमें भरा सिंह हिरन
 को छुज नहीं समझता है ॥ १७ ॥ भीमपराक्रमी भीमसेनको
 क्रोधमें भरा देखकर प्रतापी शिशुपालने इससे हुए यह बात
 कही, कि—॥ १८ ॥ हे भीष्म ! तुम इसको छोड़दो, अभी सब
 राजे देखेंगे, कि—यह मेरी प्रतापाम्निमें पतद्गकी समान भस्म
 होजायगा ॥ १९ ॥ तदनन्तर क्रुद्धश्रेष्ठ परम बुद्धिमान् भीष्मजीने

वाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २० ॥

इति समापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीमक्रोधे

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

भीष्म उवाच । चेदिराजकुले जानस्वन्न एष चतुर्भुजः ।
रासवारिवसदृशं ररास च ननाद च ॥ १ ॥ तेनास्य मातापितरौ
ब्रमेतुस्तौ सवान्तरौ । विहृतं नस्य तौ दृष्ट्वा त्यागाय कुतनां मतिम्
॥ २ ॥ ततः सभाय्यं दृष्ट्वा सावस्थं सपुतोदितम् । चिन्तासंपूडहृदयं
वागुवाचाशरीरिणी ॥ ३ ॥ एत ते नृपते पुत्रः श्रीमान् जातो बला-
बिहः । तस्मादस्मान्न भोऽप्यमप्यग्रः पाहि वै शिशम् ॥ ४ ॥ न
चैव तस्य मृत्युर्वै न कालः मृत्युश्चिह्नितः । मृत्युर्हन्तास्य शत्रेण
स नोत्पन्नो नराधिप ॥ ५ ॥ सप्रतोदाहृतं वाग्यं भूयमन्वर्हितं
ततः । पुनस्नेहाभिसन्तप्ता जननी वाग्यमवधीत् ॥ ६ ॥ येनेदमीरितं

शिशुपालकी इस बातको सुनकर भीमसेनसे कहा ॥ २० ॥

द्विचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४२ ॥ छ ॥ छ ॥

भीष्मजीने कहा, कि-शिशुपाल चेदिराजकुलमें जन्मा है, जन्म-
गात्र में यह तीन नेत्र और चार भुजा वाला था और उत्पन्न
होने ही यह गयेके रैकनेका समान रंगे और शब्द करने लगा ?
इनने इसके माता पिता और भाई बांगव मगकीन होकर और इस
अज्ञा घटनाको देखकर इसको कही बात आनेको विचार करने
लगे ॥ २ ॥ चेदिराज, उनही स्त्री, मंत्री और पुरोहित इनमें
व्याहृत हुए चिन्ता कर रहे थे, उसी समय यह आकाशवाणी
हुई, कि ॥ ३ ॥ हे राजन् ! तुम्हारे जो पुत्र उत्पन्न हुआ है, यह
धामान् और बड़ा बली है, अतः इससे डरो मत, किन्तु सावधान
होकर इस बालकका पालन करो ॥ ४ ॥ हे राजन् ! यमराज इसका
अन्त नहीं करसकेंगे इसका मृत्यु केवल शस्त्र ही होगा, जो इस
के प्राण लेगा वह भी उत्पन्न होगया है ॥ ५ ॥ ऐसा कहकर जब
आकाशवाणी अन्तर्धान होगई तब पुत्रके नेत्रमें पानीहुई मानाने कहा

वायंयमपैतं तनयं प्रति । मांजलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वच ॥७॥
 याथातथ्येन भगवान् देवो वा यदि वेतरः । श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य
 कोऽस्य मृत्युर्न विधत्ति ॥ ८ ॥ अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुन-
 र्वच । यस्योत्सङ्गे शृङ्गीतस्य भुजावभ्यधिरावुभौ ॥ ९ ॥ पतिप्यतः
 क्षितितले पञ्चगोर्पात्रिभोरगौ । तृतीयमेतद्वालस्य ललाटस्थं तु
 लोचनम् ॥ १० ॥ निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्न वि-
 ष्यति । अक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ॥ ११ ॥ पृथिव्यां
 पापिवाः सर्वे अभ्यागच्छन् दिदृक्षुः । तान् पूजयित्वा संप्राप्तान्
 यथार्हं स महीपतिः ॥ १४ ॥ एकैकस्य नृपस्याङ्के पुत्रमारोपयत्तदा
 एवं राजसहस्रणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ॥ १२ ॥ शिशुरङ्के समा-
 रूढौ न तत् प्राप निदर्शनम् । एतदेव तु संश्रुष्य द्वारवत्या महा-

कि ॥ ६ ॥ मेरे पुत्रके विषयमें यह बात जिसने कही है, वह देवता
 हो चाहे और कोई, मैं हाथ जोड़कर उसको गणाय करती हूँ, वह
 मुझें ठीक २ इतनी बात और बतादेव, कि-मेरे इस पुत्रको मारने
 वाला कान होगा, मैं यह सुनना चाहती हूँ ॥ ७ ॥ ८ ॥ तब यह
 अन्तर्धान हुई आकाशवाणी फिर कहने लगी, कि-हे देवि ! जिसकी
 गोदमें चढ़नेपर तुम्हारे पुत्रकी यह अधिक दोनों भुजा, पाँच शिर-
 वाले दो सर्पोंकी समान भूमिपर गिरपड़ेंगी और जिसको देखकर
 इस बालक का ललाटमेंका तीसरा नेत्र अन्तर्धान होजायगा वही
 इसका कालरूप होगा, इसके तीन नेत्र और चार भुजा तथा
 आकाशवाणीके कहे हुए वृत्तान्तको सुनकर पृथ्वीके प्रायः सब ही
 राजे इसको देखनेकी इच्छासे आये, राजा चेदिपतिने उन सब
 आये हुए राजाओंका यथोचित पूजन किया ॥ ९-१२ ॥ और
 एक २ करके क्रमसे उन सब राजाओंकी गोदमें अपने पुत्रको दिया
 वेसे अलग २ सहस्रों राजाओंकी गोदमें देता रहा ॥ १३ ॥ परंतु
 आकाशवाणीका बताया हुआ लक्षण नहीं पाया, इस समाचारको
 द्वारकापुरीमें महाबली बलराम और कृष्णने भी सुना तथा यह दोनों

बलौ ॥१४॥ ततश्चेदिपुरं मासौ सङ्कूर्पलजनादर्नौ । यादवौ यादवीं
 दृष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ॥ १५ ॥ अभिवाद्य यथोन्नायं यथा
 श्रेष्ठं नृपञ्च ताम् । कुशलानामयं पृष्ट्वा निपण्णी रामकेशवौ १६
 साभ्यर्चितौ तदा वीरौ भीत्या चाभ्याधिकं ततः । पुत्रं दामोदरोत्साङ्गे
 देवी संन्यदधात् स्वयम् ॥ १७ ॥ न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्गे गुजा-
 वभ्यशिकाबुधौ । पेततुस्तच्च नयनं न्यमञ्जत ललाटजम् ॥१८॥
 तद् दृष्ट्वा व्यथिता प्रस्ता वरं कृष्णमयाचत । ददस्य मे वरं कृष्ण
 भयार्त्ताया महाभुज ॥ १९ ॥ त्वं ह्यर्त्तानां समारवासो भीताना-
 मभयमदः । एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीत् यदुबन्दनः
 ॥ २० ॥ मा भैस्त्वं देवि धमञ्जे न मत्तोऽस्ति भयं तव ।
 ददामि कं वरं किञ्च ते करचाणि पितृप्सः ॥२१॥ शक्यं वा यदि
 वा शक्यं करिष्यामि वचस्तव । एवमुक्ता ततः कृष्णममघ्रीयदु-

यादव यादवकुलकी अपनी बुआके पास चेदिपुरीमें आये १४-१५
 उन्होंने वदप्यनके अनुसार यथाविधि चेदिराज और अपनी बुआ
 यादवी को मणाम किया तदन्तर कुशल और आरोग्य वृक्षकर
 बलराम और श्रीकृष्ण बैठगए ॥ १६ ॥ उनकी भीतिके साथ
 रूप सत्कार करके देवी यादवीने आप ही अपने पुत्रको कृष्णकी
 गोदमें देदिया ॥ १७ ॥ उनकी गोदमें देते ही यह उसके दोनों
 अधिक बाहु गिरपडे और ललाटमेंका तीसरा नेत्र भी विलीन
 होगया ॥ १८ ॥ यह देखकर यादवीने बहुत व्याकुल और भयभीत
 होकर कृष्णसे वर मांगा, कि-हे महानाहो ! कृष्ण ! मुझ भयसे
 व्याकुल हुईजो वरदान दो ॥ १९ ॥ तुम आर्त्तोंको धीरज और
 भयभीतोंको अभय देते हो उसके ऐसा कहने पर यदुनन्दन
 श्रीकृष्णने कहा, कि-॥२०॥ हे धर्मज्ञे देवि ! दरो मत तुम्हें मुझ
 से भय नहीं होगा, हे बुआ जी ! कहो मैं तुमको क्या वरदान
 दूँ और तुम्हारा कौनसा प्रिय कार्य करूँ ? ॥ २१ ॥ मुझसे हो
 सक्ता हो, चाहे मेरी शक्तिके बाहर हो मैं तुम्हारा कदना करूँगा

नन्दनम् ॥ २२ ॥ शिशुपालस्यापराधान् क्षमेयास्त्वं महाबल ।
मत्कृते यदुरादूलं विद्वेनेन मे वरं ममो ॥ २३ ॥ कृष्ण उवाच ।
अपराधशतं क्षाम्यं मया हस्य पित्रस्वसः । पुत्रस्य ते वधार्हस्य
मा त्वं शोके मनः कृथा ॥ २४ ॥ एवमेव नृप. पापः शिशुपालः
सुमन्दघीः । त्वां समाहवते वीर गोविन्दवरदर्पितः ॥ २५ ॥

इति सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तांत-

कथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

भीष्म उवाच । नैषा चेदिषतेषु हिर्यया त्वाहवतेऽच्युतम् । नून-
मेप जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः ॥ १ ॥ केहि मां भीमसेनाद्य-
न्तितावर्हति पार्थिवः । क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैप कुलपांसनः । २ ॥
एष हस्य मावाहुस्तेर्गोऽश्व हरेर्भुवम् । तमेव पुनरादातुमैच्छत्पृथु-

ऐसा कहनेपर उसने यदुनन्दन श्रीकृष्ण से कहा, कि—॥ २२ ॥

हे महाबल ! तुमको शिशुपालके सब अपराध क्षमा करने होंगे

हे यदुवीर ! मैं वस यही वर मांगती हूँ ॥ २३ ॥ उस समय

कृष्णने कहा, कि— हे पुमान्नी ! तुम शोक न करो मैं तुम्हारे

इस पुत्रके वध करनेके कारणरूप भी सौ अपराधोंको क्षमा करूँगा

॥ २४ ॥ भीष्मजी कहते हैं कि—हे वीर युधिष्ठिर ! यह मन्दबुद्धि

पापात्मा शिशुपाल श्रीकृष्णके ऐसा वरदान देनेके कारण घमंड

में होकर तुमको युद्धके लिये आह्वान करता है ॥ २५ ॥

त्रिचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४३ ॥ छ ॥ छ

भीष्मजीने कहा, कि—शिशुपाल जिस बुद्धिसे कृष्णको अनु-

चित्त बचन कह रहा है, यह बुद्धि इसकी अपनी नहीं है किन्तु

यह जगरकर्त्ता भगवान् कृष्णकी ही है इसमें सन्देह नहीं है ॥ १ ॥

हे भीमसेन ! इस कालके वशमें हुए कुलकुलद्वने आज मेरा जैसा

अपमान किया है, भूतल पर कौनसा राजा ऐसा कर सकता है

॥ २ ॥ यह शिशुपाल निःसन्देह नारायणके तेनका अंश है,

इसीसे तो यह दुर्बुद्धि हम सबोंको कुछ न गिनकर सिद्धकी समान

यथा हरिः॥३॥येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट् । गर्जन्मतीव
 दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन् ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो
 न ममूषे चैषस्तद्भीष्मवचनं तदा । उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्म-
 मथोत्तरम् ॥ ५ ॥ शिशुपाल उवाच । द्विपता नोऽस्तु भीष्मैव
 मभावः केशवस्य यः । यस्य संस्तववक्ता त्वं वन्दिवत् सततोत्थितः
 ॥ ६ ॥ संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि । तदा संस्तोहि राज्ञ-
 स्त्वयिमं दित्वा जनार्दनम् ॥ ७ ॥ द्रुपदं स्तुहि बाह्यीकमिमं पार्थिव-
 सत्तमम् । जायमानेन येनेयमभवद्वारित्वा मही ॥ ८ ॥ बह्मार्जुनपिपा-
 ०पक्षं सहस्राक्षसमं यत् । स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाबापविकर्षणम्
 ॥ ९ ॥ यस्यैमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते । कवचञ्च महाबाहो
 बालार्कसदृशमभम् ॥ १० ॥ वासवप्रथियो येन जरासन्धोऽस्ति-

गरज रहा है, परन्तु महाबाहु वासुदेव योद्धे ही समयमें इस अपने
 तेजको फिर लेलेना चाहते हैं ॥ ३ ॥ ४ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं
 कि-हे जनमेजय ! शिशुपाल उस समय भीष्मजीकी इस बातको
 नहीं सहसका और क्रोधमें भरकर फिर भीष्मजीको प्रचर, घेने
 लगा ॥ ५ ॥ शिशुपालने कहा, कि-हे भीष्म ! तुम भादकी समान,
 उठकर बार बार जिसकी प्रशंसा करते हो, हमारा मर्माय उस
 केशवका ही है ॥ ६ ॥ परन्तु हे भीष्म ! तुम्हारा मन यदि
 केवल दूसरोंकी प्रशंसा करनेमें ही सन्तुष्ट होता है तो कुण्डको
 छोड़कर इन सब राजाओंकी प्रशंसा करो ॥ ७ ॥ राजाओंमें
 प्रधान इस बाह्यीकराज द्रुपदका स्तुति करो कि-जिसके भूतल पर
 जन्मते ही पृथिवी कांपने लगी थी ॥ ८ ॥ हे भीष्म ! महावीर
 कर्णकी प्रशंसा करो, जो अंग बंग देशोंका राजा, बलमें इन्द्रकी
 समान और बड़ेभारी पनुपको खेंबता है, ॥ ९ ॥ जिसके दोनों
 कुण्डल जन्मसे ही कानोंमें पड़े हुए, दिव्य और देवताओंके बनाये
 हुए हैं और हे महाबाहो ! जिसका कवच बालसूर्य की समान
 है ॥ १० ॥ जिसने इन्द्रकी समान दुर्जय राजा जरासन्धकी

दुर्जयोऽविजितो बाहुयुद्धेन देहभेदश्च लम्बितः ॥ ११ ॥ द्रोणं
द्रोणिञ्च साधुत्वं पितापुत्रौ महारथौ । स्तुहि स्तुत्याकुभौ भीष्म
संततं द्विजसत्तमौ ॥ १२ ॥ ययोरन्यतरो भीष्म सकृदः सचरा-
चरम् । इमां वसुमतीं कुर्यान्निःशेषामिति मे मतिः ॥ १३ ॥ द्रोणस्य
हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम् । नाश्वत्थाम्नः समं भीष्म न च
ता स्तोतुमिच्छसि ॥ १४ ॥ पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिसमो
भवेत् । दुर्योधनं त्वं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाशुभम् ॥ १५ ॥ जयद्रथश्च
राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम् । द्रुपं किम्पुरुषाचार्यं लोके प्रथित-
विक्रमम् । अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १६ ॥
वृद्धश्च भगताचार्यं तथा शारद्वतं कृपम् । अतिक्रम्य महावीर्यं
किं प्रशंससि केशवम् ॥ १७ ॥ धनुर्दराणां मवरं रविमण्यं पुरुषो-
त्तमम् । अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥ भीष्म-
बाहुयुद्धमे जीता और उसके शरीरको तोड़ दिया था ॥ ११ ॥ हे
भीष्म ! इन महारथी पिता पुत्र द्रोण और अश्वत्थामाकी भलेमकार
स्तुति करो यह दोनों द्विजवर सदा ही स्तुतिके योग्य है ॥ १२ ॥
हे भीष्म ! जिन दोनोंमेंका एक भी वीर क्रोधमें भरजाय तो मेरी
समंभूमि इस चराचर सहित सकल भूमण्डलको निःशेष करसकता
है ॥ १३ ॥ युद्ध तो द्रोण की समान वा अश्वत्थामाकी समान
युद्धमेंपराक्रम दिखलानेवाला कोई भी राजा नहा मालूम होता,
कैसे आश्चर्यकी बात है, कि—ऐसे अद्वितीयवीरोंकी स्तुति करने
की तुम्हारी इच्छा नहीं होती ॥ १४ ॥ हे भीष्म ! समुद्रपर्यन्त
भूमण्डल पर जिसकी समान कोई नहीं है उस राजेन्द्र दुर्योधन
को छोड़कर कृष्णकी स्तुति करना क्या ठीक है? ॥ १५ ॥ अस्त्र-
विद्यामें मवीण दृढ़पराक्रम राजा जयद्रथ, लोकमें जिसका पराक्रम
प्रसिद्ध है वह किम्पुरुषाचार्य द्रुप, भरतकुलके गुरु वृद्ध कृपाचार्य
इन महावीरोंको छोड़कर तुम कृष्णकी प्रशंसा क्यों करते हो ॥ १६ ॥
॥ १७ ॥ धनुर्दराणां मवरं रविमण्यं पुरुषोत्तमम् । अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥

कञ्च महावीर्यं दन्तव्रजञ्च भूमिपम् । भगदत्त यूषकेतुं जयसेनञ्च
 मागयम् ॥ १६ ॥ विराट्द्रुपदौ चोभौ शकुनिञ्च बृहद्बलम् ।
 विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्डयं श्वेतमथोत्तमम् ॥ २० ॥ शङ्खश्च
 सुमहाभाग वृषसेनश्च मानिनम् । एकलव्यञ्च विक्रान्तं कालिङ्गञ्च
 महारथम् ॥ २१ ॥ अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवं ।
 शङ्खाशीनपि कस्मात्त्वं न स्तौयि वसुधाधिपान् । स्तवाय यदि ते
 युद्धिर्वर्त्तते भीष्म सर्वदा ॥ २२ ॥ किं हि शक्यं मया कर्तुं यद्व-
 दानां त्वया नृप । पुरा कथवतां नृत्नं न भुत धर्मवादिनाम् ॥ २३ ॥
 आत्मनिन्दात्तपूजा च परनिन्दा परस्तवः । अनावरितमार्याणां
 वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥ २४ ॥ यदस्तव्यमिमं शरवन्मोहात् संस्तोयि
 भक्तिनः । केशव तद्यत् ते भीष्म न रुधिरनुपम्यते ॥ २५ ॥ कथं
 भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि । समावेशयसे सर्वं जगत् केवला
 कृष्णकी प्रशंसा क्यों करने हो ॥ १८ ॥ महावीर भीष्मक, राजा
 दम्भव्रज, भगदत्त, यूषकेतु, जयसेन मागधपति ॥ १६ ॥ विराट्
 और द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, अर्बन्त देशके विन्द और अनुविन्द,
 पाण्डव, श्वेत और उत्तम ॥ २० ॥ महामाग शङ्ख, अभिमानी
 वृषसेन, पराक्रमी एकलव्य, महारथी कलिङ्ग ॥ २१ ॥ इन सब
 वीरोंको छोड़कर तुम कृष्णकी ही प्रशंसा क्यों करते हो ? और हे
 भीष्म ! यदि तुम्हारा स्वभाव सदा प्रशंसा करनेका ही होगा
 है तो तुम इन शङ्ख आदि राजाओंकी प्रशंसा क्यों नहीं करते
 हो ? ॥ २२ ॥ हे राजन् ! शिशुपालने कहा कि—मैं क्या करूँ
 तुमने धर्मोपदेश देनेवाले वृद्धोंकी शिन्ना पहिले कभी सुनी ही
 नहीं है ॥ २३ ॥ हे भीष्म ! हमने पण्डितोंको कहते सुना है कि अपनी
 वा दूसरोंकी निन्दा वा स्तुति करना सज्जनोंका काम नहीं है, वही
 तुम कर रहे हो ॥ २४ ॥ तुम जो अज्ञानके कारण भक्तिके साथ
 स्तुतिके अयोग्य केशवकी स्तुति कर रहे हो, तुम्हारी इस बातको
 कोई भी अच्छा नहीं कहेगा ॥ २५ ॥ तुम केवल अपने मनमें ॥

काम्यया ॥ २६ ॥ अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत ।
 मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ २७ ॥ भूलिङ्गशकुनिर्नाम
 पार्श्वे हिमवतः परे । भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगु-
 हिताः ॥ २८ ॥ मा साहसमितीद सा सततं वाशते किल साह
 सञ्चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ॥ २९ ॥ सा हि मासार्गलं
 भीष्म मुखार्त्तिहस्य खादतः । दन्तान्तरविलग्नं यत्तदादत्तेऽन्य
 चेनना ॥ ३० ॥ इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवस्यसशयम् ।
 तद्वचस्प्यधर्मिष्ठ सदा वाचः मुभापसे ॥ ३१ ॥ इच्छतां भूमिपालानां
 भीष्म जीवस्यसशयम् । लोकविद्विष्टकर्म हि नान्योऽस्ति भवता
 समः ॥ ३२ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः

सकल जगत्को भोजपति कसके पशु चरानेवाले दुष्टात्मा पुरुषमें
 स्थापित करदेते हो ॥ २६ ॥ हे भारत ! जो कुछ भी हो, परंतु
 तुम्हारी यह बुद्धि ठीक नहीं है, मैं पहिले ही कह चुका हूँ, कि-
 तुम्हारी दशा भलिङ्ग पक्षीकी समान है ॥ २७ ॥ इतना कह कर
 शिशुपालने कहा, कि-हे भीष्म ! तुमने हिमालय पर्वतके पास ही
 एक भूलिङ्ग नामक पक्षी रहता है उसकी बातें सदा निम्नित
 अर्थोंसे भरी होती हैं ॥ २८ ॥ वह सदा यही पुकारा करता है
 कि—साहस मत करो, परंतु वह आप ही बड़े २ साहसके काम
 करता है, कि-जिनका उसको ध्यान ही नहीं होता ॥ २९ ॥
 वह अनजान पक्षी खाते हुए सिंहके मुखमें दांतोंके बीचमें जो
 मासका टुकड़ा अटका होता है उसको लेलेता है ॥ ३० ॥ निःस-
 न्देह वह पक्षी जब तक सिंह चाहता है तबतक ही जीरहा है सिंह
 जब चाहे तब उसके प्राण लेसकता है, हे अधर्मा भीष्म ! तुम भी
 उस पक्षीकीसी ही बातें करते हो ॥ ३१ ॥ हे भीष्म ! वैसे ही
 निःसन्देह जबतक यह राजा अनुग्रह कर रहे है तबतक ही तुम जीवित
 हो यह जब चाहें तब तुम्हारे प्राण लेसकते हैं, वास्तवमें लोकमें
 तुम्हारी समान खेटे कर्म करनेवाला दूसरा कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

सरुटुकं वचः । उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृणुवतः ॥ ३३ ॥
 इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महोक्षिताम् । सोऽहं न गण
 याम्येतांस्तृणानां नराधिपान् ॥ ३४ ॥ एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः
 संचुकुशुर्नृपाः । केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद्भीष्मं जगर्हिरे ॥ ३५ ॥
 केचिद्भुर्मेहेष्वासाः । युत्वा भीष्मस्य तद्वचः । पापोऽत्रलिप्तो वृद्धश्च
 नार्यं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥ ३६ ॥ हन्यतां दुर्पतिर्भीष्मः पशुवत्
 साध्वयं नृपाः । सर्वैः समेत्य सरथैर्दधतां वा कटाग्निना ॥ ३७ ॥
 इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः । उवाच मणिमान् भीष्म-
 स्तानेव वसुधाधिपान् ॥ ३८ ॥ उक्तोऽस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुप
 लक्षये । यत्तत् वक्ष्यामि तत्सर्वं शृणुष्व वसुधाधिपाः ॥ ३९ ॥
 पशुवद्व्यातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना । क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यरतं

वैशम्पायनजी कहते हैं कि—हे जनमेजया! भीष्मजीने शिशुपाल
 के ऐसे कटुवचनोंको सुनकर उसको सुनाते हुए यह बात कही
 कि—॥ ३३ ॥ हे शिशुपाल! तू कहता है, कि—जबतक यह राजा
 चाहते हैं तबतक ही मेरा जीवन है परन्तु मैं इन राजाओंको तुझ
 की समान भी नहीं समझता ॥ ३४ ॥ भीष्मजीके ऐसा कहनेपर
 सब राजाओंको क्रोध आगया, उनमें से कोई हँसने लगे और
 कोई भीष्मजीकी निर्म्दा करने लगे ॥ ३५ ॥ किन्हीं २ धनुषधारियों
 ने भीष्मजीकी इस बातको सुनकर कहा कि— इस बूढ़े पापी भीष्म
 को बड़ा घमण्ड होगया है इसको क्षमा नहीं करना चाहियो ॥ ३६ ॥
 हे राजाओं! सब जने मिलकर इस दुष्टात्मा भीष्मको पशुकी समान
 अच्छे प्रकारसे पीटो अथवा इसके ऊपर बड़ा क्रोध आरहा है
 अतः इसको फूसमें लपेटकर आग लगादो ॥ ३७ ॥ कुरुपितामह
 बुद्धिमान् भीष्मजीने इनके ऐसे कहनेको सुनकर उन राजाओंसे
 ही कहा, कि—॥ ३८ ॥ मैं देखता हूँ कि—तुम्हारी यह बातें बन्द नहीं
 होती अब मैं जो कुछ कहता हूँ उसको तुम सब राजे सुन लो ॥ ३९ ॥

मयेद स्रक्तं पदम् ॥ ४० ॥ एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभि-
रच्युतः । यस्य वस्त्वस्ते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥ ४१ ॥
कृष्णपादयतामय युद्धे चक्रगदाधरम् । यादवस्यैव देवस्य देहं
विशतु पातितः ॥ ४२ ॥ छ ॥ छ ॥

इति संभाषणं शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्ये

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः श्रुत्वा भीष्मस्य चेदिराहुस्विक्रमः ।
युयुत्सुर्वापुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥ आह्वये त्वां रणं गच्छ
मया सार्द्धं जनार्दन । यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः
॥ २ ॥ सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः । नृपतीन्
समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ३ ॥ ये त्वां दासमराजानं

तुम मुझे पशुकी समान मारो चाहे तृणाग्निसे जलाओ मैं तुम
सर्वोके शिरपर लात मारता हूँ ॥ ४० ॥ हमने जिन कृष्णकी
पूजा करी है वह भी सामने ही बैठे हैं जिनको बहुत ही शीघ्र मरनेके
लिङ्गे खुजली उठ रही हो वह गदा-चक्र धारी माधव कृष्णको युद्ध
के लिये पुकारें परन्तु मैं निश्चयके साथ कहता हूँ, कि-पुकारने
वाला रणभूमिमें सोकर अवश्य ही यादव कृष्णके शरीरमें
प्रविष्ट होजायगा ॥ ४१ ॥ ४२ ॥ चतुश्चत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे महाराज ! बड़ा पराक्रमी
शिशुपाल, भीष्मजीकी इस बातको सुनते ही कृष्णके साथ
संग्राम करनेकी इच्छासे उनसे कहनेलगा कि ॥ १ ॥ हे जनार्दन !
मैं तुम्हें पुकारता हूँ मेरे साथ संग्राम करा, आओ आज पाण्डवों
सहित तुमको यमपुरीमें भेजूँ ॥ २ ॥ हे कृष्ण ! मुझे पाण्डवों
साहित तुम्हारा मार डालना ही योग्य है, क्यों कि—इन पाण्डवों
ने सब राजाओंको छोड़कर तुम्हें राजहीनका पूजन किया है
॥ ३ ॥ हे कृष्ण ! जिन पाण्डवोंने मूर्खताके कारण तुम्हें दास
दुर्मति और-अयोग्य पात्रको योग्य मानकर पूजा का है,

वाच्यादर्चन्ति दुर्मतिम् । अनर्हमर्हवत् कृष्ण, वध्यास्त इति मे मतिः ।
 इत्युक्तो राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः ॥ ४ ॥ एवमुक्तस्ततः
 कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः । उवाच पार्थिवान् सर्वान् स समन्तं च
 वीर्यवान् ॥ ५ ॥ एव नः शत्ररत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः ।
 सात्वतानां नृशंसात्मा च, हितोऽनपकारिणाम् ॥ ६ ॥ प्राग-
 ज्योतिषपुरं यातानस्मान् ज्ञात्वा नृशंसकृत् । अददद् द्वारका
 मेव स्वस्त्रोयः सन्नराधिपाः ॥ ७ ॥ क्रीडतो भोजराजस्य एष
 रैवतके गिरौ । हत्वा वध्वा च तान् सर्वानुपायात् स्वपुरं पुरा ॥ ८ ॥
 अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्ट रत्तिभिर्हृतम् । पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमह
 रत्पापनिश्चयः ॥ ९ ॥ सौवीरान् प्रतियाताश्च बभ्रोरपि तपस्विनः ।
 भार्यामभ्यर्हरन्मोहादकामां तामितो गताम् ॥ १० ॥ एष माया-
 मातञ्छन्नः कारुण्यार्थं तपस्विनीम् । जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य

इस कारण मेरी समझमें इन पाण्डवोंको अवश्य ही मार डालना
 चाहिये शिशुपाल ऐसा कहकर क्रोधमें भरा हुआ गर्जना करने
 लगा, ॥ ४ ॥ शिशुपालके ऐसा कह चुकनेपर श्रीकृष्णजीने
 पाण्डवोंके सामने कोमलताके साथ सब राजाओंसे यह वचन कहा
 कि-॥ ५ ॥ हे राजाओं ! यह सात्वतीका पुत्र हमारा बड़ा शत्रु है
 यह दुरात्मा हितकारी पादवोंको सदा हानि पहुंचानेकी चेष्टा
 करता है ॥ ६ ॥ हे राजाओं ! इस दुराचारीने हमारी बुद्धीका पुत्र
 होकर भी हमको प्रागज्योतिषपुरमें गया हुआ जानकर द्वारकापुरी
 को जलाकर भस्म कर दिया था ॥ ७ ॥ जब भोजराज रैवतक पर्वत
 पर विहार करनेको गये थे तब इस पापात्माने उनके साथियोंमें
 से कितनोंहीको मार डाला और कितनों ही को बंधकर अपने
 नगर को चला आया ॥ ८ ॥ मेरे पिताके अश्वमेध यज्ञ करनेके
 समय इस पापात्माने विघ्न डालनेकी इच्छासे उत्तम रत्नोंसे घिरे
 हुए यज्ञके पवित्र घोड़ेको हर लिया था ॥ ९ ॥ इसकी इच्छा न करने
 वाली सौवीर देशको जाती हुई तपस्वी बभ्रुकी, स्त्रीको इसने
 मोहित, होकर हर लिया था ॥ १० ॥ इस दुराचारीने कारुण्यके

नृशंसकृत् ॥ ११ ॥ पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहम्मर्षयाम्यहम् ।
 दिष्टया हाटं सर्वराज्ञां सन्निधावय वत्तते ॥ १२ ॥ परयन्ति हि
 भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् । कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि
 निषोधत ॥ १३ ॥ इमं त्वस्य न शक्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
 अवलेपाद्बार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ १४ ॥ रुक्मिण्यामस्य
 मूढस्य मार्यनासीन्मुमूर्षतः । न च तां प्राप्तवान् मूढ शूद्रो वेदभ्रुती-
 मिव ॥ १५ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमादि ततः सर्वे सहि-
 तास्ते नृरात्रिणः । वासुदेवतृचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् १६
 तस्य तद्वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् । जहास स्वनवद्भासं
 वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १७ ॥ मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्णः संसत्सु

निमित्त तप करनेवाली अपने मामा, विशालाधिपतिकी कन्या
 भद्राको जलसे रूप बदलकर हरलिया था ॥ ११ ॥ मैंने केवल
 अपनी बुद्धाके कहनेसे इस दुष्टात्माके सब काम इतने दिनों तक
 सहे, यह दुष्टात्मा शिशुपाल आज भाग्यवश तुम सब राजाओंके
 सामने ही विद्यमान है ॥ १२ ॥ इस पापात्माने आज मेरे विषय
 में जैसा घुरा व्यवहार किया है उसको आप सब राजाओंने
 देख ही लिया और इसने मेरे पीछे जो कुछ किया है उसको
 भी सुन लिया ॥ १३ ॥ इस दुष्टात्माने आज सकल राज-
 मण्डलके सामने घमण्डमें घरकर मेरा अपमान किया है अतः
 आज मैं इसके अपराधको नहीं सह सकता ॥ १४ ॥ इस मूढमति
 शिशुपालने यमालयमें जानेके लिये रुक्मिणीसे विवाह करना
 चाहा था, मरन्तु जैसे शूद्र वेदकी श्रुतियोंको नहीं पासकता, तैसे
 ही इसको रुक्मिणी नहीं मिली ॥ १५ ॥ वैशम्पायनजी कहते
 हैं, कि-हे महाराज ! इसप्रकार श्रीकृष्णकी बातें सुनकर वह
 सभामें बैठे हुए सब राजे शिशुपालकी बड़ीही निन्दा करने लगे
 प्रतापी शिशुपाल श्रीकृष्णजीके ऐसे कथनको सुनकर उठ
 पारकर हँसा और श्रीकृष्णजीसे यह कहने लगा कि-॥ १७ ॥

परिकीर्त्तयन् । विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरूपे कथम् ॥ १८ ॥
मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्त्तयेत् । अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु
त्वदन्यो मधुसूदन ॥ १९ ॥ क्षमस्व यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण । मम
क्षम । क्रुद्धाद्वापि प्रसन्नाद्वा किं मे स्वचो भविष्यति ॥ २० ॥ तथा
ब्रुवत एयास्य भगवान् मधुसूदनः । मनसञ्चिन्तयच्चक्रं दैत्य-
गर्वनिपूदनम् ॥ २१ ॥ एतस्मिन्नेव काले ॥ चक्रे हस्तगते सति
उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २२ ॥ शृण्वन्तु मे
महीपाला येनैतत् क्षमितं मया । अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव
याचने ॥ २३ ॥ दत्तं मया याचितञ्चै तद्वै पूर्णं हि पार्थिवाः ।
अधुना वधयिष्यामि परयतां वो महीक्षिताम् ॥ २४ ॥ एवमुक्त्वा

हे कृष्ण ! इस सभामें और विशेषकर राजाओंके सामने
रुक्मिणीको पहिले मेरी चाहिहुई कहतेहुए तुम्हें कुछ लज्जा नहीं
आती ? ॥ १८ ॥ पुरुषत्वका अभिमान रखनेवाला तुम्हारे सिवाय
और कौन ऐसा होगा जो यह कहे, कि—मेरी स्त्रीको पहिले
अमुक पुरुष चाहता था ॥ १९ ॥ हे कृष्ण ! तेरी श्रद्धा हो तो
मुझै क्षमा कर न हो तो मत कर, क्योंकि—तेरे क्रुद्ध होनेसे मेरी
कुछ हानि नहीं होसकती और तेरे प्रसन्न होनेसे मुझै कोई लाभ
नहीं है ॥ २० ॥ भगवान् कृष्णने शिशुपालके ऐसा कहने ही कहते
मनमें दैत्यगर्वनाशी अपने चक्रका स्मरण किया ॥ २१ ॥ सो स्मरण
करते क्षण ही उस चक्रके हाथमें आजाने पर सुन्दर बोलने
वाले भगवान्ने ऊँचे स्वरसे कहा, कि— ॥ २२ ॥ हे राजाओं !
सुनो ! दुष्टात्मा शिशुपालकी माताने पहिले मुझसे प्रार्थना की
थी, कि—मेरे पुत्रके सौ अपराध तुमको क्षमा करने चाहिये मैंने उस
की प्रार्थनाको स्वीकार कर लिया था इसीसे आजतक मैं इसको
क्षमा करता रहा ॥ २३ ॥ हे राजाओं ! मेरे दियेहुए वरदानके अनु-
सार इसके सौ अपराध पूरे होगये अतएव आज मैं तुम्हारे सामने
ही इसका माणान्त करदेता हूँ ॥ २४ ॥ क्रोधमें भरी शत्रुनाशी

यदुभ्रेष्ठरचेदिराजस्य तत्क्षणात् । व्यपाहरञ्जिरः क्रुद्धश्चक्रेणामिभ-
 कर्षणः ॥ २५ ॥ स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाचलः । ततश्चेदि-
 पतेर्देहात्तेजोऽग्रय ददृशुर्नृपाः ॥ २६ ॥ उत्पतन्तं महाराज गगना-
 दिव भास्करम् । ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम् ।
 वचन्दे तत्तदा तेजो विवेश च नराधिर ॥ २७ ॥ तदद्भुतममन्यन्त
 दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः । यद्विवेश महाबाहुं तत्तेजः पुरुषोत्तमम् २८
 अनन्त्रं मयवर्ष्य सौः पपात उबलिताशनिः । कृष्णेन निहते चैषे
 चचाल च वसुन्धरा ॥ २९ ॥ ततः केचिन्महीपाला नायुर्वस्तव-
 किञ्चन । अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥ ३० ॥
 हस्तैर्हस्ताग्रमपरे मृत्युपिपन्नमर्पिताः । अपरे दशनैरोष्ठानदशन
 क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ३१ ॥ रहस्य केचिद्वाष्णोयं मशशसुर्नराधिपाः ।
 केचिदेव सुसंरक्ष्य मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥ ३२ ॥ महृष्टाः केशवं

मधुसूदनने - इतना कहकर उसी समय तीखी धारवाले चक्रसे
 शिशुपालका शिर काट डाला ॥ २५ ॥ महाबाहु शिशुपाल यज्ञसे
 तोड़े हुए पहाड़की समान भूमिपर गिरपड़ा उससमय राजाओंने
 देखा, कि—शिशुपालके शरीरमेंसे एक बड़ाभारी तेजका पुञ्ज
 निकला ॥ २६ ॥ मानो आकाशमेंसे सूर्यमण्डल उतर आया, हे महा-
 राज ! यह तेजःपुञ्ज जगद्वन्दित कमलदलनयन कृष्णको प्रणाम
 करके उनमें ही मवेश करगया वह सब राजे इस अद्भुत घटनाको
 देखकर बड़े आश्चर्यमें हुए ॥ २७ ॥ २८ ॥ वह तेज योंही महा-
 बाहु पुरुषोत्तम भगवान्में लीन हुआ योंही शिशुपाल मारागया
 उसी समय बिना मेंघोंके ही आकाशमेंसे वर्षा होनेलगी और
 जहाँ तहाँ मज्जलित यज्ञपात होनेलगे, पृथ्वी रगमागने लगी और
 तहाँ बैठेहुए राजाओंमेंसे कितनों ही ने तो कुछ कहा ही नहीं
 ॥ २९ ॥ ३० ॥ कितने ही उस समय कुछ बोलनेका अवसर न
 समझकर क्रोधमें भरेहुए हाथोंको मलने लगे ॥ ३१ ॥ दूसरे क्रोध
 में भरे हुए दाँतोंसे ओंठोंको चबाने लगे और कोई राजे मन ही
 मनमें कृष्णकी मशंसा करने लगे ॥ ३२ ॥ इस प्रकार कितनों

जग्मुः संस्तुयन्तो महर्षयः । ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च
महाबलाः ॥ ३३ ॥ शशंसुर्निर्हताः सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम्
पाण्डवस्त्वग्रधीत् भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम् ॥ ३४ ॥ दमवो-
यात्मजं वीरं संस्कारयत् पा चिरम् । तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातॄन्
शासनं तदा ॥ ३५ ॥ चेदीनामाधिपस्ये च पुत्रमस्य महीपतेः ।
अभ्यपिञ्चत्तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३६ ॥ ततः स कुरु-
राजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान् । यूनां प्रीतिकरो राजन् स बभौ
विपुलौजसः ॥ ३७ ॥ शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्य-
वान् । अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३८ ॥ समा-
पयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम् । तन्तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्ते-
र्जनादनः । ररक्ष भगवान्शौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ३९ ॥
ततस्त्वबभूतस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् । समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुप-
ही को तो यदाभारी क्रोध आया और कितने ही उदासीन रहे
महर्षि महात्मा ब्राह्मण और कितने ही राजे भगवान् वासुदेवके
पराक्रमको देख अत्यन्त ही प्रसन्न होकर उनकी स्तुति करते हुए
चलेगये ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा, कि-
दमघोषके पुत्र राजा शिशुपालका प्रेतसंस्कार सत्कारके साथ करो
इसमें देर न हो ॥ ३५ ॥ उन्होंने भी ज्येष्ठ भ्राताकी आज्ञाके अनु-
सार शिशुपालका संस्कार करदिया फिर युधिष्ठिरने राजा शिशु-
पालके पुत्रका उन सब राजाओंको साथमें लेकर चेदिराज्यमें
अभिषेक करदिया ॥ ३६ ॥ हे महाराज! तदनन्तर सकल समृद्धियोंसे
से युक्त युवाओंको प्रसन्न करनेवाले जिसका आरम्भ बड़े सुख
किया था और भगवान् कृष्णने सबप्रकार रक्षाकरके जिसके विघ्नों
को शान्त किया उस बहुत धन धान्य अन्न और भोजनके पदार्थों
वाले परमशोभायमान राजसूय महायज्ञको प्रतापी युधिष्ठिरने समाप्त
किया, शंख चक्र गदाधारी महाबाहु भगवान् कृष्णने समाप्तिपर्यन्त
उस यज्ञ की रक्षा करी ॥ ३७-३९ ॥ इसप्रकार यज्ञको समाप्त

गम्येदमब्रवीत् ॥ ४० ॥ दिष्ट्या वर्द्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि । आजमीढाजमीढानां यशः संवर्द्धितं त्वया ॥ ४१ ॥ कर्मण्येतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुप्रहान् कृतः । आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः ॥ ४२ ॥ स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि । श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥ पयार्हं पूज्य नृपतीन् भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह । राजानः सर्व एवैते भीत्यास्मान् समुपागताः ॥ ४४ ॥ प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छन् परन्तपाः । अनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ४५ ॥ भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः । पयार्हं नृपतीन् सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४६ ॥ विराटमन्वयाचूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान् । धनञ्जयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ४७ ॥ भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च

करकै अवस्य नामक स्नान करलेने पर सकल क्षत्रिय राजाओं ने राजा युधिष्ठिरके पास आकर कहा, कि—॥ ४० ॥ हे धर्मज्ञ ! आपका बड़ा सौभाग्य है जो आपने निर्विघ्न साम्राज्य पदको पाकर अजमीढ़वंशी राजाओंके यशको बढ़ाया ॥ ४१ ॥ हे राजेन्द्र ! आपने इस कर्मसे बड़ा भारी धर्मानुष्ठान किया हमने आपके यशमें आकर सकल भोग्य पदार्थोंको यथेच्छ पाया, हे महाराज ! अब आज्ञा दीजिये, कि—हम अपने २ राज्यको जायें धर्मराज युधिष्ठिर ने उन राजाओंकी इस बातको सुनकर उनका पूजन किया और अपने भाइयों से कहने लगे, कि—हे भ्राताओं ! यह राजे भीतके कारण हमारे यहां आये थे ॥ ४२-४४ ॥ अब यह अपने २ राज्यों को जाते हैं तुम हमारे राज्यकी सीमापर्यन्त इनको पहुंचा आओ हे राजाओं ! पचारिये आपका मङ्गल हो ॥ ४५ ॥ धर्मात्मा पाण्डवोंने अपने भाईकी आज्ञा पाकर एक २ राजाको अपने राज्यकी सीमा पर्यन्त साथ जाकर बिटा कर दिया ॥ ४६ ॥ प्रतापी धृष्टद्युम्न विराटके, यजुन महारथी महात्मा द्रुपदके, महापत्नी भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्रके, युद्धविद्याविशारद सहदेव अश्वत्थामा सहित

भीमसेनो महाबलः । द्रोणस्तु समुतं वीरं सहदेवो युधामातुङ्गं पतिः ॥ ४८ ॥ नकुलः सुबल राजन् सदपुत्रं समन्वयात् । द्रौपदेयाः ससौभद्राः पार्यतीयान् महारथान् ॥ ४९ ॥ अन्वगच्छंस्तथैवान्यान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः । एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विभाः सहस्रशः ॥ ५० ॥ गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च । युधिष्ठिरमुवाचेद्वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥ आपृच्छे त्वां गर्मिण्यामि द्वारकां कुरुनन्दन । राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ५२ ॥ तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम् । तव प्रसादाद्गोविन्द प्राप्तः क्रतुरो मया ॥ ५३ ॥ क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद्दशो स्थितम् । उपादाय वलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥ ५४ ॥ कथं तद्गमनार्थं मे बाणी विरततेऽनघ । न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं मामोमि कश्चित् ॥ ५५ ॥ अवश्यञ्चैव गन्तव्या भवता द्वारका पुरी ।

द्रोणाचार्यके और नकुल पुत्रसहित सुबलके साथ पहुँचानेको गए, द्रौपदी और सुभद्राके पुत्र महारथी पहाड़ी राजाओंको तथा अन्य क्षत्रिय राजाओंको पहुँचाने गए इसप्रकार अच्छे प्रकार पूजन पाकर वह सब राजे और सहस्रों ब्राह्मण विदा हुए ॥ ४७—५० ॥ सब राजाओं और ब्राह्मणोंके विदा होजाने पर प्रतापी कृष्णने युधिष्ठिरसे कहा, कि—॥ ५१ ॥ हे कुरुनन्दन ! सौभाग्यसे राजसूय महायज्ञ को आपने समाप्त करलिया, अब मैं भी द्वारकाको जाने के लिये तुम्हारी आज्ञा चाहता हूँ ॥ ५२ ॥ श्रीकृष्णजीके ऐसा कहने पर धर्मराजने कहा, कि—हे गोविन्द ! केवल आपके अनुग्रहसे ही मैंने राजसूय यज्ञको पूरा करपाया है ॥ ५३ ॥ आपके अनुग्रहसे ही सब क्षत्रिय राजे मेरे वशमें हुए और उत्तम २ भेट लेकर मेरे पास आये ॥ ५४ ॥ हे अनघ ! इस समय मेरी बाणी आपको जानेके लिये कैसे कह सकती है ! हे वीर ! मैं तो आपके बिना एक क्षणभरको भी प्रसन्नचित्तसे नहीं रहसकता ॥ ५५ ॥ परन्तु क्या करूँ आपको द्वारका पुरीको अवश्य जानापदंगा ही, युधिष्ठिरकी

एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५६ ॥ अभिगम्या-
 यन्वीत् प्रीतः पृथा पृथुयशा हरिः । साम्राज्यं समनुवाप्ताः पुत्रा-
 स्तेऽथ पितृष्वसः ॥ ५७ ॥ सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिम-
 यामुहि । अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥ ५८ ॥ सुभद्रां
 द्रौपदीञ्चैव सभाजयत केशवः । निष्कम्प्यांतःपुरात्तस्माद्युधिष्ठिर-
 सहायवान् ॥ ५९ ॥ स्नातश्च कृतजप्यथ ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य
 च । ततो मेघवपुःमख्यं स्पन्दनञ्च मुकन्पितम् । योजयित्वा महा-
 बाहुर्दारुकः समुपस्थितः ॥ ६० ॥ उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यमवर-
 केतनम् । प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः ॥ ६१ ॥ मययौ
 पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवर्ती पुरीम् ॥ ६२ ॥ ते पद्मधामनुवधाज
 धर्मराजो युधिष्ठिरः । भ्रातृभिः सहितः शोणान् वासुदेवं महाबलम्
 ॥ ६३ ॥ ततो मुहूर्त्तं संगृह्य स्पन्दनमवरं हरिः । अग्रीवत् पुण्डरी-

वात पुरी होनेपर महायशा भगवान् कृष्ण उनको साथ लियेहुए
 कुन्तीके पास जाकर मसन्न होते हुए कहनेलगे, कि-हे पुत्राजी !
 आपके पुत्रोंने साम्राज्य पद पालिया ॥ ५६-५७ ॥ इनकी अभिलाषा
 सिद्ध होगई और धन भी बहुतसा पालिया, इस बातसे तुम्हें मसन्न
 होना चाहिये और मैं अब तुम्हारी आज्ञा पाकर द्वारकापुरीको
 जाना चाहता हूँ ॥ ५८ ॥ श्रीकृष्ण इसीप्रकार द्रौपदी और सुभद्रा
 से भी संभाषण करके युधिष्ठिरको साथमें लिये रणवाससे बाहर
 आए ॥ ५९ ॥ स्नान करके अपने आप जप किया, और
 ब्राह्मणों से स्वस्तिवाचन कराया, इतने ही में कृष्णका सारथि
 महाबाहु दारुक सुन्दर सजेहुए मेघवपु नामक रथको जोड़कर
 लेआया ॥ ६० ॥ उदारमन श्रीकृष्णजी उस गरुड़की ध्वजावाले
 रथके समीप आये और प्रदक्षणा करके उसमें बैठगये ॥ ६१ ॥ और
 पुण्डरीकाक्ष भगवान् द्वारकापुरीको चलदिये ॥ ६२ ॥ उस समय
 धर्मराज युधिष्ठिर भ्राताओंको साथमें लिये पैदल ही महाबली कृष्ण
 के पीछे २ चलनेलगे ॥ ६३ ॥ तब कमलनयन भगवान् नेक्षणभरको

कात्तः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥ अपमत्त स्थितो नित्यं मनाः
पाहि विशाम्पते । पर्जन्यमिव भूतानि महादुपमिव द्विजाः ॥ ६५ ॥
धान्यवास्तवोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवामराः । कृत्वा परस्परेणैव
सम्बन्धं कृष्णपाण्डवी ॥ ६६ ॥ अन्योऽर्थं समनुज्ञाप्य जग्मतुः
स्वगृहान् प्रति । गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ॥ ६७ ॥
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौव्रलः । तस्यां सभायां दिव्य-
यामूपेतुस्तौ नरर्षभौ ॥ ६८ ॥ ॥ ६ ॥

इति सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधे
पञ्चवत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

समाप्तश्च शिशुपालवधपर्व

अथ द्यूतपर्व

वैशम्पायन उवाच । समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे
शिष्यैः परिवृत्तो व्यासः पुरस्तात्समपद्यत ॥ १ ॥ सौम्यपादा-
समात्तूष्णं भ्रातृभिः परिवारितः । पाद्येनासनदानेन पितामहम-
पूजयत् ॥ २ ॥ अथोपविश्य भगवान् कीचने परमासने । आस्य-

रथका वेग रोककर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरसे कहा, कि—॥६४॥
हे राजन् ! जैसे मेघ सकल प्राणियोंकी रक्षा करता है, महावृक्ष जैसे
पक्षियोंको आश्रय देता है तैसे ही तुम भी सावधान मनसे सदा
मन्त्राओंका पालन करो ॥६५॥ जैसे देवता इन्द्रके अनुगामी रहते हैं
तैसे ही तुम्हारे भ्राता तुम्हारे अनुगामी रहें, इसप्रकार कहकर तथा
परस्पर अनुमति लेकर कृष्ण और युधिष्ठिर अपने-२ घरोंको गए,
यदुवीर श्रीकृष्णजीके द्वारकापुरीको चलेजाने पर राजा दुर्योधन
और दूसरा सुघलका पुत्र शकुनि यह दोनों राजे ही उस दिव्य
सभामें ठहरे रहे ॥६६-६८॥ पञ्चवत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥४१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—परमदुर्लभ राजसूय महायज्ञके
समाप्त होने पर शिष्यों सहित व्यासजी युधिष्ठिरके सन्मुख आये ?
राजा युधिष्ठिरने शीघ्र ही भ्राताओं सहित आसनसे उठकर पाद्य
आसन आदि दे पितामह व्यासजीकी पूजा करी ॥ २ ॥ भगवान्

यनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः ॥ १७ ॥ पितामहे गते राजा
चिन्ताशोकसमन्वितः । निःश्वसन्नुष्णमसकृत्तमेवार्थं विचिन्तयन्
॥ १८ ॥ कथन्तु देवं शक्येत पौरुषेण प्रवाधितुम् । अवश्यमेव
भविता यदुक्तं परमर्षिणा ॥ १९ ॥ ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान्
भ्रातॄन् युधिष्ठिरः ॥ धृतं वै पुरुषण्णाघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत्
॥ २० ॥ तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः । सर्वज्ञस्य
निधने यद्यदं हेतुरीप्सितः ॥ २१ ॥ कालेन निर्मितस्तात को
ममार्थोऽस्ति जीवतः । एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्य
भाषत ॥ २२ ॥ मा राजन् भ्रमस्तं घोरं प्राविशो बुद्धिनाशनम् ।
सम्प्रधार्य महाराज यत् क्षमं तत् समाचर ॥ २३ ॥ ततोऽब्रवीत्
सत्यवृत्तिभ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः । द्वैपायनस्य वचनं तत्रैव सम-
चिन्तयन् ॥ २४ ॥ अद्य प्रभृति भद्रं वो मतिर्ज्ञां मे निबोधत ।

ऐसा क. कर अपने शिष्यों सहित कैलास पर्यंतको चले गए १७
व्यासजीके चले जाने पर राजा युधिष्ठिर चिन्ता और शोकसे
व्याकुल होकर गरम श्वास छोड़ते हुए बारंबार उस विषयकी ही
चिन्ता करने लगे ॥ १८ ॥ वह विचारने लगे कि—पुरुषार्थसे दैवशक्ति
को कैसे हटाया जासकता है ? महर्षिने जो कुछ कहा है वह अवश्य
ही होगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ १९ ॥ तदनन्तर महा-
तेजस्वी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा कि—हे पुरुषसिंहों !
मुझसे व्यासजीने जो कुछ कहा वह तुमने सुना ॥ २० ॥ मैंने
उनकी बातको सुनते ही अपने प्राणोंको त्याग देनेका निश्चय
किया है, यदि कालने सब क्षत्रियोंके नाशका कारण मुझ ही
घनाना चाहा है तब तो अब मेरा जीवन धारण करना भी किस
फायदा है ? राजा युधिष्ठिरके ऐसा कहने पर अर्जुनने उनसे
कहा कि—॥ २१ ॥ २२ ॥ हे राजन् ! बुद्धिनाशक घोर मोहमें न
पड़िये, हे महाराज ! विचार करके जिसमें कल्याण हो सो करिये २३
अटल धैर्यधारी युधिष्ठिर बीच-बीचमें व्यासदेवकेकी बातकीही चिन्ता
करते हुए सब भाइयोंसे कहने लगे, कि—॥ २४ ॥ हे भाइयों !

त्रयोदश समास्तान को ममार्थोऽस्ति जीवतः ॥२५॥ न प्रवक्ष्यामि
 पुरुषं भ्रातृनन्याश्च पार्थिवान् । स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये
 तत्समुदाहरन् ॥२६॥ एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेऽप्यितरेषु च । भेदो
 न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥ २७ ॥ विग्रहं दूरतो रक्षन्
 भिराप्येव समाचरन् । वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः
 ॥ २८ ॥ भ्रातृज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः सन्निशम्य तत् । तमेव
 समवर्तन्त धर्मराजहिते रताः ॥२९॥ संसत्सु समर्थं कृत्वा धर्मराट्
 भ्रातृभिः सह । पितृस्तर्प्य यथान्यामं देवताश्च विशाम्पते ॥ ३० ॥
 कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः । गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु
 सर्वेषु भरतर्षभ ॥ ३१ ॥ युधिष्ठिरः सहामात्यः मविवेश पुरोत्त-
 मम् । दुर्योधनो महाराज शकुनिश्चापि सौयलः । सभार्या रमणी-

तुम्हारा कल्याण हो, मेरी प्रतिष्ठाको सुनो, तेरह वर्ष पर्यन्त मेरे
 जीवनसे ही कौन लाभ है? यदि जीना ही है तो आजसे मैं भ्राताओं
 को वा और राजाओंको कठोर वचन नहीं कहूंगा, ज्ञातिबांधवोंकी
 आज्ञामें रह कर उनके कथनानुसार काम करता हुआ समयको
 बिताऊंगा ॥२५-२६॥ अपने पुत्र तथा अन्य पुरुषोंके साथ ऐसा
 वर्ताव करने पर मेरा किसीमें भेदभाव नहीं रहेगा क्योंकि-लोकमें
 भेदभाव होनेसे ही विरोध हुआ करता है ॥ २७ ॥ हे भाइयों ! मैं
 विरोधभावको दूर फेंककर केवल सन्तके भिय काम ही करूंगा, ऐसा
 होनेसे लोकमें मेरी निन्दा नहीं होगी ॥ २८ ॥ यहे भाई युधिष्ठिर
 की प्रसन्नतामें ही प्रसन्न रहनेवाले पाण्डवोंने उनकी इस बातको
 सुनकर ऐसा ही करनेकी अनुमति दी ॥ २९ ॥ धर्मराजने सभामें
 भाइयोंके साथ ऐसा नियम करके पितरोंका तर्पण और देवताओं
 का यथोचित पूजन किया ॥३०॥ सफल राजाओंके बिदा होजानेपर
 इस प्रकार मङ्गलाचरण करके भ्राताओं और मंत्रियों सहित राजा
 युधिष्ठिरने नगरमें प्रवेश किया हे महाराज जनमेजय ! दुर्योधन

पायां तत्रैवास्ते नराधिप ॥ ३२ ॥

इति सभापर्यणं द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसमये पट्चत्वारिंशो-
ऽध्यायः ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच । वसन् दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥ तस्यां दिव्यान्-
भिषायान् ददर्श कुरुनन्दनः । न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाहये
॥ २ ॥ स कदाचित् सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः । स्फाटिकं
स्थलमासाद्य जलभिर्यामिशङ्कुषा ॥ ३ ॥ लवस्तोत्कर्षणं राजा कृतवान्
शुद्धिमोहितः । दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥ ४ ॥ ततः
स्थलो निपतितो दुर्मना व्रीहितो नृपः । निःश्वसन्विमुखश्चापि परि-
चक्राम तां सभाम् ॥ ५ ॥ ततः स्फाटिकतोषां वै स्फाटिकांबुजशोभिताम् ।
वार्पां मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥ ६ ॥ जले निपतितं
दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः । जहास जहसुश्चैव किङ्कराश्च सुयोधनम् ॥

और सुबलपुत्र शकुनि यह उस रमणीय सभामें ही ठहरे रहे ३१-३२
पट्चत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ छ ॥ छ

राजा दुर्योधनने शकुनिके साथ उस सभामें ठहर कर क्रम २ से
उस सब सभाको देखा ॥ १ ॥ दुर्योधनने उस सभामें वह दिव्य
भाव देखे कि—जो पहिले हस्तिनापुरमे कभी देखे ही नहीं थे २
दुर्योधन एक समय सभामें किसी स्फटिकके बनेहुए चौक्रमें पहुंच
गया, तहां जलके धोखेमें अपने बल ऊपरको उठाकर बड़ा दुःखित
हुआ और उसमें प्रवेश करनेकी इच्छासे चारों ओर घूमने लगा ३
तदनन्तर राजा दुर्योधन जलके धोखेसे उस स्फटिक भूमिमें गिरकर
यहां लज्जित हुआ फिर तहांसे लौटकर लंबी २ श्वासें लेता हुआ
मनमें दुःखित हो इधर उधर घूमने लगा ॥ ५ ॥ तदनन्तर स्थलके
धोखेमें स्फटिककी समान निर्मल जल और कमलोंसे शोभायमान
वावड़ीमें कपड़ोंसहित गिरगया ॥ ६ ॥ महाबली भीमसेन और उसके
सेवक दुर्योधनको इसप्रकार जलमें गिरते देखकर हँसनेलगे ॥ ७ ॥

॥७॥ वासांसि च शुभान्यसौ प्रदद् राजशासनात् । तत्रागतन्तु तं
 दृष्ट्वा भीमसेनो यदावज्ञः ॥८॥ अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते माहसं-
 स्वदा । नमर्षयत्ततस्तेषामवज्ञासमर्पणः ॥९॥ आकारं रत्न-
 माणस्तु न स तान् समुदैक्षत । पुनर्वसनमुत्तिष्ठ्य प्रतरिष्यन्निव
 स्थलम् ॥ १० ॥ आसुरो ह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः । द्वागन्तु
 पिदिताकारं स्फटिकं मेक्ष्य भूमिपः । प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि
 व्यापूरित इव स्थितः ॥ ११ ॥ तादृशं च परं द्वारं स्फटिकोरु-
 कपाटकम् । विघट्टयन् करान्पान्तु निष्क्रम्याग्रे पशत ह ॥ १२ ॥ द्वागन्तु
 विनताकारं समापेदे पुनश्च सः । तद्धृतं चेति मन्वानो द्वारस्थाना-
 दुपारयत् ॥ १३ ॥ एवं मलम्भान् विविधान् प्राप्य तत्र विशाम्यते ।

तदनन्तर घुभिष्टिरकी आज्ञा पाकर सेवकोंने दुर्गोधन को उत्तम २
 वस्त्र लाकर दिये, दुर्गोधन फिर पहिले ही समान ही थलमें जल
 का और जलमें थलका धोखा खाकर गिरता पड़ता आने लगा
 यह देख कर भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव यह सब हैंसने लगे क्रोधी
 स्वभाववाला दुर्गोधन उनके इस उपहासको सह नहीं सका ८-९
 परन्तु उस समय अपने मनके भावको छुपा ही रखता और उनकी
 ओरको दृष्टि उठाकर भी नहीं देखा, वह फिर वैसे ही धोखेमें पड़
 गया और परले पार जानेकी इच्छासे वस्त्र उठाकर स्थलमें ही
 चलने लगा यह देखकर सब लोग फिर हैंसने लगे, उसने केवल
 स्फटिकके कुट्टिम (फरस) पर ही धोखा नहीं खाया, किंतु
 स्फटिककी भीतको भी द्वार समझकर उयोही उसमेंको घुसने
 लगा, ऐसी टक्कर लगी, कि-चक्करसा खाकर बैठगया १०-११
 तैसे ही स्फटिककी बड़ी २ किवाटोंवाले एक द्वारको हाथोंसे
 धक्का मारसर खोलते हुए एकदोसकी निकलकर जापड़ा ॥ १२ ॥
 आगे चलकर खुले किवाटोंवाले बहुत बड़े द्वारपर पहुँचा, उसको
 भी तैसा ही धोखा देनेवाला स्फटिककी किवाटोंसे यंद समझ
 कर उसके पाससे लौट आया ॥ १३ ॥ दे महाराज ! राजा दुर्गो-

पाण्डवेषाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥१४॥ अपहृष्टेन मनसा
 राजसूये महाक्रौं । प्रेक्ष्य तामद्भुताश्रुद्धिं जगाम गजसाहयम् ॥१५॥
 पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः । दुर्योधनस्य नृपतेः पापा
 मतिरजायत ॥१६॥ पार्यान् सुमनसो हृष्ट्वा पार्यिवाश्च वशानुगान् ।
 कुन्स्ने चापि हितं लोकपाकुमारं कुरुद्वह ॥१७॥ महिमानं पर
 आनि पाण्डवानां महास्पनाम् । दुर्योधनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः सम-
 पद्यत ॥१८॥ स तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत् ।
 श्रियञ्च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥१९॥ प्रमत्तो धृतराष्ट्रस्य
 पुत्रो दुर्योधनस्तदा । नाभ्यभाषत् सुवलजं भाषमाणं पुनः पुनः
 ॥२०॥ अनेकाग्रन्तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत । दुर्योधन कुतो
 मूलं निरवसन्निव गच्छसि ॥२१॥ दुर्योधन उवाच । दृष्ट्वेमां

धन इस प्रकार तहाँ अनेकों धोखे खाकर और राजसूय महायज्ञकी
 उस परम श्रीसम्पदाको देखकर युधिष्ठिरसे आज्ञा ले मनमें दुःखित
 होता हुआ इस्तिनापुरको चलदिया ॥१४—१५॥ राजा दुर्यो-
 धन मार्गमें चलते २ पाण्डवोंकी श्रीसम्पदाका विचार कर करके
 चित्तमें दुःखित हुआ और उसके मनमें खेदे विचार बैठनेलगे १६
 हे कुरुवंशी जनमेजय ! वह धृतराष्ट्रकुमार दुर्योधन, पाण्डवोंकी बड़ी
 भारी महिमा, बड़ा भारी प्रभाव, राजाओंका वशमें होना और
 वालों पर्यन्त सब लोकोंका हितपोषण देखकर पीला पड़गया १७
 ॥१८॥ धृतराष्ट्रकुमार मार्गमें चलते समय उस अनुपम सभाकी
 शोभा और बुद्धिमान् धर्मराजकी राजलक्ष्मीकी चित्तमें ऐसा
 निमग्न हुआ, कि—उसका मामा उससे बार २ बातें करता था
 परन्तु वह किसी बातका उत्तर ही नहीं देता था ॥१९—२०॥
 शकुनिने उसको व्याकुल देखकर कहा, कि—हे दुर्योधन ! तुम
 मनमें ऐसे खिन्न होते हुए क्यों चल रहे हो ? ॥२१॥ यह सुनकर
 दुर्योधनने कहा, कि—हे मामा ! महात्मा अर्जुनके शस्त्रके प्रताप

पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् । जितामस्त्रप्रतापेन श्वेता-
 रवस्य महात्मनः ॥ २२ ॥ तच्च यज्ञं यथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ।
 यथा शक्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ॥ २३ ॥ अमर्षेण तु
 सम्पूर्णो दहमानो दिवानिशम् । शुचिशक्रागमे काले शुभ्येत्तोयमि-
 वान्यकम् ॥ २४ ॥ परस्य सात्त्विकमुख्येन शिशुपालो निपातितः ।
 न च तत्र पुमानासीत् कश्चित्तस्य पदानुगः ॥ २५ ॥ दहमाना हि
 राजानः पाण्डवोत्थेन बन्धिना । क्षन्तवन्तोऽपराधं ते को हि
 यत्क्षन्तुमर्हति ॥ २६ ॥ चासुदेवेन तूत्रं कर्म यथायुक्तं महत् कृतम् ।
 सिद्धं च पांडुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ॥ २७ ॥ तथा हि
 रत्नान्पादाय विविधानि नृपा नृपम् । उपातिष्ठन्त कान्तेर्य त्रैश्या
 इव करप्रदाः ॥ २८ ॥ श्रियं तथाग तं दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे ।
 अमर्षवशमापन्नो दहामि न तयोचितः ॥ २९ ॥ एवं स

से मात हुई इस समुद्रपर्यन्त पृथिवीको युधिष्ठिरके परमवशीभूत
 और इन्द्रके यशको समान उस राजसूय महायशको देखकर क्रोध
 के मारे जलता हुआ मेरा शरीर ग्रीष्मकालके थोड़े जलवाले सरो-
 वरकी समान सूखा जाहा है ॥ २२-२४ ॥ देखो जिस समय
 कृष्णने शिशुपालको मारगिराया उस समय राजसभामें ऐसा
 कोई भी राजा नहीं था जो शिशुपालका पक्ष करता ॥ २५ ॥
 उस समय राजाओंने पाण्डवोंके किये हुए तिरस्कारकी
 अग्निसे भस्मीभूत होते हुए भी अपराधको क्षमा किया,
 परन्तु ऐसे अपराधको कौन क्षमा कर सकता है ? ॥ २६ ॥ कृष्ण
 ने जैसा वह यहाँ अनुचित कर्म किया वह भी महात्मा पाण्डवों
 के प्रतापसे सिद्ध होगया ॥ २७ ॥ तथा उस समय राजे अनेकों
 प्रकारके रत्न लेकर कर देनेवाले वैरियोंकी समान राजा युधिष्ठिर
 की उपासना करने लगे ॥ २८ ॥ पाण्डवोंके प्रतापसे मात हुई राज्य-
 लक्ष्मीको इसप्रकार दमकती हुई देखकर मैं क्रोधके मारे बहुत ही
 भस्मीभूत हुए जाता हूं इसके अनन्तर विचार करता हुआ कुछ

निश्चयं कृत्वा ततो वचनपत्रवीत् । पुनर्गन्धारनृपतिं दह्यमान इवा-
ग्निना ॥ ३० ॥ नन्दिमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम् ।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि नहि शक्ष्यामि जीवितुम् ॥ ३१ ॥ को हि
नाम पुषान् लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान् । सपत्नानृध्यतो दष्टा
हानपात्मानमेव च ॥ ३२ ॥ सोऽहं न स्त्री न बाप्यस्त्री न पुमान्नापुमा-
नपि । योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥ ३३ ॥
ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्ताञ्च तादृशीम् । यज्ञश्च तादृशं दष्ट्वा
मा शः को न संज्वरेत् ॥ ३४ ॥ अवाक्तश्चैक एवाहं तामाहत्तुं
नृपश्रियम् । सहायाश्च न परयामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥ ३५ ॥
दैवमेव परं मन्ये पौरुषञ्च निरर्थकम् । दष्ट्वा कुन्तीसुते शुद्धां
निश्चय करकै कहनेलगा, कि-हे मामाजी ! मेरे हृदयमें ऐसी जलन
पड़ी हुई है, कि-॥ २६ ॥ ३० ॥ अब तो मैं जीवित भी नहीं
सकूँगा, या तो जलती हुई अग्निमें कूदजाऊँगा नहीं नो विष खा
कर अपने जीवनको समाप्त करदूँगा अथवा जलमें डूबकर इस
असह्य ज्वालाको बुझाऊँगा ॥ ३१ ॥ कौनसा शक्तिमान् पुरुष
शुभुकी उन्नति और अपनी अवनति देखकर सहन कर सकेगा
॥ ३२ ॥ मैं जब पाण्डवोंकी ऐसी राज्यलक्ष्मीको देखकर दुःखित
होता हुआ भी अभीतक सहरहा हूँ तब तो मैं न स्त्री हूँ न पुरुष
हूँ, कुछ भी नहीं हूँ, क्योंकि—यदि मैं स्त्री होता तो ऐसा दुःख
नहीं भोगना पड़ता और यदि पुरुष होता तो उसको पानेका कोई
उपाय बिना किये नहीं रहता ॥ ३३ ॥ वैसा पृथ्वीका मभुत्व, तैसी
धनसम्पदा और तैसे ही यज्ञको देखकर मुझसा कौन पुरुष
दुःखित नहीं होगा ? ॥ ३४ ॥ और विशेष बात यह है, कि-मैं
अकेला उस राज्यलक्ष्मीको हरण नहीं करसकता और मेरा कोई
सदायक भी नहीं है इसीलिये मैंने प्राण खो देनेका ही विचार
क्रिया है ॥ ३५ ॥ युधिष्ठिरको उस निष्कण्टक पवित्र राजलक्ष्मी
को देखकर मैंने निश्चय करलिया कि-गारम्भही मथान है, पुर्ण-

श्रियं तां महतीं तथा ॥ ३६ ॥ कृतो यत्नो मया पूर्णं विनाशे
तस्य सौ बलः । तच्च सर्वमतिक्रम्य संतुष्टोऽप्स्विन पङ्कजम् ॥ ३७ ॥
तेन दैवं परं मन्ये पौरुषञ्च निरर्थकम् । धार्तराष्ट्राश्च हीयन्ते
पार्था वदन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥ सोऽहं श्रियञ्च तां दृष्ट्वा सभां
तां च तथा विधाम् । रत्निभिश्चावहासं त परितप्ये यथाग्निमा ॥ ३९ ॥
स मावभ्यन्नुजानीहि मातुलाय सुदुःखितम् । अमर्षञ्च समाविष्टं
धृतराष्ट्रे निवेदय ॥ ४० ॥

इति श्रीसभापर्वणि धृतपर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशो-
ऽध्यायः ॥ ४७ ॥

शकुनिसवाच । दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यः । मति युधिष्ठिरम् ।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥ १ ॥ विषामं विविधा-
कारं पर तेषां विधानतः । अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शक्विताः

पार्थ वृथा है ॥ १६ ॥ हे मामा ! मैंने पहिले इन पाण्डवोंके नाश
करनेका यत्न किया था परन्तु यह उन सब के पार होकर जलमें
कमलकी समान बढ़ रहे हैं ॥ ३७ ॥ इससे मैं तो दैवको ही बल-
वान् मानता हूँ पुरुषार्थ निरर्थक है दैवके अनुकूल होनेसे पाण्डव
बढ़ रहे हैं और पुरुषार्थ करने पर भी हमारी दिन २ हीनदशा
होती चली जा रही है ॥ ३८ ॥ उस राज्यलक्ष्मी और तैसी सभा
को देखकर तथा पहरेदारोंके उस उपहासको सुनकर मैं ऐसा
संताप पारहा हूँ जैसे कोई अग्निसे जलता हो ॥ ३९ ॥ इसकारण
हे मामा जी ! आप मुझको माला छोड़ देनेकी आज्ञा दीजिये और
पिताजीसे इस मेरे क्रोधवश मरनेके समाचारमें कह देना ॥ ४० ॥
सप्तचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४७ ॥ छ ॥

दुर्योधनके दुःखभरे वचनोंको सुनकर शकुनिने कहा, कि-हे
दुर्योधन ! पाण्डव अपने भागको भोगते हैं उसमें देखकर तुम्हें
युधिष्ठिरके विषयमें ऐसा क्रोधमें भरना उचित नहीं है ॥ १ ॥
विशेषकर यह भी अनेकों प्रकारके विधि विधानोंसे जानते हैं

पुरा ॥ २ ॥ आरव्यापि महाराज पुनः पुनररिन्दम । विमुक्ताश्च
 नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ ३ ॥ तैलन्वा द्रौपदी भार्या
 द्रुपदश्च मृतं सद्यः । सहायः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ४ ॥
 लब्धवानभिभूतार्थैः पित्र्योऽशः पृथिवीपते । विवृद्धस्तेजसा तेषां
 तत्र का परिदेवना ॥ ५ ॥ धनञ्जयेन गाण्डीवमक्षयौ च महेषुधी।
 लब्ध्वाण्यस्त्राणि दिव्यानि तोषयित्वा हुताशनम् ॥ ६ ॥ तेन
 कामुकमुख्येन बाहुवीर्येण चात्मनः । कृता वशे महीपालास्तत्र का
 परिदेवना ॥ ७ ॥ अग्निदाहान्मयश्चापि मोक्षयित्वा स दानवम् ।
 सभां तां कारयामास सव्यहाची परन्तपः ॥ ८ ॥ तेन चैव मयेनो-
 क्ताः किङ्कुरा माम राक्षसाः । वहन्ति तां सभां भीमास्तत्र का
 परिदेवना ॥ ९ ॥ यच्चवासहायतां राजगुक्तवानसि भारत ।

तुमने पहिले अनेकों उपाय किये परन्तु उनके ऊपर एक भी नहीं
 चला ॥ २ ॥ हे शत्रुंजय ! वार २ उपाय करने पर भी जब वह
 बच गये तो अन्तमें उनको राज्यका भाग देकर ही तुम्हारा पीड़ा
 छूटा ॥ ३ ॥ उन्होंने द्रौपदी स्त्री पायी और पृथिवीको पादोंमें सहा-
 यता करनेवाले पुत्र सहित द्रुपद और तेजस्वी कृष्णको पाया है
 ॥ ४ ॥ हे राजन् ! अपने पिताके भागको पाकर सफल मनोरथ
 हुए पाण्डवोंने अपने मतापसे उसको बड़ा लिया उसमें तुम क्यों
 विलाप करते हो ? ॥ ५ ॥ अर्जुनने अग्निको प्रसन्न करके गाण्डीव
 धनुष और जिनमेंके बाण कभी कम न हों ऐसे दो तर्कस तथा
 बहुतसे दिव्य अस्त्र पाये ॥ ६ ॥ उस श्रेष्ठ धनुष और धनुषालसे
 राजाओंको वशमें किया है इसमें भी तुम्हारे दुःखित होनेकी कौन
 बात है ? ॥ ७ ॥ शत्रुतापी अर्जुनने अग्निदाहसे मय दानवकी
 रक्षा करके उससे वह सभा बनवाई है ॥ ८ ॥ उस ही मय दानव
 के आज्ञा दियेहुए किङ्कुर नामक राक्षस उस सभाकी सम्हाल
 रखते हैं उसमें भी तुम्हारे दुःख माननेकी कौन बात है ? ॥ ९ ॥
 और हे राजन् ! तुमने जो कहा कि-मेरे पास सहायता नहीं है

तन्मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ॥ १० ॥ द्रोणस्तव
महेस्वरास सह पुत्रेण वीर्यवान् । सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महा-
रथः ॥ ११ ॥ अइश्च सह सौदर्येः सौमदत्तिश्च पार्थिवः ॥ एतेस्त्वं
सहितः सर्वजेष कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ १२ ॥ दुर्योधन उवाच ।
त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः । एतानेव विजेष्यामि
यदि त्वमनुमन्यसे ॥ १३ ॥ एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति महीयम ।
सर्वे च पृथिरीपालाः सभा सा च महाधना ॥ १४ ॥ शकुनिश्च उवाच ।
धनञ्जयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः । नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च
सहात्मजैः ॥ १५ ॥ नैते युधि पराजितुं शक्या देवगणैरपि । महा-
रथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ १६ ॥ अहन्तु तद्विजानामि
विजेतुं येन शक्यते । युधिष्ठिर स्वयं राजंस्तन्निबोध जुपस्व च
॥ १७ ॥ अपमादेन सुहृदामन्येषाञ्च महात्मनाम् । यदि शक्या विजेतुं

यह तुम्हारा कहना वृथा है, क्योंकि—यह सब भाई तुम्हारे यही-
भूत हुए अनुगामी रहते हैं ॥ १० ॥ और महाधनुर्धर वीर द्रोण
वनका पुत्र अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, महारथी गौतम ॥ ११ ॥
मैं और अपने भाइयों सहित राजा सौमदत्ति, इन सबको साथमें
लेकर तुम अखिल भूमण्डलका विजय करो ॥ १२ ॥ यह सुन
कर दुर्योधनने कहा, कि—हे राजन् ! यदि आप आज्ञा दें तो मैं
आपको और आपके वताये इन राजाओंको तथा औरोंको भी
साथमें लेकर आज ही इन पांडवोंको जीतलूँ ॥ १३ ॥ इनको
जीत लेनेपर आज ही सकल भूमण्डल मेरा हो जायगा सब राजे
और वह सभा भी मेरे वशमें हो जायगी ॥ १४ ॥ यह सुनकर
शकुनिने कहा, कि—अर्जुन, कृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल,
सहदेव और पुत्रों सहित द्रुपद ॥ १५ ॥ इनको युद्धमें जीतना देव-
ताओंकी भी शक्तिके बाहर है क्योंकि—यह सब महारथी बड़े
धनुषगारी अस्त्रविद्यामें मवीण और रणमें दटनेवाले हैं ॥ १६ ॥
परन्तु हे राजन् ! जिस उपायसे युधिष्ठिरको जीता जासकता है
उसको मैं जानता हूँ तुम मुझसे सुनो और अब उसी से काम लो

ते तन्ममाचक्ष्व मातुल ॥ १८ ॥ शकुनिस्त्वाच । द्यूतप्रियथ
 फौन्तेयो न स जानाति देवितुम् । समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्यति
 निवर्त्तितुम् ॥ १९ ॥ देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि । त्रिषु
 लोकेषु परव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय ॥ २० ॥ तस्याक्षकुशलो
 राजन्नादास्येऽहमसंशयम् । राज्यं श्रियश्च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुष-
 र्पम ॥ २१ ॥ इदन्तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निबोधय । अनुज्ञात-
 स्तु ते पित्रा विजिष्ये तान्न संशयः ॥ २२ ॥ दुर्योधन उवाच ॥
 त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौषल । निवेदय यथान्पापं नाहं
 शक्ये निवेदितुम् ॥ २३ ॥

इति सभापर्वसि द्यूतपर्वसि दुर्योधनसन्तापेऽष्ट-

चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४८ ॥

॥ १७ ॥ यह सुनकर दुर्योधन कहने लगा, कि—हे मामाजी ! मेरे
 मित्र तथा अन्य महात्माओंके ध्यान देने पर यदि किसी उपायसे
 इन पांडवोंको जीता जासकता है तो वह उपाय मुझै बतलाओ
 ॥ १८ ॥ यह सुनकर शकुनिने कहा, कि—राजा युधिष्ठिरको जुए
 का प्रेम तो है परन्तु वह खेलना नहीं जानते हैं इससे तुम
 उनको जुआ खेलनेको बुलाओ वह बुलानेपर निषेध नहीं करेंगे
 ॥ १९ ॥ मैं खेलनेमें ऐसा चतुर हूँ, कि—भूमण्डलमें तो क्या
 त्रिलोकी भरमें मेरी समान कोई है ही नहीं इसलिये तुम उनको
 द्यूत खेलनेको बुलाओ मैं तुम्हारे लिये चतुराईसे फाँसे फँककर
 उनकी उस दमकती हुई सकल राज्यलक्ष्मीको खेलूंगा ॥ २० ॥ हे
 दुर्योधन ! यह सब बात तुम अपने पिता राजा धृतराष्ट्रसे कहो
 यदि वह मुझै आज्ञा दें तो मैं पांडवोंको निःसन्देह जीत लूंगा
 ॥ २१ ॥ दुर्योधन ने कहा, कि हे मामाजी ! महाराज धृतराष्ट्र से यह
 बात आप ही ठीक २ समझा कर कहें मैं उनसे नहीं कहसकता
 ॥ २२ ॥ अष्टचत्वारिंश अध्याय समाप्त ॥ ४८ ॥

वैशम्पायन उवाच ॥ अनुभूय तु राजस्तं राजसूर्यं महाक्रतुम् ।
 युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गांधारीपुत्रसंपुतः ॥१॥ म्रियकृन्मतमाज्ञाय पूर्वं
 दुर्योधनस्य तत् । प्रज्ञाचक्षुपमासीनं शकुनिः सौवलस्तदा ॥ २ ॥
 दुर्योधनश्चः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम् । उपगम्य महाप्राज्ञं
 शकुनिर्विषमव्रवीत् ॥ ३ ॥ शकुनिस्त्वाच ॥ दुर्योधनो महाराज
 त्रिवर्णो हरिणः कृशः । दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप
 ॥४॥ न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसम्भवम् । ज्येष्ठपुत्रस्य हृज्जोकं
 किमर्थं नागनुध्यसे ॥५॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥ दुर्योधन कुतो मूर्खं मृश-
 मार्तोऽसि पुत्रक । श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन ॥६॥
 अयं त्वां शकुनिः प्राह त्रिवर्णं हरिणं कृशम् । चिन्तयंश्च न
 पर्यापि शोकस्य तव सम्भवम् ॥७॥ ऐश्वर्यं हि महत्पुत्र त्वयि
 सर्वं प्रतिष्ठितम् । आतरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तत्राभियम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायन जी कहते हैं, कि हे जनमेजय ! युधिष्ठिरके उस राजसूर्य
 महायज्ञको देखकर गांधारीके पुत्रों सहित लाँटकर आया हुआ
 सुवल पुत्र शकुनि दुर्योधनसे सम्मति करके उसका म्रिय कार्य
 करनेकी इच्छासे उसके कहनेके अनुसार बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु राजा
 धृतराष्ट्रके पास गया और उनसे कहने लगा ॥ १-२ ॥ शकुनि
 ने कहा, कि-हे महाराज ! मैं आपके उपाये देता हूँ, कि-दुर्योधन
 को रक्त बदलकर पीला पड़ गया है और यह दुर्यज्ञ, दीन तथा
 चिन्तामें मग्न रहता है ॥४॥ ज्येष्ठ पुत्रके शत्रुके कारण उत्पन्न हुए
 हृदयके शोकको तुम परीक्षा करके क्यों नहीं समझने हो ? ॥५॥
 धृतराष्ट्रने शकुनिके मुखसे ऐसा सुनकर दुर्योधनसे कहा, कि-हे
 विषपुत्र दुर्योधन ! तू इतना खिन्न हो रहा है इसका कारण क्या है ?
 हे कुरुनन्दन ! इसका कारण मेरे सुननेके योग्य हो तो बता ॥१॥
 यह शकुनि तुम्हें रक्त बदलकर पीला पड़ा हुआ और दुर्यल बता
 रहा है परन्तु मैं ध्यान देता हूँ तो मुझे शोकमें होनेका कोई कारण
 नहीं मालूम होता ॥ ७ ॥ हे पुत्र ! बड़ा भारी ऐश्वर्य तेरे पास है,

आञ्छादयसि भावारानश्नासि पिशितौदनम् । आजानेया वह-
 न्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ ६ ॥ शयनानि महार्हाणि
 योषितश्च मनोरमाः । गुणवन्ति च वेश्मानि विहारश्च यथासुखम्
 ॥ १० ॥ देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः । स दीन इव
 दुर्धर्षः कस्माच्छोचसि पुत्रका ॥ ११ ॥ दुर्योधन उवाचाअश्नाम्याच्छादये
 चाहं यथा कुरुरूपस्तथा । अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम्
 ॥ १२ ॥ अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिमूष परं स्थितः । क्लेशान-
 मुमुक्तः परजान् स वै पुरुष उर्चयते ॥ १३ ॥ सन्तोषो वै धियं हन्ति
 ह्यभिमानश्च भारत । अनुक्राशभये चोग्रे यैर्दृतो नाश्रुते महदः ॥ १४ ॥
 न मां प्रीणाति मञ्जुक्तं धियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरोऽतिज्वलन्ती कान्तेये
 तेरे भ्राता वा मित्रं कुञ्ज अमित्रं काम नहीं करते हैं ॥ ८ ॥ राजाओं
 के योग्य वस्त्र पहनता है, पिशितभय भोजन पाता है और उत्तमो-
 त्तम घोड़ोंपर चढ़ता है, फिर तू किस दुःखसे दुर्बल होकर गीला
 पड़ गया है ? ॥ ६ ॥ तेरी शय्याएं बहुमूल्य हैं स्त्रियों मनोहरणी
 हैं, महल सजेहुए हैं और सुखके साथ विहार करता है ॥ १० ॥
 यह सब पदार्थ देवताओंकी समान, सुखसे शब्द निकालते ही
 तुझमें मिल जाते हैं हे मित्र पुत्र ! फिर क्या कारण है, कि-तू
 दीनकी समान शोक करता है ? ॥ ११ ॥ दुर्योधनने कहा, कि-
 हे पिताजी ! केवल कालक्षेप करनेके लिये कायर पुरुषकी समान
 खाता पीता हूं, वस्त्र पहनता हूं और घोर क्रोधको धारण करता हूं
 ॥ १२ ॥ परन्तु जो पुरुष क्रोधमें भरकर अपनी मजाओंको बशमें रख
 सकता है और शत्रुके तिरस्कारसे छूटना चाहता है वह ही वास्तव
 में पुरुष है ॥ १३ ॥ हे महाराज ! संतोष श्री और अभिमान दोनों
 को नष्ट करदेता है और जो केवल अनुग्रह वा भयके बशमें होकर
 चलता है वह कभी गौरव नहीं पाता ॥ १४ ॥ जिस दिनसे मैंने
 कुन्तीनन्दन, युधिष्ठिरकी दिपती हुई राजलक्ष्मीको देखा है उस
 दिनसे कोई भी भोगका पदार्थ मुझमें अच्छा नहीं लगता उसने ही

विवर्ण हरणो मम ॥ १५ ॥ सपत्नानृष्यतोऽस्तमानं हीयमानं निश-
म्य च । अदृश्यामति कौन्तेय श्रियं पश्यन्निबोध ताम् ॥ १६ ॥
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः । अप्राशीति सदस्त्राणि
स्नातका गृहमेधिनः ॥ १७ ॥ त्रिशदासीक एकैकौ यान्विभर्ति
युधिष्ठिरः । दशान्यानि सदस्त्राणि नित्यं तत्रान्नमुत्तमम् ॥ १८ ॥
भुञ्जते रुक्मपात्रोभिर्पुंथिष्ठिरनिवेशने । कदलीमृगमोकानि कृष्ण-
श्यामावणानि च ॥ १९ ॥ काम्बोजः माहिणोत्तमै पराङ्मनानि
कम्बलान् । गजायोपिज्जवारवस्य शतशोऽथ सदस्त्रशः ॥ २० ॥
विशतं षोष्ठ्यामीनां शतानि विचरन्त्युत । राजन्या बलिमादाय
समेता हि नृपक्षये ॥ २१ ॥ पृथिविधानि रत्नानि पार्थिवाः
पृथिवीपते । आहरन् क्रतुमुख्येऽस्मिन् कुन्तीपुत्राय भूरिशः ॥ २२ ॥
न कचिद्दि मया तादृग् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः । यादृग्धनागमो यज्ञे

मुझ पीला कर दिया है ॥ १५ ॥ मैं शत्रुओं की उन्नति और अपने
को हीन दशामें देख रहा हूँ, यद्यपि युधिष्ठिर की राज्यक्षत्तमी मेरे
सामने नहीं है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि-मानों मैं उसको अपने
नेत्रोंसे देख रहा हूँ, ॥ १६ ॥ इस कारण ही मैं दीन दुर्बल होता हुआ
पीला पड़ा जाता हूँ, युधिष्ठिर प्रतिदिन अष्टासी महल स्नातक
और गृहस्थी ब्राह्मणोंका पोषण करते हैं और उनमेंसे हर एक की
सेवाके लिये तीस २ दासी नियत करदी हैं, इनके सिवाय और
दस सदस्य पुरुष भी युधिष्ठिरके यहाँ प्रतिदिन सोनेके पात्रोंमें
भोजन करते हैं, काम्बोजदेशके राजाने युधिष्ठिरके पास फाली,
हरी और लाल वर्णकी कदली वनके मृगोंकी मृगचर्म, बहुमूल्य
कम्बल, सैंकड़ों सदस्यों हयनियोंके पाठे, घोड़े और तीनसौ
ऊँट तथा घोड़ियों भेजी हैं, जिनके सैंकड़ोंके भुण्ड तथा विचरते
रहते हैं, हे महाराज ! इस महायज्ञमें युधिष्ठिरके यहाँ बहुतसे राजे
इकट्ठे हुए जो अनेकों रत्नोंकी भेंट लेकर आये थे और वह रत्नों
ने युधिष्ठिरको अर्पण करदी ॥ १७—२२ ॥ अधिक क्या कहूँ,

पाण्डुपुत्रस्य धीमता ॥ २३ ॥ अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शशोरहं
 नृप । शर्म नैवाधिगच्छामि चिन्तयानो विशाम्पते ॥ २४ ॥ ब्राह्मणा
 यादधानाश्च गोमन्तः शतसंघशः । त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि
 तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २५ ॥ कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयान् शुभान् ।
 एतद्धनं सप्तादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ २६ ॥ यथैव मधु शकाय
 धारयन्त्यवरस्त्रियः । तदस्मै कांस्यमाहार्पात् वारुणं कसाशोदधि
 ॥ २७ ॥ शैब्यं स्वमसहस्रस्य बहुरत्नविभूषितम् । शंखप्रवरमा
 दाये वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ॥ २८ ॥ दृष्ट्वा च मम तत्सर्वं ज्वर-
 रूमिवाभयत् । गृहीत्वा तत्तुगच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ॥ २९ ॥
 तथैव पश्चिम योस्ति गृहीत्वा भरतर्पणम् । उत्तरन्तु न गच्छन्ति
 विना तात पतप्रणः ॥ ३० ॥ तत्र गत्वार्जुनो दण्डभाजहारामितं

बुद्धिमान् युधिष्ठिरके यज्ञमें जितना धन आया उतना मैंने अपनी
 आखोंसे पहिले कहीं नहीं देखा और न कही सुना ॥ २३ ॥
 शत्रुके उस असंख्य धनसमूहको देखकर मैं बड़ी चिन्तामें हूँ और
 मुझ 'चैन नहीं' पड़ता ॥ २४ ॥ हाथोंमें सोनेके कमण्डलु लिये
 सैकड़ों पथिक ब्राह्मण गाँवोंके समूहोंके सहित बहुतसी भेंट लिये
 हुए भीतर घुसनेका भी अवसर नहीं पाते थे द्वारपर ही खड़े थे २५
 जैसे देवांगनाएं देवराज इन्द्रके लिये मधुको लिये रहती हैं तैसे
 ही युधिष्ठिरके लिये भी समुद्र समान वरुण देवताका दिया हुआ
 सुवर्णकी टोंटियोंवाला कांसीका गडुआ सदा सुन्दरियोंके हाथमें
 रहता था ॥ २६ ॥ २७ ॥ वासुदेवने अनेकों रत्नोंसे जड़े बहु-
 मूल्य सुवर्णके छीके और सुन्दर शंख लेकर युधिष्ठिरका अभिषेक
 किया ॥ २८ ॥ उन छीकोंको लेकर कोई पूर्वसमुद्रको कोई दक्षिण
 समुद्रको और कोई पश्चिम समुद्रको जल लेने गए और हे तात !
 उत्तरसागर पर तो पत्तियोंके सिगाय कोई जाही नहीं सफ़ता
 उस सम्पदाको देखकर मुझ 'ज्वरसा आगया ॥ २९-३० ॥
 परन्तु पिताजी ! मुनिये, कैसी अद्भुत बात है कि अर्जुन तहाँ-

वनम् । इदं चाद्भुतमनासीत्तन्मे निगदतः शृणु । पूर्णे शतसहस्रे
तु रिपाणां परिविशयताम् ॥ ३१ ॥ स्थापिता तत्र संज्ञामूर्च्छलो
ध्यापति नित्यशः । मुहुर्मुहुः प्रयत्नस्तत्र शंखस्य भागत ॥ ३२ ॥
अनिशं शब्दमश्रीरं ततो रोमाणि मेऽहपन् । पार्थिवैर्विदुभिः
कीर्णमुपस्थानं दिदक्षिभिः ॥ ३३ ॥ अशोभत महाराज नक्षत्रै-
र्यौरिपला । सर्वरत्नान्युपाद्राय पार्थिवा वै जनेश्वर ॥ ३४ ॥
यह तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः । वैश्या इव मदीपाला
दिनातिपरिवेशकाः ॥ ३५ ॥ न सा श्रीदेवराजस्य यमस्य वरुणस्य
व । गुह्यतापितृतेर्वापि या श्रीराजन् युधिष्ठिरे ॥ ३६ ॥ तां
दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य त्रियं परमिकामहम् । शान्तिं न परिगञ्जायि दक्ष-
मानेन चेतसा ॥ ३७ ॥ शकुनिरुवाच । यामेतामनुतां लक्ष्मीं दृष्ट्वा-

भी पहुँच गया और दयकरूप बहुतसा धन लाया, मुनिये तो सही
पक्षमें ऐसा संकेत कर लिया था कि—एक लक्ष ब्राह्मणोंके भोजन
कर चुकने पर शंख मजाया जाय, ऐसी शंखध्वनि तहाँ बराबर
होती रहती थी, बारंबार उस शंखध्वनिको सुनकर मेरा तो
रोमाञ्च खड़ा होता था, सभास्थान दर्शक राजाओंसे भरकर तारा-
गणोंसे भरे निर्मल आकाशकी समान शोभा पाता था, हे महाराज !
उत बुद्धिमान् युधिष्ठिरके वस्त्रमें जहाँ तहाँके राजे सब ही मकार
के स्वरूप श्रेष्ठ २ पदार्थ लेकर आये थे, और वह सब राजे
वैश्योंकी समान दिनातियोंको भोजन परोसनेका काम करते थे
॥ ३१ ॥ ॥ ३२ ॥ हे राजन् । मैंने उस समय युधिष्ठिरकी
ऐसी राज्यलक्ष्मी देखी, कदाचित् वैसी राज्यलक्ष्मी देवराज
इन्द्रकी भी नहीं होगी यमराजकी भी नहीं होगी वरुणकी
भी नहीं होगी और कुबेरकी भी नहीं होगी ॥ ३६ ॥ राजा
युधिष्ठिरकी उस पदी भारी राजलक्ष्मीको मैंने जदसे देखा है
तबसे मेरा चित्त भस्म हुआ जाता है और शान्ति नहीं मिलती ३७
दुर्गोपनके ऐसा कहने पर शकुनिने कहा, कि—हे सत्यपराकृषी

नति पांडवे । तस्याः प्राप्तं युपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३८ ॥
 अश्वमेधेऽभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत । हृदयज्ञः पण्डितश्च विशेष-
 ज्ञश्च देवने ॥ ३९ ॥ धृतराष्ट्रश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम् ।
 आहूतश्चैष्यति व्यक्तं धृतादपि रणादपि ॥ ४० ॥ निषतं तं विजे-
 ष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो । आनयामि समृद्धिं तां दिव्या चोपा-
 दयस्व तम् ॥ ४१ ॥ वैशम्पायन उवाच ॥ एवमुक्तः शकुनिना राजा
 दुर्योधनस्ततः । धृतराष्ट्रं हि दं चाभ्यपयान्तरमब्रवीत् ॥ ४२ ॥
 अयमुत्सहते राजन् श्रियमाहर्तुं यत्नवित् । धूतेन पांडुपुत्रस्य तद-
 जुज्ञातुमर्हति ॥ ४३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच ॥ क्षत्ता मन्त्री महामाहः
 स्थितो यस्यास्मि शासने । तेन संगम्य वेत्स्यामि कायस्यास्य
 विनिश्चयम् ॥ ४४ ॥ स हि धूर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम् ।
 दुर्योधन ! तुमने जो पाण्डवोंकी बड़ी भारी राज्यलक्ष्मी देखी है
 उसको पानेका उपाय मुझमें सुनो ॥ ३८ ॥ हे भारत ! मैं पाशों
 के खेलको भूमण्डलभरमें सबसे अच्छा जानता हूँ, उसके मर्मको
 जानता हूँ, दांव लगाना जानता हूँ और चालचलनेमें भी मंवीण
 हूँ, ॥ ३९ ॥ सुविष्टिरको फाँसोंका खेल तो प्यारा है, परन्तु वह
 खेलमेंमें चतुर नहीं है क्षत्रियोंकी रीतिके अनुसार धूतके लिये
 या रणके लिये गुलावे जाने पर उनके अवश्य ही आना पड़ेगा
 ॥ ४० ॥ उनके गुलशायीमें कपटसे फाँसे डालकर उनके जीतलूंगा
 और उनकी उमसकल दिव्य संपदाको निःसन्देह मँगवा लूंगा ॥ ४१ ॥
 वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! शकुनिके इस बातको
 पूरा करते ही राजा दुर्योधनने धृतराष्ट्रसे यह बात कही, कि-४२
 हे राजन् ! यह फाँसोंके खेलको जाननेवाले गान्धारराज धूतके
 द्वारा पाण्डवोंकी राज्यलक्ष्मीको छीन लेनेका उत्साह कर रहे हैं, आप
 इनको आज्ञा दीजिये ॥ ४३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-परम मंवीण
 विदुर मेरे मंत्री हैं, मैं उनके उपदेशके अनुसार ही काम किया
 करना हूँ, उनसे संभव करके मैं निश्चय करूंगा, कि-इस विषय
 में क्या करना चाहिये ॥ ४४ ॥ वह दूरदर्शीपनेके मभावसे दोनों

उभयोः पत्नयोर्भुक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥४५॥ दुर्योधन उवाच ।
निवर्त्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेप्यति । निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र
परिष्येऽहं न संशयः ॥ ४६ ॥ स त्वं मयि मृते राजन् विदुरेण
सुखी भव । भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ॥४७॥
वैशम्पायन उवाच ॥ आर्त्तवाक्यन्तु तत्तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः ।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत्प्रेम्यान् दुर्योधनमते स्थितः ॥ ४८ ॥ स्थूणासहस्रै-
र्बृहती शतद्वारां सभां मम । मनोरमां दर्शनीयायांश्च कुर्वन्तु
शिन्धिपनः ॥ ४९ ॥ ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तच्छण आनाय्य सर्वशः ।
सुकृतां सुपवेशाञ्च निवेदयत् मे शनैः ॥ ५० ॥ दुर्योधनस्य शान्त्यर्थ-
मिति निश्चित्य भूमिपः । धृतराष्ट्रो महाराज माहिषोद्भिदुराय वै ५१
अपृष्ट्वा विदुरं स्वस्य नासीत्प्रश्निद्विनिश्चयः । धृते दोषाञ्च जानन्

औरकी हितकारी और धर्मानुकूल सम्पत्ति देंगे ॥ ४५ ॥ दुर्यो-
धनने कहा, कि हे महाराज ! यदि विदुरजी आजायेंगे तो वह
आपको निषेध करदेंगे और यदि आप धृत करानेसे बचेंगे तो
निःसन्देह मैं प्राणोंको त्यागदूंगा तब आप विदुरके साथ सुख भोगें
मेरा क्या करोगे ॥ ४७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-हे जनमेजय
धृतराष्ट्रने दुर्योधनके नम्रता भरे कातर वचनको सुनकर उसकी
ही बात मान ली और अपने दूतोंको बुलाकर कहा, कि-४८
शिन्धिपोंको बुलाकर सहस्रों खम्भोंसे शोभायमान, सैंकड़ों द्वारों
वाली मयनानंददायक एक सुन्दर सभा शीघ्र ही बनवाओ ४९
फिर उसमें सुन्दर गलीचे बिद्धाओ और बहुत से बड़इयोंको बुलावा
कर उसमें जानेके बहुतसे द्वार बनवाओ और शीघ्र ही मुझ
समाचार दो ॥ ५० ॥ धृतराष्ट्रने दुर्योधनके सन्तापने शान्त करने
के लिये केवल पुत्रप्रेमके कारण ऐसी बात कही परन्तु पाशोंके
खेलको अपनेको दोषोंकी खान जानकर, और विदुरसे बिना
मुझ कुछ निश्चय नहीं होगा ऐसा विचार कर विदुरके पास समा-
चार भेज दिया, यद्यपि धृतराष्ट्र जुएकी घुमाइयोंको जानते थे परन्तु

स पुत्रस्नेहादकृप्यत ॥ ५२ ॥ तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान् फलिद्वार-
 म्प्रस्थितम् । विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥ ५३ ॥ सो-
 ऽगिम्प महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम् । मूर्ध्ना प्रणम्य शरणा-
 भिद वचनमब्रवीत् ॥ ५४ ॥ विदुर उवाच । नाभिनन्दामि ते
 राजन् व्यवसायमिमं ममो । पुत्रैर्मदो यथा न स्यात् धृतरतो-
 स्तथा कुरु ॥ ५५ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । क्षतः पुत्रेषु पुत्रैर्मै कलरो
 न भविष्यति । यदि देवाः मसादन्मः करिष्यन्ति न संशयः ५६
 अशुभं वा शुभं वापि हितं वा यदि वाहितम् । प्रवर्ततां सुहृदधृतं
 दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ५७ ॥ भूमि सन्निहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च
 भारत । अनयो देवविहितो न कथञ्चिन्नविष्यति ॥ ५८ ॥ गच्छ
 त्वं रथमास्थाय इयैर्वातसमैर्जेने । स्वांश्चमस्थमयैव समानप युधि-
 ष्ठिरम् ॥ ५९ ॥ न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतद् ब्रवीमि ते ।
 पुत्रके मेने सनको घुराड्योकी ओरको ही खेचा ॥ ५१ ॥ ५२ ॥
 बुद्धिमान् विदुरजीने यह समाचार पाते ही समझ लिया कि—
 कलिका द्वार खुलता है और विनाशही जड़ जमी जाती है सो उसी
 समय दाँड़े हुए धृतराष्ट्रके पास आये ॥ ५३ ॥ दाँटे भाई विदुरजी
 पड़ेभाई महात्मा धृतराष्ट्रके शरणोंमें मस्तकसे प्रणाम करके कहने
 लगे ॥ ५४ ॥ विदुरजीने कहा, कि—हे राजन् ! मैं आपके इस
 चयोगको अच्छा नहीं समझता, आप ऐसा करिये, कि—जिस
 में जुएके कारणसे आपके पुत्र और भतीजोंमें परस्पर विरोध न
 होय ॥ ५५ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—हे विदुर ! यदि देवता अनु-
 कूल होंगे तो हमारे पुत्र और भतीजोंमें कलह नहीं होगा ॥ ५६ ॥
 अथवा शुभ हो वा अशुभ हो, हित हो वा अहित हो इन भाइयों
 में झूत होना निःसन्देह देवी घटना है मैं क्या करूँ ॥ ५७ ॥ हे
 भाई ! मेरे, तुम्हारे, द्रोण और भीष्मजीके पास बैठे रहने पर
 घतमें कुछ भी अनीति नहीं होसकगी ॥ ५८ ॥ हुप आज ही
 शीघ्रगामी घोड़ोंसे जुतेहुए रथमें चढ़कर स्वांश्चमस्थको जाओ
 और युधिष्ठिर को लिवालाओ ॥ ५९ ॥ परन्तु हे विदुर ! उनसे

देवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥८०॥ इत्युक्तो विदुरो धीमान्नेद-
मस्तीति चिन्तयन् । आपगेयं महामाहमभ्यगच्छत् सुदुःखितः ६१
इति सभापर्वणि धृतपर्वणि दुर्योधनसंवाप ऊन-
पंचाशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

जनमेजय उवाच । कथं समभवद् द्यूतं भ्रातॄणां तन्महात्ययम् ।
यत्र तद् व्यसनं मासं पांडवैर्मै पितामहैः ॥ १ ॥ के च तत्र सभा-
स्तारा राजानो ब्रह्मविचय । के चैनमन्वमोदन्त के चैनं मत्प-
प्रेषयन् ॥ २ ॥ विस्तरेणैतद्दिग्ब्रामि कथयमानं त्रया द्विज । मूलं
ह्येतद्दिनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तमी ॥ ३ ॥ सौमित्रवाच । एवमुक्त-
स्तदा राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतोपवान् । आचवक्षेऽथ यद् वृत्तं
तत् सर्वं वेद तत्त्ववित् ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । शृणु मे

यह मन कहना कि— यह उद्योग धृतराष्ट्र ने किया है, इतना
मैं तुमसे कहे देता हूँ क्योंकि— मारम्भ बड़ा बलवान् है, कि—
जिसके कारण यह घटना हो रही है । ६० ॥ धृतराष्ट्र के ऐसा
कहने पर बुद्धिमान् विदुरजीने सोचा कि—ऐसा होना उचित
नहीं है, सो चिन्तमें बहुत ही दुःखित होते हुए परम प्रवीण
भीष्मपितामह के पास गए ॥ ६१ ॥ एकोनपञ्चाशत् अध्याय समाप्त

जनमेजयने वैशम्पायनजीने पूछा, कि—हे द्विजवर ! जिस
से कि—हमारे पितामह पांडवोंने बड़ा भारी दुःख पाया वह
बड़ा अनर्थकारी भाइयों भाइयों का द्यूत किमपकार हुआ
था ॥ १ ॥ उसमें सुखिया बनकर कौन २ बैठे थे, किन २ ने
ऐसा होनेमें संपत्ति दी थी और किन २ ने निपेय किया था ? ॥ २ ॥
हे महाराज ! पृथिवी भरके बिनाशके मूलभूत इस सब वृत्तान्तको
सुननेही मेरी बड़ी अभिलाषा है आप विस्तारके साथ सुनाइ ॥ ३ ॥
सोचि कहते हैं, कि—हे अधिपति ! जब राजा जनमेजयने व्यासजीके
शिष्य वैशम्पायनजीसे ऐसा कहा, तब उन प्रतापी अधिपतिने जैसा २
हुआ था सब सुनाया, क्योंकि—वह जग जग करके जा-ते थे ॥

विस्तरेणैवा कथां भारतसत्तम । भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे
मतिः ॥ ५ ॥ विदुरस्य मतिं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः । दुर्यो
धनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः ॥ ६ ॥ अलं द्यूतेन गान्धारे
विदुरो न मशंसति । न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति ॥ ७ ॥
हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत् प्रभाषते । क्रियतां पुत्र तत्सर्वमेत-
न्मन्ये हितं तव ॥ ८ ॥ देवर्षिर्वासवगुप्तर्देवराजाय धीमते । यत्
ग्राह शास्त्रं भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः । तद्देव विदुरः सर्वं
सरहस्यं महाकविः ॥ ९ ॥ स्थितस्तु बचने नस्य सदाहमपि पुत्रक ।
विदुरो वापि मेधावी कुरूणां भवरो मतः ॥ १० ॥ उद्धवो वा
महाबुद्धिर्दृष्टणीनामर्षिनो नृप । तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि
दृश्यते ॥ ११ ॥ भेदे विनाशो राज्यस्य तत् पुत्रपत्विर्जय । पितामात्रा

पैशम्पायनजीने कहा, कि-हे जनमेजय ! यदि फिर दुसराफर
विस्तारसे सुननेको तुम्हारी अभिलाषा हुई है तो सुनो ॥ ५ ॥
अम्बिकामंदन धृतराष्ट्रने विदुरजीके कहने पर विचार करके दुर्यो-
धनसे फिर एकांतमें यह बात कही, कि-॥ ६ ॥ हे वेंटा ! परम
बुद्धिमान् विदुर हमें खोटी समति कभी नहीं देगा, इसलिये जब
विदुर अच्छा नहीं बताता तो तुम जुआ मत खेलो ॥ ७ ॥ जो
विदुर कहता है मैं तो उसको ही परम हितकी बात समझता हूं,
हे वेंटा ! मेरी समझमें तुम सब काम विदुरकी सम्मतिसे करो
तब ही तुम्हारा हित होगा ॥ ८ ॥ उदारबुद्धि भगवान् बृहस्पति
जीने देवराज इन्द्रको जो नीतिशास्त्र सिखाया था उस सभको
बुद्धिमान् विदुरजी मर्मके साथ जानते हैं ॥ ९ ॥ हे प्रिय पुत्र !
मैं तो सदा विदुरका कहना मानता हूं, जैसे महामति उद्धवजी
यादवोंमें पूज्य हैं वैसे ही बुद्धिमान् विदुर कुरूवंशमें प्रधान माने
गये हैं, इसकारण जब विदुर निषेध करते हैं तो तुम जुएको मत
खेलो मुझे दीखना है, कि-जुएमें अवश्य ही विरोध होगा १०-११
और निग्रोंमें परस्पर विरोध होनेसे राज्यका नाश होनाता है इस

पुत्रस्य यद् कार्यं परं स्मृतम् ॥ १२ ॥ प्राप्तस्त्वपि तन्नाम पितृ-
पैतामहं पदम् । अधीतवान् कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे ॥ १३ ॥
भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम् । पृथग् जनै-
रलभ्यं यद्भोजनाज्जादनं परम् ॥ १४ ॥ तत् प्राप्तोऽसि महाबाहो
कस्माज्जोचति पुत्रकः । स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो तितृपैतामहं महत्
॥ १५ ॥ निस्पृहाज्ञापयन् भासि दिनि देवेश्वरो यथा । तस्य
ते विश्विमहः शोकमूलमिदं कथम् ॥ समुत्थितं दुःखकरं तन्मे
शंसितुमर्हसि १६ ॥ दुर्योधन उवाच । अरनाम्प्राज्जादयामीति
प्रपश्यन् पापपूरुषः । नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः
॥ १७ ॥ न मां भीष्मानि गजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो ।

शिवे जुआ खेत्तनेके उद्योगको बंद करदो, माता पिताका काम है
कि-पुत्रको हित अहित समझा दें इसीसे मैंने ऐसा कहा है १२
देखो तुमने पिता पितामहादिका प्रसिद्ध राज्यपद पाया है हमने
तुमको लिखा पढ़ाकर शास्त्रमें प्रवीण कर दिया, सदा घरमें लालन
पालन किया ॥ १३ ॥ और सब भाइयोंमें बड़ा होनेके कारण
राजसिंहासन पर बैठा दिया, ऐसा कौनसा उत्तम पदार्थ है जो
तुमको न मिलता हो ? जो उत्तम भोजन सब औरोंको मिलना
फटिन है हे महाबाहो ! वह तुमको मिलता है और हे वीर ! तुमने
यह पितृपितामहका बड़ा भारी सुन्दर राज्य पाया है हे भियपुत्र !
फिर तुम काहे को शोक करते हो ॥ १४ ॥ १५ ॥ निरन्तर आज्ञाएं
देतेहुए इन्द्रकी समान शोभा पाते हो और हम यह भी जानते हैं
कि-तुम बड़े बुद्धिमान हो फिर शोक करनेका क्या कारण होगया
जिससे कि-तुमको यह बड़ा दुःख होरहा है वह मुझसे कहो
॥ १६ ॥ दुर्योधनने कहा, कि-हे महाराज ! मैं खाता हूं, पहनता
हूं इतना ही देखकर जो सन्तुष्ट रहता है वह पापी कायर है और
जो पुरुष क्रोधशून्य होता है वह अधम है ॥ १७ ॥ हे महाराज !

ज्वलितामेव वीन्तेपे श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥ १८ ॥ सर्वाश्च
 पृथिवीं चैव युधिष्ठिरश्शानुगाम् । स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि
 दुःखादेतद् ब्रवीति ते ॥ १९ ॥ आवर्जिता इवाभान्ति नीपाश्चित्रक-
 कौकुराः कारस्कारा लोहजया युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २० ॥
 हिमवत्सागरानूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा । अन्तपाःसर्वे पद्म्युदस्ता
 युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २१ ॥ ज्येष्ठोऽपमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति
 विशाम्पते । युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥ २२ ॥
 उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घ्यहारिणाम् । नादृश्यत परः पारो
 नापरस्तत्र भारत ॥ २३ ॥ न मे हस्तः समभवद्वसु तत् प्रतिगृह्णतः ।
 अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य द्राह्मणं वसु ॥ २४ ॥ कर्ता विन्दु-
 सरोरत्नैर्मयेन स्फोटिकच्छदाम् । अपश्यन्नलिनीं पूर्णामुदकस्येव
 इस साधारण राजलक्ष्मीसे मेरा चित्त प्रसन्न नहीं होता कुन्ती-
 नन्दम युधिष्ठिरकी दिपती हुई राज्यलक्ष्मी और उनके वशीभूत
 हुई सकल पृथिवीको देखकर मेरी छाती फटी जाती है मैं बड़ा ही
 पापाणहृदय हूँ इसीसे इतना दुःख पढ़नेपर भी जीरहा हूँ और
 आपसे यह बातें कर रहा हूँ ॥ १८॥ १९ ॥ हे महाराज ! युधि-
 स्थिरके यहा नीप चित्रक कौकुर कारस्कर और लोहजंघ नामक
 राजे दोसोंकी समान नम्रताके साथ टहल करते थे ॥ २० ॥
 हिमालय, समुद्रके द्वीप और रत्नोंकी सकल खानोंके स्वामी जो राजे
 युधिष्ठिरके यहां पीछे से आवे थे उनको हटा दिया गया ॥ २१ ॥
 हे महागज ! युधिष्ठिरने मुझे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ जानकर सत्कारके
 साथ रत्नोंको इकट्ठा करनेपर रक्खा था ॥ २२ ॥ हे महाराज ! तदा
 महामूल्य श्रेष्ठ रत्नोंके इतने डेर लग गए थे कि—उनका ओर छोरे
 ही नहीं मालूम होता था ॥ २३ ॥ उस धनको लेते २ गेरा हाथ
 थंरुंगया तब मैंने जो जराएँ मिश्राम लिया इतने ही में भेटा
 धन लेकर खड़ेहुए राजाओंकी दूरतक भीड़ लग गई ॥ २४ ॥ हे
 महाराज ! मय दानवने विन्दुमरोवरके बहुतसे रत्नों से स्फटिक

भारत ॥ २५ ॥ बल्लभुत्कर्षति मयि माहसत् स वृकोदरः । शत्रो-
 र्धृद्विशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ॥ २६ ॥ तन् स्म यदि शक्तः
 स्यां पातयेऽहं वृकोदरम् । यदि कुर्यां सभारम्भं भीमं हन्तुं नरा-
 धिप ॥ २७ ॥ शिशुपाल इवास्माकं गतिः स्यान्नात्र संशयः ।
 सपत्नेनावहासो मे समां दहति भारत ॥ २८ ॥ पुनश्च तादृशीमेव
 वार्ष्णी, जलजशालिनीम् । मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नरा-
 धिप ॥ २९ ॥ तत्र मां माहसत्कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम् द्रौपदी
 च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ॥ ३० ॥ किलन्नवस्त्रस्य तु
 जले किङ्करा राजनोदिताः । ददुर्वीमांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं
 परं मम ॥ ३१ ॥ प्रलम्भञ्च शृणुष्वान्यद्दत्तो मे नराधिप । अद्वा-
 रेण विनिर्गच्छन् द्वारसंस्थानरूपिणा । अभिहत्स्य शिलां भूयो

की शिलाएं बिछाकर जो बावड़ी बनाई है उसको देखकर मैंने
 जलसे भरी हुई समझा ॥ २५ ॥ और जलके भ्रमसे उस स्फटिक
 के फर्शपर ही मैंने अपने बल्ल ऊपरको कर लिये तब भीमसेनने
 मुझ शत्रुकी सम्पदा देखकर भौचका और रत्नोंको पहिचाननेमें
 मूर्ख मानकर मेरा उपहास किया ॥ २६ ॥ यदि मेरा वश चलता
 तो मैं भीमसेनको तहाँ ही मार डालता हे महाराज ! यदि मैं उस
 समय भीमसेनके मारनेका उत्साह करता तो निःसन्देह मेरी भी
 शिशुपालकीसी दशा होती परन्तु हे महाराज ! वह शत्रुका हास्य
 करना मुझ भस्म कर रहा है ॥ २७ ॥ २८ ॥ हे महाराज ! फिर
 उसी आकारकी कमलोंसे शोभायमान बावड़ीको जलसे भरी होने
 पर भी स्फटिकका थल (फर्श) समझकर मैं उसके जलमें गिर
 पड़ा ॥ २९ ॥ मुझ उसमें गिरा हुआ देखकर कृष्ण अर्जुन और
 बहुतसी स्त्रियों सहित द्रौपदी यह सब जोरसे हँसने लगे, कि-
 जिससे मेरे मनको बड़ा दुःख हुआ ॥ ३० ॥ और सबसे अधिक
 दुःखकी बात यह है, कि-किंकरीने मेरे गीले वस्त्र देखकर युधिष्ठिर
 की आज्ञा पा दूमेरे वस्त्र लाकर दिये ॥ ३१ ॥ हे महाराज ! मेरा

ललाटेनास्मि विवृतः ॥ ३२ ॥ तत्र मां यमजौ दूरादालोक्या-
भिहतं तदा । बाहुभिः पङ्गिगृह्णातां शोचन्तौ सहितानुभौ ॥ ३३ ॥
उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव । इदं द्वारमितो गच्छ
राजन्निति पुन पुनः ॥ ३४ ॥ भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति
च । सम्बोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥ ३५ ॥
नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुताति मे । यानि दृष्टानि मे
तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥ ३६ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वाणि दुर्योधनसन्तापे पञ्चाशो-

ऽध्यायः ॥ ५० ॥

दुर्योधन उवाच । यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत ।

और जो तिरस्कार हुआ उसको भी कहता हूँ सुनो—एक स्थान
पर द्वार तो था नहीं परन्तु वह ऐसा बना था कि—द्वार मालूम होता
था, मैं जो उधरको निकलने लगा कि स्फटिकशिलाकी जैरसे
टक्कर लग गई, जिसके कारण मेरा ललाट घायल होगया ॥ ३२ ॥
उस समय नकुल और सहदेव मेरे टक्कर लगी देखकर दूरसे
भागते हुए आये और दोनोंने मुझको कौलियामें भरकर उठाते हुए
शोक प्रकाशित किया ॥ ३३ ॥ उस समय सहदेव मानो अचम्भे
में होकर मुझसे बार २ कहने लगा, कि—हे राजन् ! द्वार इधरवा
है इधर आइये ॥ ३४ ॥ उससमय भीमसेनने हँसते हुए मुझको पुकार
कर कहा, कि—अरे धृतराष्ट्रके पुत्र ! (अन्येके अन्ये) द्वार इधर
है ॥ ३५ ॥ इसके सिवाय हे राजन् ! पहिले कभी मैंने जिन
रत्नोंके नाम भी नहीं सुने थे वह मैंने पाण्डवोंके पास आँखोंसे
देखे इन ही सब कारणोंसे मैं बड़ा दुःखी हो रहा हूँ ॥ ३६ ॥
पञ्चाशत् अध्याय समाप्त ॥ ५० ॥ अ ॥ अ ॥

हे महाराज ! मैंने देखा, कि—अनेकों दिशाओंसे आये हुए
भूपालोंने राजा युधिष्ठिरको बहुतसी श्रेष्ठ वस्तुएँ भेटमें दीं, उनका

आहतं भूमिपालौहि वसुमुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥ नाविदं मूढमात्मानं
 दृष्ट्वाहं तदरेर्द्धनम् । फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ॥ २ ॥
 और्णान् पैलान् वार्षदेशान् जातरूपपरिष्कृतान् । मावाराजिन
 मुख्याश्च काम्योजः मददौ बहून् ॥ ३ ॥ अश्वास्तिक्षिरिकन्पापास्त्रि-
 शतं शुक्रनासिकान् । उप्रवामीस्त्रिशतम् पुष्टाः पीलुशर्षीगुदैः ॥ ४ ॥
 गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः । प्रीत्यर्थं ते महाराज
 धर्मराज्ञो महात्मनः ॥ ५ ॥ त्रिखर्ववलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥
 ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोपन्तः शतसंघशः ॥ ६ ॥ कमण्डलुनुपादाय
 जातरूपमयान् शुभान् । एवं बलि समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ।
 शतं दासीसरस्वाणां कार्पासिकनिवासिनाम् ॥ ७ ॥ श्यामास्तन्व्यो
 दीर्घकेश्यो हेमाभरणभूषिताः । शूद्रा विमोत्तमार्हाणि राङ्गुवार्य-
 जनानि च ॥ ८ ॥ बलिञ्च कृत्स्नमादाय मरुकच्छनिवासिनः ।
 उपनिन्युर्महाराज हयान् गान्धारदेशजान् ॥ ९ ॥ इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति

वृत्तांत सुनिये ॥ १ ॥ मैंने उस सभामें जो रत्नोंका समूह देखा है
 पहिले मैंने उनके नाम भी नहीं सुने थे, मैं तो शत्रुके उस धनको
 देखकर अपने आपेको ही भूल गया आप फल और भूमिको देखकर
 युधिष्ठिरके ऐश्वर्यका अनुमान करलें ॥ २ ॥ काम्योजराजने बहुत
 से ऊनी, समुद्री बिलानके रोमोंके और सिंहकी चर्मके छुनहरी
 कामके ओढ़ने और पिछानेके उत्तम वस्त्र दिये । ३ । सैंकड़ों सहस्रों
 गोसेवक ब्राह्मण और दास, महात्मा युधिष्ठिरकी मसन्नताके लिये
 पीलु, जएठ और इमली लाकर पुष्ट हुए विचित्र वर्णके तीन सौ
 ऊँट और घोड़ियें, बहुतसी भैंस, सोनेके कमण्डलु और कार्पासिक
 देशकी सैंकड़ों सहस्रों दासियें साथमें लाये थे परन्तु भीतर प्रवेश न
 कर सके बाहर ही खड़े रहे ॥ ४—७ ॥ श्यामा, कृशोदरी,
 दीर्घकेशी और सुवर्णके गहने पहरे हुए शूद्रोंकी स्त्रियें ब्राह्मणोंके
 योग्य रङ्ग मृगोंकी मृगबालाएँ और मरुकच्छके रहनेवाले लोग
 नानामकारकी भैंस और कंधार देशके घोड़ोंको लेकर उपस्थित थे

धान्यैर्ये च नदीमुखैः । समुद्रनिष्कृते जाताः पारंतिन्धु च मानवाः
 ॥ १० ॥ ते वैरापाः पारदाश्च आभीगः कितवैः सह । विविधं वलि-
 गादाय रत्नानि विविधानि च ॥ ११ ॥ अजाविकं गोहिरण्यं-
 खरोष्ट्रं फलजं मधु । कम्बलान् विविगांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वाग्मिताः
 ॥ १२ ॥ माग्ज्योतिपाधिपः शूरो म्लेच्छानामभिपो वली । यवनैः
 सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १३ ॥ आजामेयान् हयान्
 शीघ्रानादायानिलरंढसः । बलिं च कृत्स्नपादाय द्वारि तिष्ठति
 चारितः ॥ १४ ॥ अरमसारूपयं भाण्डं शुद्धदन्तरसरुनसीन् ।
 माग्ज्योतिपाधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽञ्जत्तदा ॥ १५ ॥ द्व्यन्तांस्तप-
 चान् ललाटात्तान्नानादिग्भ्यः समागतान् । औष्णीयानन्तवासांश्च

॥ ८-६ ॥ जो समुद्र के पारसे और समुद्र के पासके वनोंसे आये
 थे, जो कि — नदियोंकी सिंचाई वा वर्षाके जलभात्रसे उत्पन्न हुए
 अन्नसे निर्वाह करते हैं वह वैराप, पारद, आभीर और कितव जाति
 के पुरुष अनेकों प्रकारकी भेंट, बहुत प्रकारके रत्न, बकरे, भैंसे, गौ,
 सुवर्ण खचर, ऊँट, फलोंके आसव और नाना प्रकारके फंवल
 लेकर द्वार पर खड़े थे और उनको कोई भीतर नहीं घुसने देता
 था, ॥ १०-१२ ॥ म्लेच्छदेश का स्वामी, शूचीर, महारथी
 माग्ज्योतिप देशका राजा भगदत्त यवनोंको साथ लिये मल्लिख
 वंशमें उत्पन्न हुए शीघ्रगामी घोड़े और अनेकों प्रकारकी भेंट लिये
 हुए आये थे वह भीतर नहीं घुसने पाये तब घोड़ोंके लोहेके आभू-
 षण और निर्मल हाथी दांतकी सुन्दर मूठसे शोभायमान तलवारें
 देकर लौट गए ॥ १३-१४ ॥ कितने ही लोग अनेकों दिशा
 और देशोंसे आकर द्वार पर ही खड़े थे ॥ १५ ॥ उनमेंसे कितने
 ही दो नेत्रवाले, कितने ही तीन नेत्र वाले, कितने ही ललाटमें
 नेत्रवाले, कितने ही पगड़ी पहिरे और कितनों ही को सर्वपा नंगे
 शरीर देखा किन्हीके शरीर पर अधिक रोम थे, कोई नरमांस-

रोमकान् पुरुषादकान् ॥ १६ ॥ एकपादाश्च तत्राहमपश्यं द्वारि
 वारितान् । गजानो बलिपादाय नानावर्णमनेकशः ॥ १७ ॥
 कृष्णग्रीवान्महाकायान् रासभान् दूरपातिनः । आजहुर्दशसाहस्रान्
 विनीतान्दिक्षु विभ्रुतान् ॥ १८ ॥ प्रमाणरागसम्पन्नान् वक्तरीर-
 समुद्भवान् । वल्पर्य ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ॥ १९ ॥ दम्बा-
 मवेशां माप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने । इन्द्रगोपकवर्णाभान् शुक्रवर्णा-
 न्मनोजवान् ॥ २० ॥ तथैवेन्द्रायुधनिभान् सन्ध्याभ्रसदृशानपि ।
 अनेकवर्णानारण्यान् गृहीत्वा रवान् महाजवान् ॥ २१ ॥ जातरूप-
 मनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः । चीर्णान् शर्कास्तथैवोद्भूतान् वर्वरान्
 वनवासिनः ॥ २२ ॥ बाष्पण्यान् हारहूणान् कृष्णान् ह्रैमवतांस्तथा ।
 नीपान्पानधिगतान् विविधान् द्वारवारितान् ॥ २३ ॥ वल्पर्य-
 ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः । कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभान्
 भोजी धे ॥ १६ ॥ मैंने तहाँ एक चरण वालोंको भी देखा जिन
 को द्वारपरसे इटादिया, यह पुरुष नाना प्रकारकी अनेकों भेट लेकर
 आये थे ॥ १७ ॥ कोई काली गर्दनवाले महाशरीर, दूरका धावा
 करनेवाले सुन्दर आकार और रंगके, दिशाओंमें प्रसिद्ध बलु
 नदीके तटपर उत्पन्न हुए दश सहस्र स्वचर लेकर आये तथा
 उन्होंने बहुतसा सोना चांदी भी भेटमें दिया ॥ १८-१९ ॥
 इतनी भेट देकर वह युधिष्ठिरके यहाँ भीतर घुसने पाये, एकपाद
 वीरबहुष्टोकेमें लाल २ नेतेकेसे रंगके इन्द्रगुपती समान
 विचित्र वर्णके संध्यासमयके बादलोंके रंगके, ऐसे अनेकों
 वर्णके बड़े शोभापी वनोंमें विचरनेवाले घोड़ोंको लेकर आये
 ॥ २०-२१ ॥ उन्होंने बहुमूल्य सुवर्ण युधिष्ठिरको भेटमें दिया
 तथा उनके यहाँ भीतर घुसने पाये फिर चीन, शक्र, उद्देशी वन-
 वासी वर्वर, वृष्णिवंशी काले हारहूणदेशी, हिमालय, नीप
 और अनूप देशोंके बहुतसे राजे रोके जाने पर द्वार पर ही खड़े
 रहे ॥ २२ ॥ २३ ॥ वह राजा युधिष्ठिरके अर्थ भेट देनेके लिये

शतपातिनः॥२४॥अहापुर्दशताहस्तान् विनीतान् दिक्षु विधुतान् ।
 ममाणरागस्पर्शार्थं वाह्नीचीनसमुद्भवम् ॥२५॥ और्णव्यं राङ्गव-
 च्चैव कीटजं पट्टजं तथाः । कुट्टीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः
 ॥२६॥ श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् । निशिताश्चैव र-
 दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ॥ २७ ॥ अपरान्तसमुद्भूतास्तथैव
 परशून् शितान् । रसान् गन्धाश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः
 ॥ २८ ॥ वलिं च कृम्भमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
 शकास्तुखाराः कंकाश्च रोमस्तुः शृङ्गिणो नराः ॥२९॥ महागजान्
 दूरगमान् गणिनानवुर्दान् हयान् । शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं
 पद्मसन्मितम् ॥३०॥ वलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ।
 आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ॥ ३१॥ मणिफांचन-
 विभ्राणि गजदन्तमयानि च । कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विवि-

विचित्रवर्ण, काली गर्दन और बड़े शरीरवाले सौ कोसके धावे
 के दश सहस्र खच्चर लाये, जो सघाये हुए थे और दिशाओंमें
 प्रसिद्ध थे तथा बड़े लंबे चौड़े सुन्दर रंग और कोमल स्पर्शके
 वाह्नीक तथा चीमके बने वस्त्र भी लाये ॥ २४-२५ ॥ शक,
 तुखार, कंक, रोमस और सींग पहरनेवाले मनुष्य, ऊनी मृग-
 चर्मके, रेशमी, पाटके, कूट २ फर बनायेहुए सहस्रा गुच्छे लटक
 हुए और चिरुने बहुत से वस्त्र लाये, जिनमें सूती थे ही नहीं
 किंतु सब ऊनी और कोमल मृगरोमके बने थे, तीखी धारवाली
 पट्टी २ तलवारें, दुबारे खड्ग, शक्ति, फरसे, पथिमके फरसे अनेकों
 प्रकारके रस और सुगंधिकी वस्तुएँ और बहुतसे रत्न ऐसी पट्टी
 भारी भेंट लेकर आये परन्तु बड़े रोक देनेपर बाहर ही खड़े रहे
 ॥ २६-२८ ॥ कितने ही लोग दूरके धावेके अर्बुद हाथी सैकड़ों
 घोड़े और पत्तोंके मूल्याका बहुतसा सोना भेंटमें लेकर आये परन्तु
 रोकने जानेके कारण द्वारपर ही खड़े रहे, बहुमूल्य मणि और
 सुवर्णसे चित्रित हाथीदानके आसन सवारी और पलंग विचित्र

धानिः च ॥ ३२ ॥ रथांश्च विविधाकारान् जातरूपपरिष्कृतान् ।
हयैर्विनीतैः सम्पन्नान् वैयाघ्रपरिवारितान् ॥ ३३ ॥ विचित्रांश्च परि-
स्तोमान् रत्नानि विविधानि च । नाराचानर्द्धनाराचान् शस्त्राणि
विविधानि च ॥ ३४ ॥ एतद्वत्त्वा महद्द्रव्यं पूर्वदेशाधिपति नृपाः ।
मविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसन्ताप एकपञ्चाशो-
ऽध्यायः ॥ ५१ ॥

दुर्योधन उवाच । दायन्तु विविधं तस्मै शृणु मे मदतोऽनघ ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसञ्चयम् ॥ १ ॥ मेरुमन्दरयोर्मध्ये
शैलोदामभितो नदीम् । ये ते कीचकुर्येणूनां जायां रम्यामृपासते
॥ २ ॥ खसा एकासना ह्यर्हाः मदरा दीर्घवेणवः । पारदाश्च
कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥ तद्वै पिपीलिकं नाम सङ्कृतं
तत् पिपीलिकैः । जातरूपं द्रोणमयमहापुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥
कृष्णान् लतामिश्रमरान् शुक्लांश्चान्यान्शशिप्रभान् । हिमवत्

कवच अनेकों प्रकारके शस्त्र सुनहरीं कामके अनेकों आकारके रथ
जिनमें सिंहकी चर्म ओढे सुशिक्षित घोड़े जुते हुए थे और जिनपर
ढरुनेके वस्त्र बड़े ही विचित्र थे अनेकों प्रकारके रत्न तथा नाराच
अर्धनाराच आदि अनेकों प्रकारके शस्त्र इनका बहुतसा द्रव्य देकर
पूर्व देशाधिपति राजे महात्मा युधिष्ठिरके यज्ञमंडपमें घुसने पाये
॥ ३०-३५ ॥ एकपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५१ ॥

दुर्योधनने कहा कि हे महाराज ! राजाओंने युधिष्ठिरको यज्ञ के
लिये बहुतसा और अनेकों प्रकारका धन इच्छा करके दिया था,
जिसका मैं वर्णन करता हूँ सुनिये ॥ १ ॥ जो मेरु और मन्दरा-
चलके मध्यमें बहनेवाली शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर कीचक
घासोंकी सुन्दर छायामें रहते हैं ॥ २ ॥ जैसे कि-खस, एकासन
हर्ह, मदर, दीर्घवेणु पारद, पुलिन्द, तङ्गण और परतङ्गण ॥ ३ ॥
यह सब राजे पिपीलिकाओंके निकाले हुए पिपीलिक नामक द्रोण
द्रोण भर हीरे ले इकट्ठे होकर आये ॥ ४ ॥ वह काले रणगीय

पुष्पजं चैव स्वादु त्रीदं तथा बहु ॥ ५ ॥ उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्वा-
 व्यपोदं मान्यमम्युनिः । उत्तरादपि कैलासादोपधीः सुमहावलाः
 ॥ ६ ॥ पार्वतीया वलि चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः । अजात-
 शत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥ ये परार्द्धे हिमवतः
 सूर्योदयगिरौ नृपाः । कौरुपे च समुद्रान्ते लोहित्यमभितश्च ये ॥ ८ ॥
 फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः । क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च
 पश्याम्यहं ममो ॥ ९ ॥ चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान् कालीयकस्य
 च । चर्मरत्नसुवर्णानां गंधानां चैव राशयः ॥ १० ॥ कैरातकीना-
 मयुतं दासीनां च विशाम्पते । आहृत्य रमणीयार्पान् दूरजान्
 मृगपक्षिणः ॥ ११ ॥ निवृत्तं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम् । वलि च
 कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १२ ॥ कैराताः दरदा

चमर तथा चन्द्रकी समान कांतिवाले स्वेत चमर और हिमालयके
 पुष्पोंका परमस्वादु बहुतसा मधु (शहद) लाये ॥ ५ ॥ उत्तरकुरु
 देशोंसे इन्हें क्रिये हुए स्वादुमूल और मालाएं बनानेके रत्न तथा
 उत्तर कैलाससे मढ़ी बलदायरु औपधियें लाये ॥ ६ ॥ यह तथा
 और भी अनेकों प्रकारकी भेंट लेकर पहाड़ी लोग बड़ी विनयके
 साथ रोके हुए राजा युधिष्ठिरके द्वारपर खड़े थे ॥ ७ ॥ जो राजे
 हिमालयके उधरके अर्द्धभाग उदयाचल पर रहते थे वह कुरुपदेश
 के राजे, समुद्रके तटके राजे और जो ब्रह्मपुत्रनदके दोनों तटोंपर
 रहते थे वह ॥ ८ ॥ क्रूरकर्मा भयानक शस्त्रधारी, चर्म ओढ़नेवाले
 और फल मूल आकर ही निर्वाह करनेवाले ऐसे किरातोंको भी
 हे महाराज ! मैंने तहां देखा ॥ ९ ॥ जो चन्दन अगर और काली
 अगरके काठके बोझ मृगचर्म रत्न सुवर्ण और सुगंधित पदार्थों
 के ढेर लिये हुए यो १० दस सहस्र किरात जातिकी दासियें दूर
 के मृग पक्षी आदि रमणीय पदार्थ पर्वतों परसे इकट्ठा किया हुआ
 बड़ा दमकदार सुवर्ण इन सब पदार्थोंको लेकर भेंट देनेके लिये वह
 द्वारपर खड़े थे, उनको भीतर जानेसे रोक दिया गया था ११ ॥ १२ ॥

दर्वाः शूरा वैयमकास्तथा । औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः
 सह ॥ १३ ॥ काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरया हंसकायनाः ।
 शिविभिर्गर्तयौधेया राजन्या भद्रकेकयाः ॥ १४ ॥ अम्बुष्ठाः कौकुरा-
 स्ताचर्पा वज्रपाः पट्टवैः सह । वशा तलाश्च मौलेयाः सह लुद्रक-
 मालवैः ॥ १५ ॥ पौण्ड्रकाः कुक्कुराश्चैव शकाश्चैव विशाम्पते ।
 अङ्ग वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाण्वत्स्या गयास्तथा ॥ १६ ॥ सुजातयः
 श्रेणिमन्ता श्रंयांसः शस्त्रधारिणः । अट्यापुः क्षत्रिया वित्तं शतशो-
 ऽजातशस्त्रवै ॥ १७ ॥ वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः स-
 पुण्ड्रकाः । दौवालिकाः सागरकाः पञ्चोर्णाः शैशावास्तथा ॥ १८ ॥
 कर्णपावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत । तत्रस्था द्वारपालैस्ते मोक्षयन्ते
 राजशासनात् । कृतकालाः सुवलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥ १९ ॥
 ईशादन्तान् हेमकलान् पद्मवर्णान् कुपावृतान् । शैलाभान्नित्य-
 मर्त्ताध्याप्यभितः काम्यकं सरः ॥ २० ॥ दत्त्वैकैको दशशतान्

हे महाराज ! कैरात, दरद, दर्द, शूर वैयमक, औदुम्बर,
 दुर्विभाग, पारद, बाह्लीक, काश्मीर, कुमार, घोरक, हंसकायन,
 शिवी, विगर्त, यौधेय, भद्र, केकय, अम्बुष्ठ, कौकुर, ताचर्प, वज्रप,
 पट्टव, वश, तल, मौलेय, लुद्रक, मालव, पौण्ड्रक, कुक्कुर, शक,
 अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, शाण्वत्स्य और गया आदि कुलीन शस्त्रधारी,
 सैकड़ों क्षत्रिय श्रेणिबद्ध होकर राजा युधिष्ठिरके लिये धन लाये
 ॥ १२-१७ ॥ हे महाराज! वङ्ग, कलिङ्ग मगध, ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक,
 दौवालिक, सागरक, पञ्चोर्ण और कर्णपावरण आदि राजे तहां
 खड़े होकर प्रवेशके समयकी बात देखने लगे राजाकी आज्ञानुसार
 द्वारपालोंने उनसे कहा, कि—जब समय होनाय तब आप-द्वार
 पर आव ॥ १८ ॥ १९ ॥ उनमेंसे हरएकने सुशिक्षित, पर्वनाकार
 हलके अग्रभागकी समान दांतोंवाले, सुवर्णकी जेनीरोंसे लिचे,
 कमलके रंगकी भूखें ओढ़े, नित्य मतवाले रहनेवाले, कवचोंसे
 ढके काम्यक सरोवरके समीप अच्छी जातिमें उत्पन्न हुए क्षमाशील

कुञ्जरान् कवचाट्टनान् । क्षमावन्तः कुलीनान् च द्वारेण प्राविशंस्तथा ॥ २१ ॥ एते चान्ये च वश्वो गणा दिग्भ्यः समागताः । अन्यै-
थोपहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥ २२ ॥ राजा चित्ररथो
नाम गन्धर्वो वासवानुगः । शतानि चत्वार्य्यददद्धयानां वातरह-
साम् ॥ २३ ॥ तुम्युरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम् ।
ताम्रपत्रसवर्णानामाददद्धेमपालिनाम् ॥ २४ ॥ कृती राजा, च
कौरव्य शूकराणां विशाम्पने । अददद्ध गजरत्नानां शतानि सुवहू-
न्यथ ॥ २५ ॥ विराटेन तु मत्स्येन, वल्पर्यः हेमपालिनाम् ।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥ २६ ॥ पांशुराष्ट्राद्वसु-
धातो राजा षड्विंशतिं गजान् । अश्वानाञ्च सहस्रं द्वे राजन्
क्रांचनमालिनाम् ॥ २७ ॥ जवसत्त्वोपपन्नानां वपस्थानां नराधिप ।
यलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥ २८ ॥ यज्ञसेनेन
दासीनां सहस्राणि चतुर्दश । दासानामयुतं चैव सदारणां

एक-सौ हाथी दिये तब सभामण्डपके द्वारमें घुस सके ॥ २० ॥
॥ २१ ॥ यह तथा और भी बहुतसे राजाओंके समूह अनेकों
दिशाओंसे आये उन महात्माओंने भी इस यज्ञमें रत्न अर्पण करे
॥ २२ ॥ इन्द्रके साथ रहने वाले गन्धर्वराज चित्ररथने पवनभी
समान वेगवाले चार सौ घोड़े दिये ॥ २३ ॥ तुम्युरु गन्धर्वने प्रसन्न
होकर तांके पत्रोंकी समान कान्तिवाले सुवर्णकी मालाएं पहिरे
सौ घोड़े दिये ॥ २४ ॥ हे कुरुवंशी महाराज ! विद्वान् शूकरराज
ने एक सौ श्रेष्ठ हाथी दिये तथा और भी बहुतसे रत्न दिये
॥ २५ ॥ मत्स्य देशके राजा विराटने भेंटमें सुवर्णकी मालाएं पहिरे
दो सहस्र मत्त मातङ्ग दिये ॥ २६ ॥ हे राजन् ! पांशुदेशके राजा
वसुदानने द्रव्योस हाथी और सुवर्णकी मालाएं पहिरे वली और
शीघ्रगाभी नई अवस्थाके दो सहस्र घोड़े तथा और भी बहुतसा
धन लाकर युधिष्ठिरको भेंट दी ॥ २७ ॥ ॥ २८ ॥ राजा यज्ञसेन
ने चादह सहस्र दासियें सपत्नीक दश सहस्र दास, जिनमें

विशाम्पते । गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ॥ २६ ॥
 राज्यं च कृत्स्नं पार्थस्यो यथार्थं वै निवेदितम् । वासुदेवोऽपि
 चाण्डोऽप्यो मानं कुर्वन् किरीटिनः ॥ २७ ॥ अद्ददगजमुखानां सह-
 स्राणि चतुर्दश। आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः ॥ २८ ॥
 यद् वृंषादजुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम् । कृष्णो धनंजयस्यार्थं
 स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ॥ २९ ॥ तथैव पार्थ कृष्णार्थं प्राणानपि
 परित्यजेत् । सुरभीश्चन्दनरसान् हेमकुम्भसमास्थितान् ॥ ३० ॥
 मलयान् ददुराचैव चन्दनागुरुसञ्चनान् । पण्डितानि भास्वन्ति
 कांचनं मूढमवस्रकम् ॥ ३१ ॥ चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लोभाते ह-
 पस्थिता । समुद्रमारं वेद्यं मुक्तासंघास्तथैव च ॥ ३२ ॥ शतशश्च
 कुधास्तत्र सिंहलाः समुद्रादहन् । संवृता मणिचीरस्तु श्यामास्ता-
 म्रातलोगनाः ॥ ३३ ॥ ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिता ।

हाथी जोते जाते हैं ऐसे छब्बीस रथ और कुछ अपना राज्य
 भी पाण्डवों को अर्पण कर दिया, वृष्णिवंशी वासुदेवने भी
 अर्जुनका मान रखनेके लिये चौदह सहस्र श्रेष्ठ हाथी दिये, इसमें
 कोई सन्देह नहीं है, कि—कृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन
 कृष्णकी आत्मा है ॥ २९—३२ ॥ अर्जुन कृष्णसे जिस कामके
 करनेको कहता है, कृष्ण वही काम करते हैं अधिक क्या कहूँ वह
 अर्जुनके लिये स्वर्गलोकको भी त्यागसकते हैं ॥ ३३ ॥ इसीप्रकार
 अर्जुन भी कृष्णके निमित्त अपने प्राण तक त्याग सकता है, सुवर्ण
 के कलशोंमें भरेहुए सुगंधित चन्दनके रस, मलयाचल और ददुरा-
 चलसे इन्हेंकियेहुए चन्दन और अगर चमरुदार मणि और रत्न
 सूक्ष्म सुनहरी वस्त्र लेकर चोल और पाण्ड्य देशके राजे आये
 किन्तु द्वारतक भी नहीं पहुँचसके, सिंहल देशके क्षत्रियोंने समुद्रके
 सारभूत वेद्यमणि और मोतियोंके गुच्छे संकड़ों बिछीने तथा
 मणिजटित आभूषण पहिरे सुनहरी चीर ओढ़े सुनननी नयनोंवा
 दासियों लाकर भेंट कीं ॥ ३३—३६ ॥ बहुसे लोग ऐसी भेंट

भीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ॥ ३७ ॥ उपाजहन्-
 निंशाश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा । भीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छ-
 न्युधिष्ठिरम् ॥ ३८ ॥ सर्वम्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यातजा-
 स्तथा । नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ॥ ३९ ॥ पर्यस्त इव
 लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने । उच्चावचानुपग्राहान् राजभिः प्रापि-
 तान्यहन् ॥ ४० ॥ शत्रूणां परपतो दुत्वान्मुमूर्षा मे व्यजापत ।
 भृत्पास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ॥ ४१ ॥ येषामामश्च
 पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिर । अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः
 सप्तादिनाः ॥ ४२ ॥ रथानामर्बुदं चापि पादाता ग्रहवस्तथा ।
 मपीयमाणमयं च पच्यमानं तथैव च ॥ ४३ ॥ विस्तृज्यमानं
 चान्यत्र पुण्यपादस्वन एव च । नाभुक्तवन्तं नापीतं नालंकृत-

लेकर बाहर द्वार पर ही खड़े रहे, किसीने भीतर नहीं जाने दिया,
 युधिष्ठिरको मसन्न करनेके लिये ब्राह्मण, जीतेहुए क्षत्रिय, वैश्य
 तथा सेवा करनेवाले शूद्र भीति और बड़े सम्मानके साथ राजा
 युधिष्ठिरके पास पहुंचे और भेंटें अर्पण करीं ॥ ३७-३८ ॥ म्लेच्छों
 को सब जातियों और अनेकों देशोंके तथा अनेकों जातियोंके
 उत्तम, अधम तथा मध्यम श्रेणीके लोग जो इकट्ठे हुए थे उनको
 देखकर ऐसा प्रतीत होता था, कि-मानों पृथिवीका सकल मनुष्य-
 मण्डल युधिष्ठिरके यहाँ ही इकट्ठा हो गया है, हे महाराज! राजाओं
 की दी हुई नाना प्रकारकी भेंटें और शत्रुओंके पेशवर्यको देव
 कर मुक्त तो मूर्खासी आगई, हे राजेन्द्र ! अब, पाण्डवोंके जो
 सेवक थे उनका वर्णन आपसे करता हूँ ॥ ३९-४१ ॥ राजा
 युधिष्ठिर जिनको कच्चा और पका हुआ अन्न देकर भरण पोषण
 करते हैं, उनमें एक अयुत तीन पद्म हाथी और घोड़ोंके सवार,
 एक अर्बुद रथ और अनगिनती पैदल हैं, कहीं भोजनकी समग्री
 तुलती है, कहीं रसोई पकाई जाती है ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ दूसरे स्थान
 पर भोजन वाटाजाता है और कहीं स्वस्तिवाचनके लिये नियुक्त

मसत्कृतम् ॥ ४३ ॥ अत्रयं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने ।
 अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥ ४५ ॥ त्रिंशद्दासीक
 एकैको पान्त्रिभर्ति युधिष्ठिरः । सुभीताः परितुष्टाश्च ते ह्यशंसन्त्य-
 रिक्तयम् ॥ ४६ ॥ दशान्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतमाम् । भुंजते
 कन्यपानीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ४७ ॥ अभुक्तं भुक्तवद्वापि सर्वमा-
 कुञ्जवाननम् । अभुञ्जाना चाप्तसेनी प्रस्पृष्टदिशापते ॥ ४८ ॥
 द्वौ करो न मयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत । सर्वांन्धिकेन पाचालाः
 सख्येनांश्च वृष्णयः ॥ ४९ ॥ इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूत-
 पर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

दुर्योधन उवाच । आर्यास्तु ये वै राजानः सख्यसंधा महाप्रताः ।

किये ब्राह्मण पुण्य दवाचनके मन्त्र पढ़ते हैं, युधिष्ठिरके यहां सब
 वर्णोंमें बिना भोजन किया, गियासा बिना भूषण पहिरे और
 सत्कारहीन पुरुष कोई दीखता ही नहीं था, उनके यहां अष्टासी
 सहस्र गृहमेधी स्नातक रहते हैं, उनकी सेवाके लिये हर एकके पास
 बीस २ दासी नियुक्त हैं, युधिष्ठिर उन सरका दी भरण पोषण
 करते हैं, और वह भी परमपसन्न और सन्तुष्ट होकर युधिष्ठिरके
 शत्रुनाशकी कामना करते हैं ॥ ४४-४६ ॥ युधिष्ठिरके यहां और
 भी आजन्म ब्रह्मचर्यसे रहनेवाले दश सहस्र यति सुवर्णके पाशों
 में भोजन करते हैं ॥ ४७ ॥ हे महाराज ! द्रौपदी प्रतिदिन बिना
 भोजन किये पहिले कुवहरे बाने आदिने भोजन कर लिया या नहीं
 इस बातको स्वयं जाकर देख लीं हैं, जब सब भोजनसे नियत
 जाते हैं तब भोजन करती है ॥ ४८ ॥ हे महाराज ! पाचालोंके
 साथ संबन्ध है और अन्वक्र वृष्णिवंशी युद्धादिमें सहायक होते
 हैं अतः केवल यह दो ही कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको कर नहीं देते
 हैं शेष सब राजे उनको कर देते हैं ॥ ४९ ॥ द्विपञ्चाश अध्याय
 समाप्त ॥ ५२ ॥ छ . ॥ छ . ॥ छ . ॥ छ . ॥

दुर्योधनने कहा, कि--सख्यमतिज्ञ, महाप्रवी, पूर्ण विद्वान्.

पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदांतावभृयप्लुताः ॥ १ ॥ धृतिमंतो हीनिपेवा
धर्मात्मानो यशस्विनः । मूर्खाभिपिक्तास्ते चैनं राजान । पथुपासते
दक्षिणार्थं सपानीता राजभिः कास्यद्रोहनाः । आरण्या बहुसाहस्रा
अपर्यन्तस्तत्र तत्र गाः ॥ ३ ॥ आंजहुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत ।
अभिपेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चावचं नृपाः ॥ ४ ॥ बाह्यो रथमा-
हार्पाज्जांयूनदविभूषितम् । सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतैः काम्यो-
जजैर्हयैः ॥ ५ ॥ सुनीयः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्ष महाबलः । ध्वजं
चेदिपथिश्चैव महाप्रांस्त्रयमुच्छ्राम् ॥ ६ ॥ दक्षिणात्यः सन्महानं
स्रगुण्योपे च मागधः । वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं पट्टि-
हायनम् ॥ ७ ॥ मत्स्थस्त्वत्तान्हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ । आचंत्प-
स्त्वभिपेकार्थमापो बहुविधास्तथा ॥ ८ ॥ चेकितान उपा-

वक्ता, वेदाध्ययनके अन्तमें अवभृथ स्नान करनेवाले धैर्यशरीर,
असत्कर्मसे लज्जा करनेवाले, धर्मात्मा, यशस्वी और परम मान्य
जो राजे हैं वह भी युधिष्ठिरकी उपासना करते हैं ॥ १-२ ॥
कोई २ राजे दक्षिणार्थ देनेके लिये कांसीके दुहनेके पात्रों सहित
अनेकों सहस्र वनगी गौएँ लाये थे, गिनको मैंने जहाँ तहाँ
खड़ी देला ॥ ३ ॥ कितने ही राजे अभिपेक्षके लिये छोटे
बड़े २ माडलिक कलश बड़ी प्रसन्नता और सत्कारके
साथ स्वयं उठाकर लाये ॥ ४ ॥ राजा बाह्यो सुनहरी
कामसे शोभित रथ लाया, राजा सुदक्षिणने कांबोज देश
के स्वेन घोड़े लाकर जोड़ दिये ॥ ५ ॥ महाबली सुनीथ बड़ी
प्रीतिके साथ वागहोरें लाया, चेदिराज शिशुपाल स्वयं ध्वजा
उठाकर लाया ॥ ६ ॥ दक्षिण देशका राजा कवच, मागधदेशका
राजा माला और पगड़ी, धनुर्वासी राजा वसुदान सोठ वर्षका
हाथी ॥ ७ ॥ मत्स्थराज सुनहरी पाशे, एकलव्य उपानह और
अवन्ति देशका राजा अभिपेक्षके लिये अनेकों चापोंके गल लाप
शान्य सुन्दर मृदकी तलवार और सुवर्णसे भूषित कमरकी पेटी

संगं धनुः कारय उवाहरत् । असिं च सुतसरुं शल्यः शैव्यं कांचन-
भूषणम् ॥ ९ ॥ अभ्यर्पित्ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहात्मा ।
नारदश्च पुरस्कृत्य देवत्वश्चासितं मुनिम् ॥ १० ॥ प्रीतिमन्त उपा-
तिष्ठन्नभिपेक्षं महर्षयः । जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगाः
॥ ११ ॥ अभिभृगुर्गृहात्पानो मन्त्रवद्भूरिदक्षिणम् । महेन्द्रमिव देवेन्द्रं
दिविसप्तर्षयो यथा । अचारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यधिक्रमः ।
धनंजयश्च विजने भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ १२ ॥ चापरे चापि शुद्धे
द्वेषो जगृहतुस्तथा । उपागृह्णाद्यग्निद्वयाय पुराकल्पे प्रजापतिः
॥ १३ ॥ तस्मै शंखमाहार्पाद्धारुणं कलशोदधि । शैव्यं निष्कसहस्रेण
सुकृतं विश्वकर्मेणा । तेनाभिषिक्तः कृष्णेन तत्र ये कर्मलोऽभवत्
१४ गच्छन्ति पूर्वोदपरं समुद्रश्चापि दक्षिणम् । उत्तरन्तु न गच्छन्ति

लाया चेकितान तरुण, और काशीका राजा धनुष लाया
॥ ९ ॥ तब धौम्य और परमतपस्वी व्यासजीने नारद, असित
और देवत्वमुनिको साथ लेकर युधिष्ठिरके अभिषेकका आरंभ
किया ॥ १० ॥ तथा और भी बहुतसे वेदपारगापी महर्षि परशु-
रामको साथ लेकर बड़ी प्रसन्नताके साथ उस अभिषेकमें उप-
स्थित हुए ॥ ११ ॥ जैसे स्वर्गमें सप्तर्षि देवराज इन्द्रके पास
आते हैं वैसे ही उस यज्ञमें बड़ीभारी दक्षिणा देनेवाले राजा
युधिष्ठिरके पास अनेकों महात्मा आये ॥ १२ ॥ सत्यपराक्रमी
सात्यकिने युधिष्ठिरके ऊपर छत्र लगाया, अर्जुन और भीमसेन
ने व्यजन लिये ॥ १३ ॥ नकुल और सहदेव दो दिव्य चमर लिये
हुत्ता रहे ये सत्ययुगमें प्रजापति ब्रह्माजीने स्वर्गपति इन्द्रको जो
शंख दिया था वही वरुण देवताका कलशोदधि शंख और विश्व-
कर्माका बनाया हुआ बहुमूल्य लोहा श्रीकृष्णने युधिष्ठिरको
दिया, और उसीसे अभिषेक कर दिया, यह देखकर मेरे चित्तमें
बड़ा ही दुःख हुआ ॥ १४ ॥ १५ ॥ लोग पूर्व, पश्चिम और दक्षिण
समुद्रको गाते हैं परन्तु उत्तरके समुद्र पर पत्थियोंके सिवाय कोई

विना तात पतत्रिभिः ॥ १६ ॥ तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान्
मङ्गलकारकारन् । प्राणदन्त-समाध्यातास्ततो रोमाणि रमेऽहपन्
॥ १७ ॥ प्रापतन् भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा । धृष्टद्युम्नः
पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ॥ १८ ॥ सत्त्वस्था वीर्यसम्पन्ना-
हन्वोऽन्यमिददर्शन । विसंज्ञान् भूमिपान्दृष्ट्वा मां च ते प्रादुर्लभस्तदा
॥ १९ ॥ ततो महर्षो धीमत्सुः प्रादाद्धेमविपाणिनाम् । शतान्य-
नहुहां पञ्च द्विजगुह्येषु भारत ॥ २० ॥ न रन्तिदेवो नाभागो यौव-
नारवो मनुर्न च । न च राजा पृथुर्वेन्यो न चाप्यासीद्भगीरथः २१
ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः ययातिमात्रं धैतेयः
श्रिया परमया युतः ॥ २२ ॥ राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव मनुः ।
एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थ हरिश्चन्द्रे यथा विभो ॥ २३ ॥ कथन्तु जीवितं
श्रेयो मम परयसि भारत । श्रंधेनेव पुणं नन्दं विपर्यस्तं नराधिप ।

नहीं जाता ॥ १६ ॥ तहाँसे शंख बँगाये थे वह मांगलिक शङ्ख
बारम्बार धजने लगे, उन शङ्खोंके नादको सुनकर मेरे शरीर पर
रोम खड़े होगये ॥ १७ ॥ उस शंखध्वनिको सुननेसे जिन राजाओं
का तेज क्षीण हुआ वह भूमिपर गिर पड़े यह देखकर बली
वीर परस्पर प्रेमभाव रखनेवाले धृष्टद्युम्न, पाण्डव, सात्यकि और
आठवें कुण्डे तहाँ आये तथा उन सब राजाओंको और मुझ
मूर्खित देखकर हँसने लगे ॥ १८ ॥ १९ ॥ हे महाराज ! तदनन्तर गौरव
भरे आकारवाले अर्जुनने सोनेसे सींग मढ़े पाँचसौ बैल ब्राह्मणों
को दान करके दिये ॥ २० ॥ उस समय कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी
जैसी राजलक्ष्मी थी तैसी राजलक्ष्मी रन्तिदेव, नाभाग यौवनारव
मनु, पृथु भगीरथ, ययाति और नहुष इनमें से किसी राजाकी भी
नहीं थी ॥ २१ ॥ २२ ॥ राजसूय यज्ञमें दीक्षित होकर युधिष्ठिर
का प्रभाव आजकल बहुत ही बढ़ रहा है, हे महाराज ! युधिष्ठिर
की ऐसी हरिश्चन्द्रकीसी शोभाको देखकर क्या मुझें कुछ मिल
सकता है ? इसीसे आप मेरी यह दशा देख रहे हैं, हे महाराज !
ब्रह्माने यह द्वापरयुग श्रंधे होकर बनाया है इसी से सलटी दशा

कनीपांसो विवर्द्धते ज्येष्ठा हीयंत एव च ॥२४॥ एवं दृष्ट्वा नाभि-
विन्दामि शर्म समीक्षमाणोऽपि कुरुवीर । तेनाहमेवं कृशतां गतश्च
विवर्णतां चैव सशोकर्ता च ॥ २५ ॥

इति सभापर्वणि धृतपर्वणि दुर्योधनसन्तापे

त्रिपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच । त्वं नै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान्
द्विषः । द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निषनं तथा ॥ १ ॥ अश्वत्थमं
समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम् । अद्रिपन्तं कथं द्विष्यास्वादृशो
भरतर्षभ ॥ २ ॥ तुलयाभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः भियं वृष । पुत्र
कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य मा शुचः ॥ ३ ॥ अथ यज्ञविभूतिं
तां कौत्ससे भरतर्षभ । अश्वत्थस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम्

होरही है बड़ोंकी हीन दशा होती है और छोटे खन्नति कर रहे हैं
॥ २३ ॥ २४॥ हे कुरुवीर ! ऐसा देख सुनकर मेरा चित्त दुःखता
है इसी कारण मैं दिन प्रतिदिन दुबला होकर पीला पड़ता चला
जाता हूँ और प्रतिक्षण शोकमें डूब रहा हूँ ॥ २५ ॥ त्रिपञ्चाश
अध्याय समाप्त ॥ ५३ ॥ छ ॥ छ ॥

यह सुनकर धृतराष्ट्रने कहा कि—हे पुत्र ! तुम मेरी बड़ी रानी
के गर्भसे उत्पन्न हुए और सबसे बड़े पुत्र हो हे बेटा ! तुमको
पाण्डवोंसे द्वेष नहीं करना चाहिये क्योंकि-द्वेष करने वालोंको सुख
नहीं मिलता और हरसमय दुःखमें रहना मरणकी समान है ॥ १ ॥
हे बेटा ! भरतकुलमें उत्पन्न हुए तुमसे योग्य पुरुषको, निष्कपट
समानधनी, और द्वेष न रखने वाले युधिष्ठिरके साथ वैरभाव नहीं
करना चाहिये, तेरे पास भी मित्रादिका बल कम नहीं है ॥ २ ॥
हे पुत्र ! संबंधियोंका बल और वीरता तुम्हारी जनकी एकसमान
है, वह भी तुम्हारे भ्राता ही हैं, उनकी सम्पदा लेनेकी इच्छा करना
तुम्हारी मूर्खता है, इसलिये हे पुत्र ! शांति प्रारण करो, ऐसा
शोक मत करो ॥ ३ ॥ और हे बेटा ! यदि तुम युधिष्ठिरके यज्ञके

॥ ४ ॥ आदरिष्यन्ति राजानस्तत्रापि विपुलं धनम् । प्रीत्या च
 बहुमानाश्च रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥ अनाद्यर्चयितुं तात
 परस्वद्वरणं भूषणम् । सुसन्तुष्टः स्वधर्मस्यो यः स वै सुखमेधते ॥ ६ ॥
 अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु । रक्षणं समुपात्ताना-
 मेतद्वै भवत्क्षणम् ॥ ७ ॥ निषिद्धिष्वप्यथो दत्तो नित्यमुत्थानवान्नरः ।
 अमभक्तो विमोतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति ॥ ८ ॥ बाहूनिवैतान्मा
 त्तेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते । आतृणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा
 कुरु ॥ ९ ॥ पांडोः सुतान्मा द्विपस्वैह राजंस्तथैव ते आतृधनं सम-
 ग्रम् । मित्रद्रोहे तात महानधर्मः पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम्
 ॥ १० ॥ अन्तर्वेद्यां ददद्विक्तं कामाननुभवन् म्रियान् । क्रीडन्

सा ऐश्वर्य चाहते हो तो अभी याज्ञिक सप्ततन्तु यज्ञका आरम्भ
 कर दें ॥ ४ ॥ उस यज्ञमें तुम्हारे लिपे भी सब राजे प्रेम और
 सन्मानके साथ बहुतसा धन लाकर अर्पण करेंगे ॥ ५ ॥ हे पुत्र! बला-
 त्कार से दूसरोंका धन छीन लेना दुष्ट पुरुषोंका काम है, जो संतोष
 के साथ अपने धर्म पर दृढ़ रहता है वही सुख पाता है इसमें कुछ
 सन्देह नहीं है ॥ ६ ॥ पराये धनको लेनेका उद्योग न करना अपने
 कामोंमें सदा उद्योग करना और अपने पैसा किये हुए धनकी देख
 भाल रखना पण्डित पुरुष इसको ही वैभव कहते हैं ॥ ७ ॥ विष-
 क्षियोंमें व्याकुल न हो, सब बातोंमें प्रवीण हो और नित्य उन्नति
 का उद्योग करता हो ऐसा सावधानीसे रहनेवाला नञ्च पुरुष ही
 अनेकों प्रकारके भद्रल देखता है ॥ ८ ॥ हे बेटा ! यह पांडुके पुत्र
 तेरी भुजाओंकी समान हैं इनको मत काट, देख यह तेरे भाई हैं
 इनका धन छीननेके लिये मित्रद्रोह करना बड़ा ही अन्याय है ॥ ९ ॥
 हे बेटा ! इस समय पांडवोंके साथ वैराग्य न दिखा और इनका
 सम्पूर्ण धन लेनेकी इच्छाको छोड़ दे हे बेटा ! मित्रद्रोहमें बड़ा
 अधर्म है जब तुम्हारे और पाण्डवोंके पितामह एक थे तब तुममें
 उनमें अन्तर ही क्या है ॥ १० ॥ अतएव अब यज्ञमण्डपमें बैठ

स्त्रीभिर्निरातङ्गः प्रशाम्य भरतर्षभ ॥ ११ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि धूतपर्वणि दुर्योधनसन्तापे

चतुःपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५४ ॥

दुर्योधन उवाच । यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलन्तु बहुश्रुतः ।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वीं सूपरसानिय ॥ १ ॥ जानन् वै मोह-
यसि मां नाधि नौरिच संयता । स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेष्टि
मां भवान् ॥ २ ॥ न मन्तीमे धार्तराष्ट्रा येपां त्वमनुशासिता ।
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः ॥ ३ ॥ परनेपोऽग्रणीर्यस्य
स मार्गान् प्रतिमुह्यति । पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः
॥ ४ ॥ राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः । प्रतिपन्नान्स्व-

कर धनका दान कर, अनेकों मकारके इच्छित पदार्थोंको भोग और
हे बेटा ! नि शङ्कभावसे अपनी रानियोंके साथ बिहार करता हुआ
शान्तिके साथ समयको बिता ॥ १ ॥ चतुःपञ्चाश अध्याय समाप्त

यह सुनकर दुर्योधनने कहा, कि—जैसे दर्वी (चमचा, डोई)
शाक दाल आदिके स्वादको नहीं जान सकती तैसे ही जिसको
अपनी विचारशक्ति नहीं है वह बहुतसे ग्रन्थ पढ़लेने पर भी शास्त्र
के मर्मको नहीं पासकता ॥ १ ॥ यदी नौकामें बँधी हुई छोटी
नौकाकी समान आप जान यूँकर मुझ मोहमें क्यों डालते हैं
या तो आप स्वार्थको साधनेमें असावधान हैं, या आप इस विषय
में मुझसे द्वेष करते हैं ॥ २ ॥ जब आप ऐसा शासन करते
हैं तब हम भाइयोंका जीवन तो न होनेकी समान है, हर समय
होनेहारके गीत गानेके अतिरिक्त मानो आपको और कुछ काम
ही नहीं है ॥ ३ ॥ जिनका मुखिया दूसरोंकी संगतिसे कार्य करता है
आप कुछ जानता ही नहीं और पगर परमार्ग भूल जाता है, फिर
उसके पीछे २ चलने वाले अपने स्थानपर कैसे पहुँच सकते हैं
॥ ४ ॥ हे महाराज ! आपका अनुभव तो पकगया है और आपने
जितेन्द्रिय रहकर वृद्धोंकी सेवा भी की है, फिर आप हमारे कार्य-

कार्येषु संमोहयसि नो भृशम् ॥ ५ ॥ लोकवृत्ताद्राजवृत्तमन्यदाह
 वृहस्पतिः । तस्माद्राज्ञापमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ ६ ॥
 क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता । स वै धर्मस्त्वधर्मो वा
 स्ववृत्तो का परीक्षणा ॥ ७ ॥ प्रकालयेद्विशः सर्वाः पतोदेनेष सारथिः ।
 प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥ प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा
 योगो योऽरिं प्रधापते । तद् शस्त्रं शस्त्रविदान शस्त्रं छेदनं स्मृतम्
 ॥ ९ ॥ शत्रुश्चैव हि मित्रश्च न लेख्यं न च मात्रिकः । यो वै सन्ताप-
 यति यं स शत्रुः मोक्ष्यते नृप ॥ १० ॥ असन्तोषः भियो मूलं
 तस्मात्तं कामयाम्यहम् । समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः
 ॥ ११ ॥ ममस्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्य्यं वा यनेऽपि वा । पूर्वावाप्तं
 साधनमेवाथा क्यो डालते है ॥ १२ ॥ बृहस्पतिजीने राजाओंके व्यव-
 हारके लोकोंके व्यवहारसे सर्वथा भिन्न ही कथा है, इसकारण
 राजाको सदा सावधानीके साथ अपने प्रयोजनको सिद्ध
 करनेका ध्यान रखना चाहिये ॥ ६ ॥ हे महाराज ! विजय
 करना ही क्षत्रियोंका प्रधान कर्तव्य है फिर अपने कर्तव्य
 में इस बातकी क्या शङ्का कि—यह धर्म है, या अधर्म है ॥ ७ ॥
 हे पिता जी ! जैसे सारथी कोड़ा मारकर घोड़ोंको सब
 दिशाओंमेंको चलाता है तैसे ही विजय चाहने वाले पुरुष
 को दूसरोंकी संपत्ति लेनेकी इच्छा से सब ओरको घेड़ाई करनी
 चाहिये ॥ ८ ॥ जिस शत्रु वा प्रकट उपायसे शत्रुओंको दबाया
 जा सके वह उपाय ही शस्त्रधारियोंका शस्त्र है केवल मारकाट करने
 वाले पदार्थका नाम ही शस्त्र नहीं है ॥ ९ ॥ कौन शत्रु है और कौन
 मित्र है इनका कोई लेखन नहीं लिखा जासकता और उसकी
 नाप तोल भी नहीं की जासकती किन्तु जो जिसको दुःख देता है
 वही उसका शत्रु है ॥ १० ॥ असंतोष ही राज्योन्नतिको मुख्य
 कारण है इसी कारण मैं असंतोषसे भय करता हूँ चन्नति और
 सम्पत्ति होनेपर भी यत्न करेजाना यह ही परमनीति है ॥ ११ ॥

हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १२ ॥ अद्रोहसमयं कृत्वा
 विच्छेद नमुचेः शिरः । शक्रः साधिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सना-
 तनी ॥ १३ ॥ द्रावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो विलशयानिव । राजान-
 ऋचाविरोद्धारं ब्राह्मणश्चाप्रवासिनम् ॥ १४ ॥ नास्ति वै जातिता ।
 शत्रुः पुरुषस्य भिषाम्पते । येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः
 ॥ १५ ॥ शत्रुपक्षं समृध्यन्तं वो मोहात् समुपेक्षते । व्याधिराप्या-
 पित इव तस्य मूलं क्षिप्तं सः ॥ १६ ॥ अन्वोऽपि क्षरिरध्वर्य-
 वर्द्धमानः पराक्रमैः । वामीको मूलज्ञ इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात्
 ॥ १७ ॥ आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा तै रोचिष्ट भारत । एष भारः

ऐश्वर्य या धनमें कमी ममता न करै क्योंकि—पहिले इकट्ठे किये
 हुए धनको दूसरे बलात्कारसे छीन लेते हैं और बलात्कारसे छीन
 लेना ही राजाओंका धर्म है ॥ १२ ॥ मैं कभी भी अपकार
 नहीं करूँगा ऐसा स्वीकार करके इन्द्रने नमुचिका शिर काटलिया
 था वास्तवमें शत्रुके साथ सनातनकी रीतिका बर्त्ताव करना ही
 उनको अभीष्ट था ॥ १३ ॥ जैसे सर्प विलम्बके जन्तुओंको खाजाता
 है तैसे ही यह भूमि संग्राम न करने वाले राजाको और परदेशमें
 न जानेवाले ब्राह्मणोंको ग्रसलेती है ॥ १४ ॥ कोई किसीका जन्मसे
 शत्रु नहीं होता है जिन दोका एकसा व्यवहार होता है उनमें ही
 परस्पर शत्रुता होजाती है दूसरोंसे नहीं होती ॥ १५ ॥ जो ममाद
 में पड़ा हुआ वन्नति करते हुए शत्रुकी ओरसे उदासीन रहता है
 यह शत्रु बढ़तेहुए रोगकी समान उसकी जड़को काटदेता है ॥ १६ ॥
 वृक्षकी जड़में लगीहुई दीमक जैसे अपने आश्रय वृक्षको गिरादेती
 है तैसे ही साधारणसा भी शत्रु बल वीर्यके बढ़जाने पर वहाँ १
 का संहार कर डालता है ॥ १७ ॥ हे आजमीढ वंशके भूषण !
 आप शत्रुकी राज्यलक्ष्मीको देखकर प्रसन्न न हजिये मैंने जो कुछ
 कहा है वीरपुरुष ऐसा ही बर्त्ताव करते हैं, सदा न्याय से चँपा

सत्त्ववतां नयः शिरसि धिष्ठितः ॥ १८ ॥ जन्मवृद्धिभिशार्धानां
यो वृद्धिमभिकांक्षते । एषते ज्ञातिषु स वै सद्योवृद्धिर्हि विक्रमः ॥ १९ ॥
नामाप्य पाण्डवैरवश्यं संशयो मे गमिष्यति । अवाप्स्ये वा श्रियं
ता हि शिष्ये वा निहतो युधि ॥ २० ॥ एतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन
विशाम्पते । नर्द्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयन्त्वस्थिरवृद्धयः ॥ २१ ॥

इति सभाषर्षणि धूतपर्वणि दुर्योधनसन्वाये

पञ्चपंचाशोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

शकुनिरुवाच । पां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पांडुपुत्रे युधिष्ठिरे । तप्यसे
तां हरिष्यामि धूतेन जयताम्बर ॥ १ ॥ आहूयतां परं राजन्
कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । अगत्वा संशयमहमयुध्वा च चमूमुखे ।
अज्ञानं क्षिपन्नक्षतः सन् विद्वानविदुषो जये ॥ २ ॥ ग्लहान् धनूं पि

रहना वीर पुरुषोंको घोभा मालूम होता है ॥ १ ॥ जो पुरुष धन
को पानेकी इच्छाकी समान धनको बढ़ानेकी अभिलाषा भी करता
है वह अपनी जातिमें नि सन्देह उन्नति करता है और वह धनकी
वृद्धि पराक्रमसे ही होती है ॥ १९ ॥ पांडवोंकी लक्ष्मीको बिना
पाये मैं चितामें ही रहूंगा, इसलिये या तो अब उस सम्पदाको
लूंगा नहीं तो रणभूमिमें प्राण देकर सोऊंगा ॥ २० ॥ हे महा-
राज ! पांडवोंकी बराबर उन्नति होरही है और हमारी कुछ भी
उन्नति नहीं, इस दशामें मेरा जीवित रहना क्या है ॥ २१ ॥

पञ्चपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५५ ॥

॥ छ ॥

॥ छ ॥

दुर्योधनकी यह बात सुनकर शकुनिने कहा, कि—हे दुर्योधन !
तुम पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको जिस सम्पदाको देखकर दुःखित हो
रहे हो, इसको तो मैं जुएमें छीन लूंगा और तुम्हारी जीत
होगी ॥ १ ॥ अब तुम कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको जुआ खेलनेके लिये
सुलबाओ, जो फाँस फँकनेमें चतुर दावा है वह बिना युद्धके ही
अनाही शत्रुको जीतलेता है अतः मैं निःसन्देह सेनामें बिना
लड़ेही जीतलूंगा ॥ २ ॥ हे दुर्योधन ! जुआ खेलनेमें दांवकी

मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत । अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि
मपास्फुरम् ॥ ३ ॥ दुर्योधन उवाच । अपमृतसहते राजन् श्रिय-
माश्नुमन्त्रवित् । यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्त्वदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४ ॥ धृत-
राष्ट्र उवाच । स्थितोऽस्मि शासने आतुर्विदुरस्य महात्मनः ।
तेन सङ्गम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य त्रिनिश्वयम् ॥ ५ ॥ दुर्योधन
उवाच । व्यपनेष्यति ते युद्धि विदुरो मुक्तसंशयः । पाण्डवानां हिते
युक्तो न तथा मम कौरव ॥ ६ ॥ नारभेतान्यसावध्यात् पुरुषः
कार्यमात्मनः । मत्तिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥ ७ ॥
मयं परिहरन्मन्द आत्मानं परिवर्जयन् । वर्षासु विलम्बकटव-
त्तिष्ठन्निवावसीदति ॥ ८ ॥ न व्यापयो नापि यमः मातुं श्रेयः मती-

मेरा धनुष, फाँसोंको बाण, फाँसे फँकनेकी मेरी चतुराईको
मर्त्यंगा और मेरी फुरतीको रथ समझना ॥ ३ ॥ यह सुनकर
दुर्योधनने कहा, कि—हे पिताजी ! यह फाँसे फँकनेमें प्रवीण
मामाजी घूतके द्वारा युधिष्ठिरकी धन सम्पदा छीनलेनेका उतसाह
दिलवारहे हैं सो आप इनको आज्ञा देदीजिये ॥ ४ ॥ धृतराष्ट्रने
कहा, कि—मैं तो महात्मा विदुरभाईकी संपत्तिसे काम किया
करता हूँ, उनसे मिलकर निश्चय कहूँगा कि—इस विषयमें क्या
करना चाहिये ॥ ५ ॥ दुर्योधनने कहा, कि हे महाराज ! विदुर
जी जितने पाण्डवोंके हितपी हैं उतने हमारे नहीं हैं, इस
कारण वह आपकी युद्धिको पलट देंगे, इसमें सन्देह नहीं है ॥ ६ ॥
हे महाराज ! मेरी समझमें, तो दूसरेके भरोसेपर पुरुषको अपने
कार्यका आरंभ नहीं करना चाहिये, क्योंकि—किसी काममें भी
दो पुरुषोंकी एकसौ संपत्ति होना बड़ी दुर्घट बात है ॥ ७ ॥ मूल
पुरुष निर्भय होकर अपनी रक्षा करता हुआ वर्षाकालके गीले
तृणकी समान पटा हुआ दुःख भोगता रहता है ॥ ८ ॥ अनेकों
मदारके रोग और मृत्यु, दल्लाय होनेकी प्रतीक्षा नहीं करते हैं।

ज्ञते । यावदेव भवेत्कल्पस्तावच्छ्रेयाः समाचरेत् ॥ ६ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते । वैरं विकारं सृजति तद्वै शत्रुघ्ननायकम् ॥ १० ॥ अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र संग्रन्थनं कलहस्यातिपाति । तद्वै प्रवृत्तन्तु यथा कथञ्चित् सृजेदसी-
दग्निशितान् सायकांश्च ॥ ११ ॥ दुर्योधन उवाच । घृते पुराणै-
र्धर्मवहारः प्रणीतस्तत्रात्ययो नास्ति न सम्प्रहारः। द्रोचतां शत्रुनि-
र्वाक्यमद्य सर्वां क्षिप्तं स्वमिहाज्ञापयस्व ॥ १२ ॥ स्वर्गद्वारं दीव्यतां
नो विशिष्टं तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् । भवेदेवं ह्यात्मना तुल्य-
मेव दुःखोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥ १३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । वाक्यं
न मे रोचते यश्च योक्तं यद्ये प्रियं तत् क्षिपतां नरेन्द्र । पश्चात्तत्स्यसे

इस कारण आगेको उन्नति होजायगी, इस भरोसे पर न पड़े रह कर उन्नति देनेवाले कामको करना चाहिये ॥६॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—हे वेदा ! बलवान्के साथ विरोध करना मैं किसी प्रकार भी ठीक नहीं समझता, क्योंकि विरोधसे विकार उत्पन्न होता है और विकार बिना लोहेका शस्त्र है ॥१०॥ हे वेदा ! तुम जो इस अनर्थरूप संग्रामकी घटनाको ठीक मान रहे हो, इस मासमकीसे ही तीक्ष्ण बाण और तलवारें निकल पड़ेंगी ॥ ११ ॥ दुर्योधनने कहा कि—पुराने लोग घृत खेलते थे उसमें न विकार होता था, न संग्राम होता था, इस लिये आप मामाजीकी बात मान लीजिये और शीघ्रही सभामण्डप बनानेकी आज्ञा दीजिये ॥१२॥ घृतकीड़ा, हम खेलने वालोंके लिये और हमारे अनुगामियोंके, लिये सुन्दर सुखके द्वार की समान है इसमें पाण्डवोंको भी हमारी समान ही सुख होगा, इसकारण अब आप पाण्डवोंके साथ जुआ कराइये ॥ १३॥ धृतराष्ट्र ने कहा, कि—हे वेदा ! तुमने जो बात कही, यह मुझ्में अच्छी नहीं मालूम होती, तुम्हारे मनको अच्छालगै सो करो ! नहीं तुम्हें पीछे पड़ाना न पड़े, क्योंकि—यह तुम्हारी बात कन्याणकारी

तदुपाक्रम्य वाक्यं नहीदृशं भावि वचो दि धर्म्यम् ॥ १४ ॥ दृष्टं-
 होतद्विदुरेणैव सर्वं विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन । तदेवैतद् दैववशा-
 दुपैति महद्भयं क्षत्रियजीवघाति ॥ १५ ॥ वैशम्पायन उवाच ।
 एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी दैवं मत्वा परमं दुस्तरञ्च । शशातो-
 च्चैः पुरुषान्, पुत्रवाक्ये स्थितो राजा दैवसंमूढचेताः ॥ १६ ॥
 सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ।
 सभामग्र्यां क्रोशमाप्त्रायतां मे तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥ १७ ॥
 श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः प्राज्ञा दत्तास्तां तदा चक्रुराशु ।
 सर्वद्रव्याण्युपजहूः सभायां सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ॥ १८ ॥
 कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां सभां रम्पां बहुरत्नां विचित्राम् ।

पक्षताना न पड़े, क्योंकि—यह तुम्हारी बात कन्याणकारी और
 धर्मानुकूल नहीं है ॥ १४ ॥ बुद्धिमान् विदुरने विद्या बुद्धि के
 प्रभावसे यह सब बात पहिले ही विचार देखी है, वही महाभय-
 दायक क्षत्रियोका क्षयकारी अवसर दैववश समीप आता जाता है
 ॥ १५ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! बुद्धिमान्
 धृतराष्ट्र ऐसा कह कर और दैवको परम दुस्तर मानकर अथात्
 होनीको बलवान् जानकर दैवके प्रतापसे ही सब विचार भूलगए
 और पुत्रकी बात मान सेवकोंको पुकार कर आज्ञा दी, कि—
 ॥ १६ ॥ तुम सहस्र स्तम्भोंसे शोभायमान, सुवर्ण और वैदूर्यसे
 जड़ी, सौ द्वारोंवाली, एक कोस चौड़ी और एक कोस लम्बी
 तोरणस्फाटिक नामवाली एक श्रेष्ठ सभाको बनानेमें शीघ्र ही
 लगजाओ ॥ १७ ॥ धृतराष्ट्रकी आज्ञा पाते ही सहस्रों गहुर निभय
 शिल्पियोंने शीघ्रतासे सभा बनादी और उसके योग्य पदार्थोंसे
 सजादिया ॥ १८ ॥ इस प्रकार थोड़े ही समयमें उस सभाके
 तैयार होजाने पर अनेकों प्रकारके रत्नोंकी चित्रकारी करके उस
 को विविध बना दिया तथा उसमें सुनहरी चित्र और विद्युत्ने
 विद्याकर चित्तमें प्रसन्न होतेहुए धृतराष्ट्रसे निवेदन किया, कि—

चित्रैर्है मेरासनैरभ्युपेतामाचर्युस्ते तस्य राज्ञ प्रतीताः॥१६॥ ततो
विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्यमुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः । युधिष्ठिरं राज-
पुत्रं च गत्वा मद्राक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ॥ २० ॥ सभेयं मे बहु-
रत्ना विचित्रा शय्यासनैरुपपन्ना मद्राहैः । सा दृश्यतां भ्रातृभिः
सार्द्धमेत्य सुहृद्दयतं वर्त्ततामत्र चेति ॥ २१ ॥ ॐ ॥

इति सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने

पट्पञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

वैशम्पायन उवाच । मतस्त्राज्ञाय पुनस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः ।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद्राजंश्चकार ह ॥ १ ॥ अन्यायेन यथोक्तस्तु
विदुरो विदुषाम्बरः । नाभ्यनन्दद्द्वयो भ्रातुर्वचनञ्चेदमब्रवीत् ॥२॥
विदुर उवाच । नाभिनन्दे नृपते मैपमेतं मैवं कृपाः कुलनाशाद्वि-
भेमि । पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्याद्वेतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र ॥ ३ ॥

हे महाराज । सभा तयार है ॥ १६ ॥ तदनन्तर बुद्धिमान् राजा
धृतराष्ट्रने अपने मुख्य मंत्री विदुरसे कहा, कि—तुम मेरे कहनेसे
इन्द्रमस्पर्को चले जाओ और राजा युधिष्ठिरको शीघ्र ही लिवा-
लाओ ॥ २० ॥ उनसे कहना, कि—बहुमूल्य सुन्दर शय्या और
आसनोंसे युक्त अनेकों रत्नोंसे जडित हमारी सभा बनी है, भाइयों
सहित आकर इसको देखें और सब मिन इकट्ठे हाकर यहाँ घत-
क्रीड़ा करें ॥ २१ ॥ पटपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—महाराज धृतराष्ट्रने पुत्रके मतको
जानकर और दैवको दुस्तर मानकर ऐसा किया ॥ १ ॥ जब
परम विद्वान् विदुरजीसे यह अन्यायकी बात कही तब उन्होंने
भाई धृतराष्ट्रसे इस बातको अनुचित बताकर यह कहा, ॥ २ ॥
विदुरजी बोले कि—हे महाराज ! आपकी यह आशा मुझें अच्छी
नहीं मालूम होता आप ऐसा न करें मुझें इसमें कुलका नाश
होनेका भय है हे महाराज ! मुझें यह शंका होती है, कि—
चौसरके खेलमें हमारे पुत्रोंमें भेद पड़कर अवश्य ही कलह होगा

धृतराष्ट्र उवाच । नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां न चेद्देवं प्रतिलोमं
भविष्यत् । धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगत्तिष्ठति न स्वत-
न्त्रम् ॥ ४ ॥ तदद्य विदुर प्राप्य राजानमम शासनात् । क्षिप-
मानय दुर्योधं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥ छ ॥

इति सभापर्वणि श्रुतपर्वणि युधिष्ठिरानयने

सप्तपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः प्रायाद्विदुरांश्चैकदारैर्महाजवर्यलिभिः
साधुदान्तैः । यत्नान्विमुक्ता धृतराष्ट्रेण राज्ञा मनीषिणां पाण्डवानां
सकाशे ॥ १ ॥ सोऽभिपद्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम् । प्रवि-
वेश महाबुद्धिः पूज्यमाना द्विजातिभिः ॥ २ ॥ स राजगृहमासाद्य
कुबेरभवनोपमम् । अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥
तं वै राजा सत्यवृतिर्महात्मा अजातशत्रुर्बिदुर यथावत् । पूजापूर्वं
प्रतिगृह्णाजमीढस्ततोऽपृच्छदतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर

॥ ३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—हे क्षत्तः । यदि देव विरोधी न हो
तो विरोधसे भी मुझ दुख नहीं होसकता जगत् व्याधीन नहीं
है किन्तु सब संसार विगताके वशमें चलता है ॥ १ ॥ सो हे विदुर !
अब तुम शीघ्र ही मेरे कहनेसे इन्द्रमस्थको जाकर प्रतापी कुन्ती-
पुत्र युधिष्ठिरको लिये लाओ ॥ ५ ॥ सप्तपञ्चाश अध्याय समाप्त

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! इसप्रकारसे धृतरा-
ष्ट्रके भेजे हुए विदुरजी विवश होकर शीघ्रगामी चलवान् सुशि-
क्षित घोड़ों से जुते रथमें बैठकर विद्वान् पाण्डवोंके पास चलदिये
॥ १ ॥ महाबुद्धि विदुर समस्त मार्गको बताकर इन्द्रमस्थमें पहुंचे
तहांके द्विजातियोंने उनका सत्कार किया ॥ २ ॥ तदनन्तर धर्मात्मा
विदुर कुबेरके भवनकी समान राजमन्दिरमें प्रवेश करके धर्मपुत्र
युधिष्ठिर से मिले ॥ ३ ॥ अजमीढपंशी महात्मा अजातशत्रु
युधिष्ठिरने उनकी यथाविधि पूजा और स्वागत करके पुत्रों सहित
धृतराष्ट्रका समाचार वृत्ता ॥ ४ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे

उवाच । विज्ञायते ते मनसोऽपहर्षः कच्चित् क्षतः कुशलेनागतो-
 ऽसि । कच्चित् पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा वशानुगाश्चापि विशोऽथ
 कच्चित् ॥ ५ ॥ विदुर उवाच । राजा महात्मा कुशली सपुत्र आस्ते
 वृत्तो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः । प्रीतो राजन् पुत्रगुणैर्विनीतो विशोक
 एवात्मरतिर्ददात्मा ॥ ६ ॥ इदन्तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच पूर्वं
 पृष्ट्वा कुशलञ्चाव्ययं च । इयं सभा दयत्सभा तुल्यरूपा भ्रातॄणां
 ते दृश्यतामेतत् पुत्र ॥ ७ ॥ समागम्य भ्रातृभिः पार्थवस्यां सुहृद्-
 द्यूतं क्रियतां रम्पताञ्च । प्रीयामहे भवतां सङ्गमेन समागताः
 कुरवश्चापि सर्वे ॥ ८ ॥ दुरोदरो विहिता ये तु वत्र महात्मना धृत-
 राष्ट्रेण राज्ञा । तान् द्रक्ष्यसे कितवान् सन्निविष्टानित्यागतोऽहं
 नृपते तज्जुपस्व ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । द्यूतं क्षतः कलहो

विदुरजी ! आपका मन मलिनसा प्रतीत होता है, आप कुशलसे
 तो आये हैं ? दुर्योधन आदि हमारे भाई धृतराष्ट्र के अनुकूल तो
 हैं ? और क्षत्रिय तो उनके वशमें हैं ? ॥ ५ ॥ विदुरजीने कहा,
 कि—हे राजन् ! इन्द्र की समान महात्मा धृतराष्ट्र और उनके पुत्र
 ज्ञाति वान्धवों सहित कुशलसे हैं वह अपने पुत्रों के गुणों से प्रसन्न
 विनयवान् सकल शोकों से रहित अपने स्वरूपमें मग्न और मान-
 सिक घलसे युक्त हैं ॥ ६ ॥ इस समय आपकी कुशल और
 आरोग्य पूछकर धृतराष्ट्र ने आपसे यह कहा है, कि—हे पार्थ !
 तुम भाइयों सहित आकर अपनी सभा की समान ही हमारी इस
 सभा को देखो ॥ ७ ॥ और यहाँ आकर अपने भाइयों के साथ मित्र-
 भाव से चौसर खेलो और आनन्द करो, तुम्हारे यहाँ आने पर
 हम तथा कुरुकुल के अन्य सब लोग बहुत ही प्रसन्न होंगे ॥ ८ ॥
 महात्मा राजा धृतराष्ट्र ने वहाँ चौसर खेलने वाले नियत किये हैं
 आप उन फाँसे खेलने वालों को देखेंगे इसलिये ही मैं आया हूँ
 अब आपकी जो इच्छा हो सो करिये ॥ ९ ॥ युधिष्ठिर ने कहा,
 कि—हे महात्मन् ! द्यूत खेलनेमें मुझे कल्याण नहीं दीखता,

विद्यते नः को वै श्रुतं रोचते युध्यमानः । किं वा भगवन् मन्यते
युक्तरूपं भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म ॥ १० ॥ विदुर उवाच ।
जानाम्यहं श्रुतमनर्थमूलं कृतञ्च यत्रोऽस्य मया निवारणे । राजा
च मां प्रादिषोच्चरत्सकाशं श्रुत्वा बिभ्रन् श्रेय इहाचरस्व ॥ ११ ॥
युधिष्ठिर उवाच ॥ के तत्रान्ये कित्वा दीव्यमाना विना राहो धृत-
राष्ट्रस्य पुत्रैः । पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान् यदीव्यापः शतशः
सन्निपत्य ॥ १२ ॥ विदुर उवाच । गान्धारराजः शकुनिर्विशा-
म्यते राजाविदेवी कृतहस्तो मत्तज्ञः । विविंशतिचित्रसेनश्च राजा
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च ॥ १३ ॥ युधिष्ठिर उवाच । महाभयाः
कित्वाः सन्निविष्टा मायोपधा देवितारोऽन सन्ति । धाना तु

ऐसे कलहकी मूल जुएकी खेलना कौन बुद्धिमान् अच्छा मानेगा ?
और क्या आप चौसरके खेलनेको अच्छा समझते हैं ? कहिये हम
सब आपकी संप्रतिके अनुसार काम करना चाहते हैं ॥ १० ॥
विदुरने कहा, यह मैं भले प्रकार जानता हूँ कि-जुआ खेलना अनर्थ
की मूल है मैंने ऐसा यत्र भी किया था, कि-जिसमें जुआ न
हा परन्तु राजा धृतराष्ट्रने मुझें तुम्हारे पास भेज ही दिया अब
जो आप उचित समझें, वह करिये ॥ ११ ॥ युधिष्ठिरने कहा,
कि-हे महात्मन् । मैं यह धूमता हूँ कि-तहां धृतराष्ट्रने पुत्रोंके
सिवाय और कौन २ से फाँसे फँकनेवाले खिलाड़ी हैं ? उनके
नाम मुझें बताइये, कि-जिनके साथ सैंकड़ों बार पण लगाकर
हमके खेलना होगा ॥ १२ ॥ विदुरने कहा, कि-फाँसे फँकनेमें प्रसिद्ध
और फाँसोंके हाथसे बनाकर फँकने वाला सचोसे बढ़कर खेलने
वाला तो गान्धारराज शकुनि है उसके सिवाय विविंशति, चित्र-
सेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय तहाँ विद्यमान हैं ॥ १३ ॥
युधिष्ठिरने कहा, कि-आप ठीक कहते हैं तहाँ बड़े २ मायावी
भयानकाकार जुआ खेलनेवाले उपस्थित हैं, प्रतीत होता है, कि-
सकल जगत् विधाताकी आज्ञामें होकर चर्चार् करता है कभी

दिष्टस्य वशे किलेदं सर्वं जगच्चिष्टति न स्वतन्त्रम् ॥ १४ ॥ नाहं राज्ञो
 धृतराष्ट्रस्य शासनाद् गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम् । इष्टो हि पुत्रस्य
 पिता सदैव तदस्मि कर्त्ता विदुरात्थ मां यथा ॥ १५ ॥ न चाकामः
 शकुनिना देविताहं न चेन्मां जिष्णुराहुवयिता सभायाम् । आहूतो-
 ऽहं न निवर्त्ते कदाचित्तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे ॥ १६ ॥ वैश-
 म्पायन उवाच । एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः प्रायान्निकं सर्वमाहाप्य
 तूर्णम् । प्रायाचञ्चोभूते सगणः सानुयात्रः सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि
 कृत्वा ॥ १७ ॥ देवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवापतत् । धातुश्च
 वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥ १८ ॥ इत्युक्त्वा प्रययौ राजा
 सह क्षत्रा युधिष्ठिरः । अमृष्यमाणस्तस्वार्थ समाह्वानमरिन्दम ॥
 ॥ १९ ॥ बाह्यिकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा । परिच्छन्नो
 ययौ पाथो भ्रातृभिः सह पाण्डवः ॥ २० ॥ राजश्रिया दीप्यमानो
 कोई स्वतंत्र रह ही नहीं सकता ॥ १४ ॥ पुत्रके पक्षपाती धृतराष्ट्र
 के शासनमें मुझे चौसर खेलनेके लिये जानेका इच्छा नहीं है, आप
 चलनेको कहते हैं तो मैं चला चलूंगा ॥ १५ ॥ यदि धृतराष्ट्र मुझसे
 सभा में नहीं बुलाते तो मैं शकुनिके साथ चौसर कदापि नहीं
 खेलता परन्तु जब उन्होंने बुलाया है तो निषेध नहीं कर सकता
 क्योंकि यही मेरा सदाका नियम है ॥ १६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं
 कि—हे जनमेजय ! धर्मराजने विदुरजीसे ऐसा कहकर शीघ्र ही
 साथ चलनेवालोंको आज्ञा दी कि—भातःकाल द्रौपदी आदि
 स्त्रियों सब भाई विदुर सेवक और साथियोंको लेकर चलेंगे १७
 जैसे आँखोंकी ज्योतिको तेज हरालेता है, तैसे ही देव राजाओंकी
 बुद्धिको हर लेता है, सब ही मनुष्य पाशमें बँधेहुएसे विधाताके
 वशमें हैं ॥ १८ ॥ ऐसा कहकर युधिष्ठिर उस बुलावेके चित्तके
 अनुकूल न होनेपर भी विदुर और भाइयों सहित बाह्यिकके दिये
 हुए रथमें बैठकर चल दिये ॥ १९ ॥ २० ॥ कालके नियमा-
 नुसार धृतराष्ट्रके बुलावे हुए राजा युधिष्ठिर जब ब्राह्मणोंको साथ

ययौ ब्रह्मपुरःसरः । धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च २१
 हस्तिनपुरं गत्वा । धृतराष्ट्रगृहं ययौ । समियाय च धर्मात्मा
 धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥ २२ ॥ तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण
 च । समियाय ययान्यायं द्रोणिना च विभुः सह ॥ २३ ॥ समेत्य
 च महाबाहुः सोमदत्तेन चैवं ह । दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च
 वीर्यवान् ॥ २४ ॥ ये चान्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः ।
 दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ॥ २५ ॥ जयद्रथेन च तथा
 कुरुभिश्चापि सर्वशः । ततः सर्वैर्महाबुधैर्भ्रातृभिः परिचारितः ॥ २६ ॥
 प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमताः । ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं
 पतिमनुयताम् । स्नुषाभिः संवृतां शयनताराभिरिव रोहिणीम् २७
 अभिवाद्य स गान्धारीं तयो च प्रीतनन्दितः । ददश पितरं वृद्धं
 मञ्जुचक्रपमीश्वरम् ॥ २८ ॥ राज्ञा मूढन्युपप्रातास्ते च कौरव-
 नन्दनाः । चत्वारः पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥ २९ ॥

मैं लोकर चले उस समय उनकी राजसा शोभा बड़ी दिपरही थी
 ॥ २१ ॥ धर्मात्मा युधिष्ठिर हस्तिनापुरमें पहुंचकर धृतराष्ट्रके राज-
 मन्दिरमें गए और उनसे मिले ॥ २२ ॥ भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपा-
 चार्य तथा अरुन्धामाके साथ यथोचित रीतिसे मिले ॥ २३ ॥ फिर
 महाबाहु वीर युधिष्ठिर सोमदत्तसे मिलकर दुर्योधन, शल्य और
 और शकुनिसे मिले ॥ २४ ॥ इनके सिवाय और जो राजे तहां
 पहिलेसे ही आगए थे उनसे तथा वीर दुःशासन आदि भाइयोंसे,
 जयद्रथसे और सकल कुरुवंशिषोंसे मिलकर फिर महाबाहु सब
 भाइयोंको साथ लिये बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके रहनेके स्थान
 में गए तहां तारायोंसे घिरी रोहिणी की समान अपनी पुत्रबहूओं
 से घिरी पतिव्रता गान्धारी देवीको देखा ॥ २५ — २७ ॥ इन्होंने
 गान्धारीको प्रणाम किया और-उत्तने भी आशीर्वाद दिया तदनंतर
 पूरे मञ्जुचक्र नेत्रहीन पितासमान राजा धृतराष्ट्रके दर्शन किये,
 धृतराष्ट्रने भीमसेन आदि पाँचों भाइयोंके मस्तकका स्पर्श, हे

ततो हर्षः समभवत् कौरवाणां विशाम्पते । तान् दृष्ट्वा पुरुष-
व्याघ्रान् पाण्डवान् भियदर्शनान् ॥ ३० ॥ विरिगुस्तेऽभ्यनुज्ञाता
रत्नवन्ति गृह्मणि च । ददृशुश्चोपयातास्तान् द्रौपदीममुखाः स्त्रियः
॥ ३१ ॥ याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव । स्नुपास्ता
धृतराष्ट्रस्य नाविप्रमनसोऽभवन् ॥ ३२ ॥ ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा
स्त्रीभिस्तु संविदन् । कृत्वा व्याणमपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च
॥ ३३ ॥ ततः कृताहिनाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः । कल्याण-
मनसश्चैव ब्राह्मणान् स्वस्तिवाच्य च ॥ ३४ ॥ मनोज्ञमशनं
भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ॥ ३५ ॥ उपगोयमाना नारीभिर-
स्वपन् कुरुपुङ्गवाः । अन्तरञ्च ततः प्राप्य प्रीताः परपुरञ्जयाः
॥ ३६ ॥ जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।

जनमेजय ! उस समय उन भियदर्शन वीर पाण्डवोंको देखकर
कौरव बड़े प्रसन्न हुए ॥ २८-३० ॥ फिर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे
रत्नजडित स्थानोंमें वहरे द्रौपदी आदि स्त्रियें भी स्त्रियोंसे
आकर मिलीं ॥ ३१ ॥ धृतराष्ट्रकी पुनबहुएं द्रौपदीकी दमकती
हुई बड़ी भारी सम्पत्तिको देखकर मनमें दुःखित हुईं ॥ ३२ ॥
तहां वीर पाण्डवोंने स्त्रियोंसे बात चीत कर प्रतिदिनके नियमा-
नुसार व्यायाम (कसरत) करके नित्यकर्म किया ॥ ३३ ॥
इसप्रकार नित्यकर्म करके वह सब पांडव दिव्य चन्दनदिसे
भूषित हुए और मङ्गलकी कामनासे ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन
कराया ॥ ३४ ॥ फिर स्वादु भोजन पाकर स्थानोंके भीतर गए
तहां उन वीरोंके निद्रामें आनेके समय पर्यन्त स्त्रियें सुन्दर गीत
गाती रही इसप्रकार शत्रुविजयी पाण्डव परमानन्दसे स्त्रियों
सहित सो गए ॥ ३५ ॥ आनन्द विहार आदि करते हुए पाण्डवों
की वह पवित्र रात्रि बीत गई, इसप्रकार विश्राम लेनेके अन्तमें
वन्दीजनोंके स्तुति पढ़ने पर वह ठीक समय पर जाग उठे ॥ ३६ ॥
इसप्रकार रात्रिमें सुखसे निवास करके मातःकाल होते ही

स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निद्रामयात्सजन् ॥३७॥ सुखोपिता
स्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः । सभा रम्या प्रविशिशुः कितवै
रभिनन्दिता ॥ ३८ ॥ ॥ छ ॥ * ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणियुधिष्ठिरसभा-
गमनेऽष्टपञ्चाशोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

वैशम्पायन उवाच । मनिष्य तां सभां पार्या युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान् सर्वान् पूजार्हानभिपूज्य च ॥ १ ॥ यथावयः
समेयाना उपविष्टा यथाहृत । आसनेषु विचित्रेषु स्पन्दार्थास्तरण-
वत्तु च ॥ २ ॥ तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेभ्य नृपेषु च । शकुनिः सौबल-
स्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३ ॥ शकुनिस्त्वाच । उपस्तोर्णां सभा
राजन् सर्वे त्वयि कुनत्तणाः । अत्रानुत्त्वा देवनस्य समधोऽस्तु
युधिष्ठिर ॥ ४ ॥ युधिष्ठिर उवाच । निरुतिदेवन पापं न क्षात्रोऽत्र
पराक्रमः । न च नीतिध्रुवा राजन् किं त्व द्यूतं प्रशससि ॥ ५ ॥

नित्यकर्मसे निवृत्तनेके अनन्तर वह सब धृतराष्ट्रका रमणीय सभामें
गए, इनको देखते ही सब खेलने वाले बड़े मसन्न हुए ॥ ३७ ॥
अष्टपञ्चाश अध्याय समाप्त ॥ ५८ ॥ * ॥ *

वैशम्पायनने कहा, कि—हे राजन् जनमेजय ! तदनन्तर वह
पाण्डव राजा युधिष्ठिरके पीछे २ सभामें पहुँचे और तहाँ पूजा
के योग्य सब राजाओंका अवस्थाके अनुसार पूजन करके सुन्दर
विश्रान्तोवाले रमणीय विचित्र आसनोंपर यथोचित रीतिसे बैठ
गये ॥ १ ॥ २ ॥ और सब राजाओंके भी जहाँ तहाँ बैठाने पर
सुरलनन्दन शकुनिने युधिष्ठिर से कहा ॥ ३ ॥ शकुनि बोला,
कि—हे पार्य ! हम सब लोग सभामें पहिले से ही डकड़े होकर
आपकी बाट देख रहे थे, अब फासे फँक कर जीसरके खेलका
आरम्भ होना चाहिये ॥ ४ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे राजन् !
देखो जुआ खेलना द्यनरूप पापकी मूल है इसमें कुछ क्षत्रियोंकी
वीरता तो है ही नहीं और विचारदृष्टिमें देखाजाय तो यह राज-
नीति भी नहीं है, किन्तु तुम द्यूतकी प्रशंसा क्यों करने हो ॥ ५ ॥

नहि मानं प्रशंसन्ति निकृता कृतवस्य हि । शकुने मैवं नो जैषी-
रमार्गेण नृशंसवत् ॥ ६ ॥ शकुनिरवाच । यो वेत्ति संख्यां निकृतां
विधिज्ञश्चेष्टास्यस्त्रिन्नः कृतवोऽक्षजासु । महामतिर्यश्च जानाति धृतं
स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥ ७ ॥ अक्षग्लहः सोऽभिभवेत् परं
नस्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ । दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्का
कुरुष्व पाणञ्च चिरं च मा कृपाः ॥ ८ ॥ युधिष्ठिर उवाच । एव-
माहायमसितो देवलो मुनिसत्तमः । इमानि लोकद्वाराणि यो वै
भ्राम्यति सर्वदा ॥ ९ ॥ इदं वै देवनं पापं निकृत्य कृतवैः सह ।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥ १० ॥ नाट्यां म्लेच्छन्ति
भाषाभिमायिषान् चरन्त्युत । अजिह्वमशठं युद्धमेतत् सत्पुरुषव्रतम्

इस धूर्तोंके कपटभरे आचरणकी कोई प्रशंसा नहीं करते हैं, इस
कारण देखो हे शकुनि ! तुमको निर्दयीकी समान कुमार्गके द्वारा
हमारा पराजय करनेकी चेष्टा नहीं करनी चाहिये ॥ ६ ॥ यह
मुनकर शकुनिने कहा, कि—जो गिनना जानता है, खेलमें धोखा
देनेकी सब रीतियोंको जानता है फाँसे डालनेकी चेष्टामें आलस्य-
रहित और चालाक होता है और जो बुद्धिमान् धृतविधाको
जानता है वह खेलके समय सब बातोंपर ध्यान रखता है और
हारता नहीं है ॥ ७ ॥ हे पार्थ ! फाँसोंपर दौब लगाना ही हार
जीतका कारण है, हारना कोई दोष नहीं है, इसलिये आइये
खेलें आप किसी बातकी शङ्का न करें, शीघ्र ही अपनी इच्छानु-
सार दौब लगाइये, देर न करिये ॥ ८ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—
इन सब लोकों में सदा विचरने वाले मुनिवर अस्मिन् और देवल
ने कहा है, कि—॥ ९ ॥ धूर्तोंके साथ कपटकी धृतकीटा, करना
बड़ा भारी पापकर्म है धर्म के साथ युद्धमें जीतना ही अच्छा है जुए
में जीतना बुरा है ॥ १० ॥ जो श्रेष्ठ पुरुष हैं वह मुखसे म्लेच्छ-
भाषाका उच्चारण नहीं करते और न कपटके व्यवहारको करते
हैं, किंतु शठपने को छोड़कर निष्कपट युद्ध करना ही सत्पुरुषोंका

॥ ११ ॥ शक्तियो ब्राह्मणार्थाय शित्तितुं मयतामहे । तद्वै वित्तं
 मातिदेवीर्मा जैमीः शकुने परान् ॥ १२ ॥ निकृत्णा कामये नाहं
 सुखान्पुत धनानि वा । कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते १३
 शकुनिरुवाच । श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिरः । विद्वान-
 विदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १४ ॥ अक्षैर्हि शित्तितो-
 भ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर । विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं
 जनाः ॥ १५ ॥ अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः । एवं कर्मसु
 सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर । विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं
 जनाः ॥ १६ ॥ एवं त्वं पापिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे । देवना-
 द्वानवर्त्तस्य यदि ते विद्यते भयम् ॥ १७ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।

नियम है ॥ ११ ॥ शक्तिके अनुसृत ब्राह्मणोंका उपकार करनेके
 लिये हमारा यत्न करना ही हमारा धन है, इसकारण हे शकुने !
 चासर न खेलो, तुम जुएमें दूसरोंको जीतनेका उद्योग न करो
 ॥ १२ ॥ हे शकुने ! मैं शठना करके सुख वा धन पाना नहीं चाहता
 धूर्तपुरुष मकाशरूपसे सदाचरण करें तो भी उनके सदाचरणकी
 प्रतिष्ठा नहीं होती ॥ १३ ॥ शकुनिने कहा, कि-हे राजन् ! धूर्तता
 का सहारा लेकर ही वेदपाठी वेदपाठीका सामना करता है, विद्वान्
 मूर्खोंका सामना करे तो इसको लोग धूर्तता नहीं कहते हैं ॥ १४ ॥
 हे युधिष्ठिर ! बलवान् शस्त्रधारी दुर्बल शस्त्रहीनके ऊपर ही महार
 करता है, ऐसी धूर्तता तो सब ही कामों में होती है, इसीप्रकार
 जो फा से फेंकनेमें चतुर होता है वह अनजानको यदि चतुराईसे
 जीत लेय तो उसको भी लोग धूर्तता नहीं कहते ॥ १५ ॥ १६ ॥
 ऐसा होतेहुए भी आप यहाँ आकर यदि मुझ फासे डालनेमें
 बढ़ा-पारी धूर्त समझते हैं और यदि आपको धूर्तकीदा से भय
 लगता है तो आप जाइये न खेलिये ॥ १७ ॥ युधिष्ठिरने कहा कि
 हे राजन् ! जब कोई चुनाता है तब तो मैं लौटता ही नहीं यह तो
 मेरा सदा का नियम है इसके सिवाय देव बढ़ा बटावान् है और

आहूतो न निवर्त्तेषमिति मे व्रतमादिनम् । विधिश्च बलवान् राजन्
 दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः ॥ १८ ॥ अग्निन् ममोगमे केन देवनं मे
 भविष्यति । प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्त्तताम् ॥ १९ ॥
 दुर्योधन उवाच । अहं दातास्मि रत्नानां धनानां च विशाम्पते ।
 मदर्थे देवितां चायं शकुनिर्मातुलो मम ॥ २० ॥ युधिष्ठिर उवाच ।
 अन्येनान्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रणिमानि मे । एतद्विद्वन्नुपादत्स्व काम-
 मेव प्रवर्त्तताम् ॥ २१ ॥ वैशम्पायन उवाच । उपोह्यमाने द्यूते
 राजानः सर्व एव ते । धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः
 ॥ २२ ॥ भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः । नातिम्रीतेन
 मनसा तेऽन्ववर्त्तन्त भारत ॥ २३ ॥ ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव सिंह-
 ग्रीवा महोन्नतः । सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि च भेजिरे २४
 शुशुभे सा सभा राजन् राजभिर्स्तेः समागतैः । देवैरिव महाभागैः

मैं भी उस दैवके वशमें होकर यहाँ आया हूँ ॥ १८ ॥ इस लिये
 वताइये इकट्ठे हुए लोगोमेंसे किसके माथ मुझ खेलेना होगा
 और ढाँच लगाने वाला दूसरा कौन है ? यदि कोई तयार हो तो
 द्यूतका आरंभ किया जाय ॥ १९ ॥ दुर्योधन बोल उठा, कि-हे
 राजन् दाँवके लिये धन और रत्न मैं दूँगा और मेरी ओरसे
 यह मेरे मामा शकुनि खेलेंगे ॥ २० ॥ यह सुनकर युधिष्ठिरने
 कहा कि-हे विद्वन् ! एक की ओरसे दूसरा खेलें इसको मैं
 ठीक नहीं समझता और यदि तुम चाहते हो तो अच्छा आरंभ
 करो ॥ २१ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि-हे जनमेजय ! जब
 द्यूतक्रीड़ाका आरंभ होनेको हुआ उस समय वह सब राजे धृतराष्ट्र
 को आगे करके तहाँ आबैठे ॥ २२ ॥ हे महाराज उनके साथ २ भीष्म
 द्रोण, कृपाचार्य और परम बुद्धिमान विदुरजी मनमें खिन्न होते
 हुए आबैठे ॥ २३ ॥ वह तेजस्वी राजे दोर होकर और अलग २
 भी सिंह की समान ऊपरको मुख उठाये हुए अनेकों चित्र विचित्र
 सिंहासनों पर बैठगये ॥ २४ ॥ हे महाराज ! उन आयेहुए राजाओं

समवेतैस्त्रिविष्टपम् ॥ २५ ॥ सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वर-
मूर्त्तयः । भावर्त्तत महाराज सुहृद्घूतमनन्तरम् ॥ २६ ॥ युधिष्ठिर
उवाच । अयं बहुधनो राजन् सागरावर्त्तसम्पदः । मणिहागेत्तरः
श्रीवान् कनकोत्तपधूपणः ॥ २७ ॥ एतद्राजन् मम धन प्रतिपाणो-
ऽस्ति कस्तव । येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे ॥ २८ ॥
दुर्गोशन उवाच । सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च । मत्सर-
म् न मेऽर्षेण जयस्यैनं दुरोदरम् ॥ २९ ॥ वैशम्पायन उवाच ।
ततो जग्राह शकुनिस्तानत्तानत्ततश्च विन् । जितमित्येव शकुनिर्युधि-
ष्ठिरमभाषत ॥ ३० ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमद्भारते समापर्वणि धूमपर्वणि धूतारम्भ
एकौनपट्टिनोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

से उस समा की ऐसी शोभा हुई जैसा महाभाग देवताओं के इकट्ठे होने पर स्वर्ग की शोभा होती है ॥ २५ ॥ वह सब ही शूर राजे वेदवेत्ता थे और सब ही के शरीर तेजसे मज्जलित हो रहे थे, जब सब आकर बैठ गये तब मित्रयूनका आरंभ हुआ ॥ २६ ॥ युधिष्ठिरने दुर्गोशनसे कहा, कि— हे राजन् ! मैं महामूर्ख, सागरावर्त्तमें उत्पन्न हुए सुवर्णके सब आभूषणोंमें श्रेष्ठ, परम-सुन्दर मणिमय हारका दांव लगाता हूँ ॥ २७ ॥ हे राजन् ! मैंने तो यह धन लगाया अब जिस धनको दांव पर लगाकर आप मेरे साथ खेलते हैं वह आपके दांवका क्या धन है ॥ २८ ॥ यह सुनकर दुर्गोशनने कहा, का, मेरे पास बहुतसी मणियाँ और धन है परन्तु उनसे नाम गिनाकर मैं अट्टह्कार नहीं दिखाना चाहता, और इस दांवको जीतिये ॥ २९ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि इस प्रकार दांव लगाने पर कासोंके तत्वको जाननेवाले शकुनि ने काँसे हाथमें लिये और यह बोला कि—लो मैं यह जीता, सो काँसे डालते ही उसकी विजय हुई ॥ ३० ॥ एकौनपट्टिनम अध्याय समाप्त ॥ ५६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । त्वत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे ।
 शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम् ॥ १ ॥ सन्ति निष्क-
 सहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः । कोशो हिरण्यमक्षय्यं जात-
 रूपमनेकशः । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २ ॥
 वैशम्पायन उवाच । कारवाणां कुलकरं व्येष्टं पाण्डवमच्युतम् ।
 इत्युक्तः शकुनिः ग्राह जितमित्येव तं नृपम् ॥ ३ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।
 अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः । सुचक्रोपस्करः श्रीमान्
 किङ्किणीजालमण्डितः ॥ ४ ॥ सहादनो राजरथो य इहास्मानुपा-
 यहत् । जैत्रो रथवरः पुण्यो पेघसागरनिखनः ॥ ५ ॥ अष्टौ यं
 कुमुदच्छायाः सदृशा राष्ट्रसम्पताः । वहन्ति नैपान् मुच्येत पदाद्भूमि-
 मुपस्पृशन् । एतद्राजन् धनं मह्यं तेन दीव्यामहं त्वया ॥ ६ ॥ वैश-

युधिष्ठिरने कहा, कि-हे शकुने ! तुमने केवल खेलकी चालाकी
 से मुझै इस दांवमें जीतलिया, आओ अब परस्पर और दांव
 लगाकर खेले ॥ १ ॥ मेरी एक लाख आठ सहस्र मुहरोंकी भरी
 सुंदर कुंडेली अक्षय धनभण्डार और बहुतसे सोनेका ढेर है, मैं
 उसको ही दांव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २ ॥
 वैशम्पायन कहते हैं, कि-तब तो कौरवकुलका यश बढ़ानेवाले
 पांडवोंके बड़े भाई राजा युधिष्ठिरसे शकुनिने, मैंने, इसको भी
 जीतलिया, ऐसा कहकर फासे फेंके और उसकी ही जीत हुई
 ॥ ३ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-हे राजन् ! जिस रथमें बैठकर हम
 यहाँ आये हैं, जो अकेला ही सहस्रों रथोंकी समता करता है,
 जिसपर सिंहकी चर्म मँटी है जो परम प्रसिद्ध है, जिसके पहिये
 आदि सामग्री बड़ी रमणीय है, जिसमें घंटियोंके जाल लगे हैं,
 जिसकी भुनकार मेघ और समुद्रके गर्जनेकी समान है, जो
 अनेकों रथोंमें मुख्य है, जिस पर बैठने वालेकी विजय ही होती
 है, कमलकी समान कांति वाले राज्यभरमें प्रसिद्ध आठ घोड़े
 जिसमें जुते हैं ऐसा यह सुंदर रथ मेरा धन है, मैं इसीका
 दांव लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ ४-६ ॥ वैशम्पायन कहते

म्पायन उवाच । एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
 जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥ युधिष्ठिर उवाच । शतं
 दासीसहस्राणि तरुणयो हेमभद्रिकाः । कम्बुकेश्यूरधारिण्यो निष्क-
 कण्ठयः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥ महार्हमान्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनो-
 त्तिताः । मणीन् हेम च बिभ्रंत्यश्वत्थपट्टिविशारदाः ॥ ९ ॥ अनु-
 सेवाश्चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामयः । स्नातकानाममात्यानां राज्ञाश्च
 मम शासनात् । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥
 वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
 जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।
 एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे । प्रदक्षिणानु लोमाश्च
 गावारवसनाः सदा ॥ १२ ॥ प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्ट-
 हैं, हे महाराज ! यह सुनकर शकुन समझला और लो यह जीत
 लिया, ऐसा कहकर छलसे फाँसे डाले, कि-उसकी जीत हो-
 गयी ॥ ७ ॥ फिर युधिष्ठिरने कहा, कि-मेरी एक सौ सहस्र नव-
 युवती दासिये हैं, सुवर्णकी हथेलें, शंखाकार बाजूबन्द और
 कण्ठकी मालायें आदि अनेकों बहुमूल्य आभूषण और सुन्दर
 वस्त्र धारण किये, चन्दनसे चर्चित, और सुवर्णमें जड़ी मणियोंको
 पहिरेहुए, नाच गान आदि चौंसठ कलाओंमें प्रवीण हैं और मेरी
 आज्ञासे देवताओंकी समान ब्रह्मचारियोंकी और राजाओंकी
 उचित सेवा करती है, हे राजन् ! यह जो दासीरूप मेरा धन है
 इसको ही दानमें लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ ८-१० ॥
 वैशम्पायन कहते हैं कि-हे महाराज ! यह सुनते ही शकुनि
 समझला और लो यह भी जीतलिया, ऐसा युधिष्ठिरसे कहकर
 छलसे फाँसे डाले, कि-उसकी जीत होगई ॥ ११ ॥ तब युधि-
 ष्ठिरने कहा, कि-इतने ही सहस्र मेरे दास भी हैं जो सदा बहु-
 मूल्य वस्त्र धारण करे मेरे दायें बायें रहते हैं ॥ १२ ॥ जो चतुर अधि-
 भाषको समझनेवाले, जितेन्द्रिय, युवा, सुन्दर कुण्डल पहिरे रहते

कुण्डलाः । पात्रीहस्ता दिवागत्रमनिधीन् भोजयन्त्युत । एतद्राजन
मम धनं तेन दीव्याम्बुदं त्वया ॥ १३ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छुत्वा
व्यवसितो निरुतिं समुपाश्रितः । जितमित्रेव शकुनियुधिष्ठिर-
मभाषत ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर उवाच । सहस्रसंख्या नागा मे पत्ता-
स्तिष्ठन्ति सौवल । हेमरुक्ताः कृतापीडाः मद्रिमनो हेममालिनः १५
सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दज्ञा युधि । ईषादन्ता महाकायाः
सर्वे चाष्टकरेणवः ॥ १६ ॥ स च पुत्रभेत्तारो नवमेघनिभा
गता । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्याम्बुदं त्वया ॥ १७ ॥ वैशं-
पायन उवाच । इत्येवं वादिनं पार्थं महसन्निव सौवलः । जित-
मित्रेव शकुनियुधिष्ठिरमभाषत ॥ १८ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।
रथास्तावन्त एवमे हेमदण्डाः पनाकिनः । हयैर्विनीतेः सम्पन्ना

हैं और रात दिन हाथोंमें पात्र लिये अनिधियोंको भोजन कराते
हैं इस अपने धनको ही दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता
हूँ ॥ १३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि- हे महाराज ! यह सुनते
ही शकुनि समूहला और लो यह भी जीतलिया, ऐसा कहकर
झलसे फाँसे डालते ही उसकी जीत होगई ॥ १४ ॥ तब युधि-
ष्ठिरने कहा, कि-हेमचलनंदन ! मेरे सहस्र मत्तमताकू हैं जो सुन-
हंरी, रुक्से, झूल और मालाओं को धारण किये हैं ॥ १५ ॥
सब वह ही भले प्रकार शिखा पायेहुए, राजाओंकी सवारीके योग्य
युद्धमें सब प्रकारके शब्दोंके सहनेवाले, दलके अग्रभागकी समान
दाँतोंवाले और बड़े २ शरीरके हैं हरएक के साथ आठ २
हयनी हैं ॥ १६ ॥ वह सब ही नगरके द्वारोंको तोड़नेवाले और
नवीन घन्घराकी समान हैं मैं अपने इस धनको ही दाँव पर
लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं
कि- हे महाराज ! युधिष्ठिरके इतना कहते ही शकुनि मुसकुराया
और लो यह भी जीतलिया, ऐसा कहकर झलसे फाँसे डालते
ही उसकी जीत होगई ॥ १८ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि-यह

रथिभिश्चित्रयोधिभि ॥ १९ ॥ एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमा
भृतिम् । युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम् । एतद्राजन्
मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २० ॥ वैशंपायन उवाच । इत्ये
वमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान् । जितमित्येव शकुनियुधिष्ठिर-
मभाषत ॥ २१ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अस्वांस्तित्तिरिक्त्वपान्
गान्धर्वान् हेममालिनः । ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान् गाण्डीव-
धन्वने ॥ २२ ॥ युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वपरिन्दमः । एतद्राजन्
मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २३ ॥ वैशंपायन उवाच । एत-
च्च त्वा व्यवसितो निवृत्तिं सद्युपाश्रितः । जितमित्येव शकुनियुधि-
ष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥ युधिष्ठिर उवाच । रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां-
चायुतानि मे । युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति बाहैरुच्चैश्चैस्तथा ॥ २५ ॥

मेरे उतने ही रथ हैं, यह सब सोनेके दण्डे, पताका, सुशिक्षित
घोड़े और विचित्र युद्ध करने वाले योधाओंसे युक्त हैं ॥ १९ ॥
इन योधाओंमें हरएक रथी युद्ध करे चाहे न करे सहस्र रुपये
मासिक का वेतन पाता है, मैं अपने इस धनको ही दांवपर लगा
कर तुम्हारे साथ खेलता हूं ॥ २० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-
हे महाराज ! युधिष्ठिरके इनकी बात कहते ही वैरभाव रखनेवाले
दुरात्मा शकुनिने, लो यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर बलसे
फांसे डाले, कि—उसकी जीत होगई ॥ २१ ॥ तब युधिष्ठिरने
कहा, कि—युद्धमें तिरस्कार पाकर गन्धर्वराज चित्ररथने प्रसन्न
हो गांडीव धनुषधारी अर्जुनको प्रीतिके साथ जो सुवर्ण भी मालाए
पहरे तीतरकी समान वर्णके गन्धर्वदेशी घोड़े दिये थे हे राजन् !
मैं अपने उस धनको ही दांवपर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता
हूं ॥ २२—२३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—इतना सुनते ही
शकुनि समझला और लो यह भी जीत लिये, ऐसा कहकर
बलसे फांसे डालते ही उसकी जीत होगई ॥ २४ ॥ तब युधि-
ष्ठिरने कहा, कि—मेरे दस सहस्र रथ और गाड़ी हैं, जो धनेषों

एक वर्णस्य वर्णस्य समुच्चय सहस्रशः । तथा समुदिता वीराः
सर्वे धीरपराक्रमाः ॥ २६ ॥ क्षीरं पिवन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः, शालि-
तण्डुलान् । पष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवत्सः । एतद्राजन्
मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २७ ॥ वैशम्पायन उवाच । एत-
च्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनियुधि-
ष्ठिरमभाषत ॥ २८ ॥ युधिष्ठिर उवाच । ताम्रलोहैः परिवृता निधयो
ये चतुःशताः । पञ्चद्रौणिक एवैरुः सुवर्णस्याहतस्य वै ॥ २९ ॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्थेयस्य भारत । एतद्राजन् मम धनं तेन
दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३० ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यव-
सितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनियुधिष्ठिरमभाषत ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि धूतपर्वणि, देवने

पष्ठितमोऽध्याय ॥ ६० ॥

मकारके घोड़ों से जुते हुए ही खड़े रहते हैं और साठ सहस्र मेरे ऐसे घोड़े हैं, कि—उनमें एक सहस्र एक २ वर्णके हैं वह सन ही वीर और पराक्रमी हैं, वह चौड़ी छातीवाले, सब ही दूध पीते हैं और जंतम बाँवलोंका भाव खाते हैं, हे राजन् ! मैं अपने इस धनको दाँव लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २५—२७ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—यह सुन कर शकुनि सम्हला और लो यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर जर्लसे फाँसे डालते ही उसकी जीत होगई ॥ २८ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि—मेरे पास ताँबे और लोहेके सद्गुणोंमें बंद चार सौ धनभण्डार हैं जिनमेंसे हरएक में पाँच २ द्रोण परमोत्तम बहुमूल्य सोना । मरा है, मैं, अपने इस धनको भी दाँव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २९—३० ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे महााज, जनमेजय ! इतना सुनते ही शकुनि सम्हला और लो यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर फाँसे डालते ही उसकी जीत हागई ॥ ३१ ॥ पष्ठितम, अध्याय समाप्त-॥ ६० ॥

वैशंपायन उवाच । एवं प्रवर्तिते घूते घोरे सर्वापहारिणि ।
 सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत् ॥ १ ॥ विदुर उवाच ।
 महाराज विजानीहि यत्त्वां वक्ष्यामि भारत ॥ भूमूर्पोरौपथमिव न
 रोचेतापि ते भुतम् ॥ २ ॥ यद्वै पुरा जातमात्रो रुराथ गोमायुव-
 द्विस्वरं पापचेताः । दुर्योधनो भारतानां कुलघ्नः सोऽयं युक्तो
 भवतां कालहेतुः ॥ ३ ॥ गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न
 बुध्यसे । दुर्योधनस्य रूपेण शृणु कान्वां गिरं मम ॥ ४ ॥ मधु
 वै माधिको लब्ध्वा प्रपातन्नैव बुध्यते । आरुह्य तं मज्जति वा
 पतनञ्चाधिगच्छति ॥ ५ ॥ सोऽयं मत्तोऽन्तयूतेन मधुवन्न निरीक्षते ।
 प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः ॥ ६ ॥ विदितं मे महाभाह

वैशम्पायनने कहा, कि—हे जनमेजय ! उस सर्वस्वको हरने
 वाली घोर घूतक्रीड़ाके इसप्रकार उत्तरोत्तर बढ़ते चले जानेपर
 सकल संदेहोंका समाधान करने वाले विदुरने कहा, कि—हे महा-
 राज ! जैसे मृत्युके मुखमें फँसे हुए रोगीको कोई औषध अच्छी
 नहीं लगती वैसे ही जो मैं आपसे कहता हूँ वह सुनने पर आप
 को अच्छा नहीं लगेगा, तथापि जो कुछ कहता हूँ उसको ध्यान
 देकर सुनो ॥१-२॥ जिस पापात्माने गर्भसे बाहर भूमि पर आते
 ही गीदड़की समान भयानक रुदन किया था यह वहीं भरतकुल
 का नाश करने वाला दुर्योधन है, यह निःसन्देह तुम्हारे नाशका
 हेतु है ॥ ३ ॥ यह दुर्योधनरूपी गीदड़ तुम्हारे घरमें रहता है,
 परन्तु तुम मोहवश इसके स्वरूपको नहीं पहिचानते, इस विषयमें
 मेरी नीतिमयी बात सुनिये ॥ ४ ॥ हे महाराज ! मधु पीने वाला
 पुरुष मधु पीकर गिर पड़ता है, इसबात की क्या उसको खबर
 रहती है ? परन्तु जब उसके कण्ठ पर्यन्त मद्यका नशा चढ़जाता है
 तब वह अलमें डूबता है या कहीं गिर पड़ता है ॥५॥ सो यह मद्यके
 नशेकी समान चोसरके जुरमें मत्त होरहा है और इसको यह
 ज्ञान नहीं रहा है, कि—इन महारथी पाण्डवोंसे वैर करके शत्रु
 ही मेरी दुर्दशा होगी ॥ ६ ॥ हे महाभाह ! मैं जानता हूँ कि—

भोजेष्वेवासमञ्जसम् । पुत्रं सन्त्यक्तवान् पूर्वं पौराणां हित-
 काम्यया ॥ ७ ॥ अन्धका यादवा भोगाः समेताः कंसमत्यजन् ।
 नियोगात्तु हते तस्मिन् कृष्णेनाग्निघातिना ॥ ८ ॥ एवं ते ज्ञातयः
 सर्वे मोदमानाः शतं समाः । त्वन्नियुक्तः सन्वसाची निगृह्णातु
 सुयोधनम् ॥ ९ ॥ निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम् ।
 काकेनेवाग्निप्रवर्हान् शार्दूलान्क्रोष्टुकेन च । क्रीणीष्व पाण्डवान्
 राजन् मा मञ्जीः शोकसागरे ॥ १० ॥ त्यजेत् कुलार्थं पुरुषं ग्राम-
 स्वार्यं कुलं त्यजेत् । ग्रामं जनपदस्यार्थं आत्मार्थं पृथिवीं त्यजेत्
 ॥ ११ ॥ सर्वज्ञः सर्वभाषज्ञः सर्वशत्रुभयङ्करः । इति स्म-भापते
 काव्यो जम्भट्यागे महासुरान् ॥ १२ ॥ हिरण्यग्रीविनः कांश्चित्

एक भोजवंशी राजाने पुरवासियोंके हितके लिये अपने दुष्कर्मी
 पुत्रको त्याग दिया था ॥७॥ देखो अंधक, यादव और भोजवंशियों
 ने मिलकर कंसको त्याग दिया था फिर उनकी संमतिसे कृष्णने
 कंसको मार डाला अब वह सब बड़े आनन्दसे समयको बिताते हैं
 ॥८॥ हे धृतराष्ट्र ! तुम भी अर्जुनको आज्ञा दो, कि—वह पापात्मा
 दुर्योधनको दण्ड देकर ठीक करै क्योंकि—इस पापात्माका
 निग्रह होने पर ही सब कौरव सैकड़ों वर्षतक सुखसे रह सकेंगे
 ॥ ९ ॥ हे राजन् ! काक समान दुर्योधनके बदले में मयूर समान
 पाण्डवोंको वा गीदह की समान दुर्योधनके बदलेमें सिंहसमान
 पाण्डवोंको खरीदलो, तब आपको शोकसागरमें नहीं डूबना
 पड़ेगा ॥ १० ॥ शास्त्रमें कहा है कि—कुलभीरत्ताके लिये एक
 पुरुषको त्याग देय ग्रामकी रक्षाके लिये कुलको त्याग देय देशकी
 रक्षाके लिये ग्रामको त्यागदेय और अपनी रक्षा के लिये भूमिको
 त्याग देय ॥ ११ सर्वज्ञ सबका सब भाव जानने वाले और
 सकल शत्रुओंको भयदायक शुक्राचार्यने जम्भ नामक दैत्यका
 परित्याग करते समय अमुरोंसे कहा था कि—॥ १२ ॥ किसी

पत्निणी वनगोचरान् । गृहे किल कृतावासान् लोभाद्राजा न्यपी-
डयत् । स चोपभोगलोभान्नो हिरण्यार्थी पान्तप ॥ ३ ॥ आयतिं
च तदात्तश्च उभे सद्यो व्यनाशयत् । तदर्थं रामः पाण्डवा-माद्रुहः
कुरुसत्तप ॥ १४ ॥ मोहात्त्या वप्स्यसे पश्चात् पत्निं पुनरपि यथा ।
जातं जात पाण्डवेभ्यः, पुष्पमादत्स्व भारत ॥ १५ ॥ मालाकार
इवामे स्नेहं कुर्वन् पुनः पुनः । वृत्तानद्भारकारीव मैत्रान् धात्रीः
समूलहन् ॥ १६ ॥ मा गमः समुतामात्यः सख्यश्च यमक्षयम् ।
समवेतान् हि कः पार्थान् मत्स्यु येत भारत । मरुद्भिः सहितो

वामें कुछ पत्नी रहते थे वह सुवर्णारी बीट किया करते थे एक
समय वह सब पत्नी अपने २ घासलोंमें बैठे हुए थे इसी अंतर
में एक राजा तहां आया और उसने पहिले कभी न देखी हुई
यह अद्भुत बात देख लोभके वशमें दोहर एकसाथ बहुतसा
सुवर्ण पानेके लिये उन निरपराध पत्नियोंको मार डाला ॥ १३ ॥
ऐसी दुर्दृष्टिगर्भ पढ़कर वह केवल उस समय ही हनाश ही नहीं
हुआ किन्तु उसको आगेको सुवर्ण मिलनेकी भी आशा नहीं
रही तबसे तुमभी उस बदोभारी धनकी लुब्धकामें पढ़कर पाण्डवाके
साथ द्रोह मत करो ॥ १४ ॥ नहीं तो तुमको भी उम्रभरसे अन्धे
दोहर पत्नियोंका वध करनेवाले राजाकी समान पछतावा करना
पड़ेगा, हे भारत । जैसे माली बगीचेके फूलोंके पौधोंमें पानीभीच
कर उनमें जो फूल आता जाता है उसको तोड़ना रहता है तैसे ही
तुम भी पाण्डवोंको प्रेममलमे सींचते हुए उनको मांस हुए धनमेंसे
बार बार कुछ २ तोने रहो और जैसे अद्भारकारी आग लगाकर
वृत्तकी जड़मूलसे नष्ट कर डालता है तैसे पांडवोंका सर्वनाश करने
की चेष्टा मत करो ॥ १५ ॥ १६ ॥ पांडवोंके साथ विवाद करने
से सेनक मन्त्री और पुत्रों सहित तुम्हें यमराजके यहां जाना
पड़ेगा इसमें सन्देह नहीं है, क्योंकि—पाण्डवोंके इच्छे होजान

राजन्नरि साज्ञान्मरुत्पतिः ॥ १७ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्युतपर्वणि विदुरद्वि-
वाच्य एकपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

विदुर उवाच । द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैति मिथामेदं महने दाह-
णाय । तदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनः स्रनते वैर-
मुग्रम् ॥ १ ॥ प्रातिपेयाः शान्तनवा भीमसेनाः सबाह्विजाः । दुर्यो-
धनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥ २ ॥ दुर्योधनो मदेनैव
क्षेमं राष्ट्रा व्यपोहति । विषाणं गौरिव मदात् स्वयमारुजतेऽस्तमः
॥ ३ ॥ यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन् वीरः कविः स्वामिवमन्य दृष्टिम् ।
नावं समुद्रे इव बालनेत्रामारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥ ४ ॥
दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन मीयायसे त्वं जयतीति, तच्च । अतः

पर देवताओंको साथ लिये साज्ञात् स्वर्गवति इन्द्रभी उनके साथ
युद्ध नहीं करसकता ॥ १७ ॥ एकपष्ठितम अध्याय समाप्त ॥ ६१ ॥

विदुरजीने कहा, कि—जुआ खेलना कलहकी मूल है, जुएसे
परस्परका प्रेमभाव टूटजाता है, जुएमें बड़े भयके बनाव उत्पन्न
होजाते हैं, यह धृतराष्ट्रका पुत्र दुर्योधन उसही जुएको खेलकर
घोर वैरभावको रच रहा है ॥ १ ॥ दुर्योधनके अपराधसे मतीप,
शान्तनु, बाहीकवंशी और भीमवंशी सब ही राजे दुःख पावेंगे
॥ २ ॥ जैसे बैल मत्त होकर अपने सींगोंसे अपनेको ही घायल
करलेता है तैसे ही दुर्योधन भी मतवाला होकर अपने कन्याणको
माने अपने राज्यमेंसे ही निकाले देता है ॥ ३ ॥ जैसे बालक
मइल्लाहकी चलाई हुई नौकामें बैठ कर पुरुष बड़े दुःख भोगता
है और डूब जाता है, तैसे ही जो पुरुष दूसरेकी इच्छाके वशमें हो
कर चलता है वह वीर और चतुर होकर भी बड़ा दुःख भोगता
है ॥ ४ ॥ दुर्योधन युधिष्ठिरके साथ दांव लगाकर जुआ खेलरहा है
और जीतरहा है यह देखकर तुम प्रसन्न होते हो, परन्तु इसीके
कारणसे शीघ्र ही युद्धका आरंभ होगा, जिसमें अनेकों मनुष्यों

समुन्मज्जति सम्प्रहारो यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥ ५ ॥
 आकर्षस्तेऽवाकफलः सुमणीतो हृदि मौढो मन्त्रपदः समाधिः । युधि-
 ष्ठिरेण फलहस्तवायंभविन्नितोऽभिमतः स्वबन्धनो ॥ ६ ॥ प्रातिपेयाः
 शान्तनवाः शृणुध्वं काव्या वाच संसदि कौरवाणाम् । वैश्वानरं
 प्रज्वलितं सुघोरं मा यास्यध्व मन्दमनुप्रपन्नाः ॥ ७ ॥ यदा मन्थुं
 पाण्डवोऽज्ञातशत्रुर्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः । वृकोदरः सव्यसाची
 यमौ च कोऽत्र द्वीपः स्यात्सुमुखे वस्तदानीम् ॥ ८ ॥ महाराज प्रभव-
 स्त्वं धनानां पुरा द्यूतान् मनसा यावद्विच्छेः । बहुवित्तान् पाण्डवा-
 रवेज्जपेस्त्वं क्रिन्ते तत् स्याद्वमुविन्दे ह पार्थान् ॥ ९ ॥ जानी-
 महे देवितं सौवलस्य वेद द्यूते निकृतिं पार्वतीयः । गतः प्राप्तः

का नाश शत्रोयणा ॥ ५ ॥ आप केवल बातोंमेंही जुएसे मति-
 कूलता दिखाते हैं, परन्तु अन्तःकरणमें आप संमतिके निश्चय
 को छुपाए हुए हैं, सार यह है कि-परमबन्धु युधिष्ठिरके साथ
 विरोध करना आपको अभिमत है इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ६ ॥
 हे प्रतीपवंशी और हे शान्तनुवंशियों ! तुम इस सभामें कौरवोंके व्यंग
 वचन सुनो परन्तु इस आज्ञानीके अनुयायी बनकर बहती हुई
 भयानक आगमें न गिरो ॥ ७ ॥ देखो जब यह अज्ञातशत्रु युधिष्ठिर
 भीम, अर्जुन और नकुल सहदेव जुएके मद्में मनवाले होकर
 अपने क्रोधको नहीं रोक सकेंगे तब घोर उपद्रव होनेके समय तुम
 में से कौन मध्यस्थ बन सकेगा ! ॥ ८ ॥ हे महाराज ! तुम जुआ
 खेलनेमें पहिले ही, बहुतेरे धनवान् थे, फिर भी तुमने मनमें
 जुआ खेलनेका विचार किया ! यदि तुमने अधिरूपनी पाण्डवोंके
 जीत भी लिखा तो उस से तुम्हारा क्या भला होगा ? तुमको तो
 पाण्डवरूप धनको अपना बनाना चाहिये ॥ ९ ॥ मैं इस पहाड़ी
 शकुनिके जुएके खेलको जानता हूं यह जुएमें छल करना ही
 जानता है, इस कारण यह जहाँ से आया है, इसको तहाँ ही

शत्रुनिहन्त्र यातु मा यूयुयो भारत पाण्डवेयान् ॥ १० ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमंडाभारते सभापर्वणि ध्रुतपर्वणि विदुर-
वाक्ये द्विपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६२ ॥

दुर्योधन उवाच । परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं सदा, क्षतः
क्षुत्सपन् धार्तराष्ट्रान् । जानीमहे विदुर यत्पियस्त्वं बालानिवा
स्मानरमन्त्यसे नित्यमेव ॥ १ ॥ स विज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्र कामो निंदा-
मशंसे हि तथा युनक्ति । जिह्वा कथन्ते हृदयं व्यनक्ति व्यायोऽन्त-
रान् कथा मनसः प्रातिकूल्यम् ॥ २ ॥ उत्सङ्गे च व्याल इवाहितोऽसि
मार्गारवत् पोषकश्चोपहति । भर्तृघ्नं त्वान्न हि पापीयमाहु-
स्तस्मात् क्षतः किं न विभेपि पापात् ॥ ३ ॥ जित्वा शत्रून् फलं
प्राप्तं महद्वै मास्मान् क्षतः पुरुषाणीह वीचः । द्विपष्ठिस्त्रयं सम्प-
भेजे और आप पाण्डवोंके साथ युद्ध मत ठगिये ॥ १० ॥

द्विपष्ठितम अध्याय समाप्त ॥ ६२ ॥ * ॥ . *

यह सुन कर दुर्योधनने कहा, कि-हे क्षतः । तुम नित्य ही शत्रुओं
की मशंसा करते हो और धृतराष्ट्रकुमारोंकी निन्दा किया करते
हो, हम जानते हैं तुम जिनसे प्रेम करते हो, हे विदुर ! उनके लिये
तुम भदा ही हमारा बालकोंकी समान अपमान किया करते हो
॥ १ ॥ जो अपने म्यामीकी निन्दा और दूसरोंकी मशंसा करता है
उसको समझ लेय कि-यह स्वामिभक्त नहीं है, दूसरोंका प्रेमी है
तुम्हारी जिह्वा ही तुम्हारे मन और हृदयके भावको प्रकट कर रही
है, कि-तुम भीतरी मनसे हमारे वड़े ही प्रतिकूल हो ॥ २ ॥ तुम
हमारे लिये मोदमें बैठे सपेकी समान हो, और बिलावशी समान
पालनेवालेका ही गला काटनेको उद्यत हो रहे हो, हे विदुर ! देखो
स्वामिहृत्कारसे बढ़कर और कोई पापी नहीं होता, फिर तुम उस
पापसे क्यों नहीं डरते ! ॥ ३ ॥ हमने शत्रुओंको जीतकर बड़ा
फल पाया है, हे क्षतः ! स विषय में आप हमें कठोर वचन न
कहें, आप सदा हमारे शत्रुओंसे मिलनेमें ही प्रसन्न रहते हैं

योगाभिनन्दी सुदुर्द्वेपं यासि नः सम्प्रयोगात् ॥ ४ ॥ अभिन्नतां
 यासि नरोऽन्तर्गं ब्रुवन्निगूहते गुह्यमभिन्नसंस्तवे । तदाश्रितोऽपत्रप
 क्रिनु वागसे यदिच्छसि त्वं तदिहाभिभाषते ॥ ५ ॥ मानोऽवमंस्था
 विन्न मनस्तवेदं शिस्तस्य बुद्धि स्थविराणां सकाशात् । यशो रक्तस्य
 विदुर सम्प्रणीतं माव्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम् ॥ ६ ॥ अहं कर्त्तेति
 विदुर मावमंस्था मा नो नित्यं परुषाणीह बोचः । न त्वां पृच्छामि
 विदुर यद्वितं मे स्वस्ति ज्ञचर्पा तितोक्तं क्षिणु त्वम् ॥ ७ ॥ एक.
 शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्त्रा गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता ।
 तेनानुशिष्टः प्रवणादिवाग्भो यथा नियुक्तोऽस्मि तथा भवामि न
 भिनत्ति शिरसा शैलपर्वि भोजयते च यः । धीरेव कुर्वते तस्य कार्या-

और हमारे कार्योंमें चार २ द्वेषभाव दिखाते हैं ॥ ४ ॥ मनुष्य
 असह्य बात कहकर भी शत्रुता करलेते हैं, देखो छुपनेका बातको
 शत्रुसे छुपाये रखना ही ठीक होता है और तुम शत्रुकी मर्शसा
 करते हुए हमारी गुप्त बातको प्रकाशित करदेते हो, अनएव
 हे निर्लज्ज ! तुम हमारे आश्रित होकर भी हमारे विरुद्ध काम करते
 हो और जो मनमें आता है सो कह रहे हो ॥ ५ ॥ तुम चाहे सो
 कहते रहो परन्तु हमारा अपमान मत करो, हम तुम्हारे मनकी बात
 जानते हैं, अभी तुम तदपुरुषोंसे बुद्धि सीखो, तुम अपनी मतिष्ठा
 को घनाये रखलो दूसरोंके काममें हस्तक्षेप न करो ॥ ६ ॥
 हे विदुर ! मैं चाहे सो करसकता हूं, ऐसा समझकर हमारा अपमान
 न करो और निरन्तर हमको कठोर वचन भी मत कहो, मैं आपसे
 यह नहीं चूकता हूं कि-मेरा हित क्या करनेमें है ! हे विदुर ! हम
 तुम्हारी बहुत बात सह रहे हैं, अब तुम हमारा मन मत दुलाओ ७
 इस जगत्भरका शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं है,
 वह शास्ता माताके गर्भमें सोते हुए बालकका भी शासन करता
 है, जैसे जल नीचे स्थानमेंको दाँड़ता है वैसे ही मैं भी उस शास्त्रा
 के शासनके अनुसार ही काम करता हूं ॥ ८ ॥ जो अपने मस्तक

णामनुशासनम् ॥ ६ ॥ यो वलादनुशास्तीह सोऽभिप्रं तेन विन्दति ।
मित्रतामनुवृत्तन्तु समुपेक्षेत पण्डितः ॥ १० ॥ प्रदीप्य यः प्रदीप्ता
ग्निं प्राक्चिरं नाभिधावति । भस्मापि न स विन्देत शिष्टं वच-
नं भारत ॥ ११ ॥ न वासयेत् पारवर्ग्यं द्विपन्तं विशेषतः क्षत्त-
रहितं मनुष्यम् । स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ सुसान्त्विता हासती
स्त्री जहाति ॥ १२ ॥ विदुर उवाच । एतावता पुरुषं ये त्यजन्ति
तेषां सख्यमन्तवद् ब्रूहि राजन् । राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि
सान्त्वं दत्त्वा सुसलैर्घातयन्ति ॥ १३ ॥ अवाल त्वं मन्यसे राजपुत्र
बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे । येः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा पश्चादेनं

से पहाड़को तोड़ देता है और जो सपोंको भोजन देता है उसकी
बुद्धि ही सब कामोंमें मेरणा करती है ॥ ६ ॥ और जो पुरुष यत्ना-
स्कारसे दूसरेका अनुशासन करता है वह उसको अपना शत्रु बना
लेता है, इसलिये जो मित्रता रखना चाहै वह किसीके काममें
हस्तक्षेप न करे ॥ १० ॥ जो पुरुष जलती हुई अग्निको उत्तेजित
करके भी उसके समीपसे नहीं भागता है उसका ऐसा सर्वनाश
होजाता है, कि—कही उसकी राख भी दूँडी नहीं मिलती ॥ ११ ॥
हे क्षत्तः ! शत्रुका पक्ष करनेवालेको और विशेष कर अहितकार
पुरुषको अपने पास न बसायै, इसकारण हे विदुर ! अब तुम जहाँ
जाना चाहो तहाँ चले जाओ, देखो कुलटा स्त्रीको चाहे जितना
समझाओ वह अपने पतिको छोड़कर चलीजाती है ॥ १२ ॥ यह
सुनकर विदुरजीने कहा, कि—इसप्रकारके बहुत थोड़े से कारण
वश जो अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले पुरुषको त्याग देते हैं, उन
की मित्रता कभी चिरकाल रह ही नहीं सकती, राजाओंके चित्त
थोड़ी सी बातमें ही बिगड़ जाते हैं वह पहिले बड़ी भीठी यात्रे
काते हैं और पीछे मूसलोंसे कुटवाते हैं ॥ १३ ॥ हे मन्दमते
राजकुमार ! तू अपनेको चतुर और मुझे मूर्ख समझता है, परन्तु
विचार करके देख जो पहिले किसीके साथ मित्रता करके फिर

दूषयते स वाञ्छ ॥१४॥ न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः स्त्री श्रोत्रिय-
 स्पेन गृहे मद्युग्रा । ध्रुवं न रोचेद्भस्तरपभस्य पतिः कुमार्या इव पट्टि-
 वर्पः ॥ १५ ॥ अतः भियञ्चेदनुकांक्षते त्वं सर्वेषु कार्येषु हिता-
 हितेषु । स्त्रियश्च राजन् जडपंगुकांश्च पृच्छ त्वं वै तादृशार्चैव
 सर्वान् ॥ १६ ॥ लभ्यते खलु पापीयान्नरः सुभियवाग्निह । अमि-
 यस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १७ ॥ यस्तु धर्मपरश्च
 स्पादित्वा भर्तुः मियामिये । अमियाण्याह पथ्यानि तेन राजा
 सहायवान् ॥ १८ ॥ अव्याधिजं कटुज तीक्ष्णमुष्णं यशोमुपं परुषं
 पूतिगन्धि । सतां पेयं यन्न पिवन्त्यसन्तो मन्थुं महाराज पिव
 मशाम्य ॥ १९ ॥ वैचित्रवीर्यस्य यशो धनश्च याञ्छाम्यहं सह पुत्रस्य
 शरवत् । यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु ममापि च स्वस्ति दिशन्तु

उसमें दोष लगावा है वही मूर्ख है ॥१४॥ मन्दबुद्धि पुरुष वेद-
 पाठीके घरमें स्थित व्यभिचारिणी स्त्रीकी समान कभी मङ्गलकारी
 नहीं होता, जैसी कुमारी स्त्री साठ वर्षके मूढ़ पतिकी बातकी
 उपेक्षा करती है तेसे ही तू मेरी बातको नहीं मानता है ॥ १५ ॥
 हे राजन् ! यदि तू हित अहित सब ही कार्योंमें भिय वचन सुनना
 चाहता है तो स्त्री जड़ और पंगुओंसे संपत्तिकी बात धृक्ता कर
 ॥ १६ ॥ इस भुमण्डलपर मीठी बात कहनेवाले बहुतसे पापात्मा
 मिलजाते हैं परन्तु सुननेमें अच्छी न लगनेवाली हितकारी बात
 का कहने वाला और सुननेवाला दोनों ही दुर्लभ हैं ॥ १७ ॥
 जो धर्मात्मा पुरुष भिय वा अमियकी ओर दृष्टि न देकर अमिय
 और हितकारी बातें कहता है वह ही राजाका सचा सहायक है
 ॥ १८ ॥ हे महाराज ! बिना रोगके उत्पन्न दुष् तीक्ष्ण, उष्ण,
 कीर्तिनाशक, कठोर, दुर्गन्धित और जिसको सज्जन पीसकते हैं
 दुर्जन नहीं पीसकते उस क्रोधको पीजाओ और शान्तिके साथ
 बैठो ॥ १९ ॥ मैं केवल धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंके धन और यश
 को बढ़ानेकी इच्छामें तुमको बराबर सदापदेश देता रहता हूं, अर

विप्राः ॥ २० ॥ आशीविषान्नेत्रविषान् कोपयेन्न च पण्डितः ।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥ २१ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये
त्रिपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

शकुनिरुवाच । बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ १ ॥ युधिष्ठिर
उवाच । मय वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौख्यम् । अथ त्वं शकुने
कस्माद्वित्तं समनुपृच्छसि ॥ २ ॥ अयुतं प्रयुतश्चैव शङ्कुं पद्मं तथा-
वुर्दम् । खर्वं शंखं निखर्वं चप्पहापद्मं च कोटयः ॥ ३ ॥ मध्यश्चैव
पराद्धञ्च अपरं चात्र पण्यताम् । एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्या-
म्पहं त्वया ॥ ४ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो
निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्वेव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥

तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो, मैं तो तुम्हें नमस्कार करता हूँ,
ब्राह्मण मेरा मङ्गल करे ॥ २० ॥ परन्तु हे कुरुनन्दन ! विचारवान्
पुरुष नेत्रोंमें विषभरे पुरुषोंको तथा सर्पोंको कुपित नहीं करते हैं,
इसी कारण मैंने पत्रिज अन्तःकरणसे इतनी बात तुमसे कही है २१
त्रिपष्ठितम अध्याय समाप्त ॥ ६३ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ

इसप्रकार कहकर विदुरजीके मौन हो जानेपर, शकुनिने कहा
कि—हे कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! तुम जुएमें पाण्डवोंका बहुतसा
धन हार गए, अब यदि आपके पास न हारा हुआ कुछ और धन
होता कहिये ॥ १ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे शकुने ! मेरा जो
कुछ असङ्ख्यो धन है, उसको मैं जानता हूँ, उसका वृत्तांत बूझने
वाले तुम कौन ? ॥ २ ॥ अयुत, प्रयुत, पद्म, खर्व, अवुर्द, शङ्क,
महापद्म, निखर्व, कोटि, मध्य और पराद्धर्च तथा इससे भी अधिक
धनमण्डार मेरे पास हैं, उसका ही दांव लगाकर हे राजन् ! मैं
तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ ३-४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—यह
सुनते ही शकुनि सावधान हुआ और लो इसको भी जीतलिया
ऐसा कहकर बल्लमे फांसे फेंके, कि—उसकी जीत होगई ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच । गवाश्वं बहुधेनूकमसख्येयमजाविकम् । यत्
 किञ्चिदनुपर्णाशां प्राक् सिन्धोरपि सौवल् । एतन्मम धनं सर्वं तेन
 दीव्याम्पहं त्वया ॥ ६ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यव-
 सितो निरुक्तिं समुपाश्रितः । जितमित्रेव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ७
 युधिष्ठिर उवाच । पुरं जनपदा भूमिरब्राह्मणधनैः सह । अत्राह्म-
 णाश्च पुरुषा राजन् शिष्टं धनं मम । एतद्राजन् मम धनं तेन दीव्य
 म्पहं त्वया ॥ ८ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसिता
 निरुक्तिं समुपाश्रितः । जितमित्रेव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥
 युधिष्ठिर उवाच । राजपुत्रा इमे राजन् शोभन्ते र्यत्रिभूषिताः । कुण्ड-
 ल निच निष्काश्च सर्प राजत्रिभूषणम् । एतन्मम धनं राजंस्तेन
 दीव्याम्पहं त्वया ॥ १० ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो

तब युधिष्ठिरने कहा, कि—हे शकुने ! बहुतसे बैल घोड़े, गौएँ,
 बकरे मेंढे सिन्धुनदीके पूर्वमें पर्णाशा नदीके समीप रहते हैं, अपने
 इस सब धनको मैं दाँव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ ६
 वैशम्पायन कहते हैं, कि—यह सुनकर शकुनि सम्हला और लो
 यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर फाँसे डालते ही उसकी
 जीत होगई ॥ ७ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि—हे शकुने ! नगर,
 देश, भूमि, ब्राह्मणोंमें छोड़कर और सब प्रजाका धन तथा
 ब्राह्मणोंको छोड़कर और सब पुरुष, यह मेरा वचा हुआ
 धन है, इसको ही दाँव पर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ८
 वैशम्पायन कहते हैं, कि—यह सुनते ही शकुनि सम्हला और
 लो यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर फाँसे डाले, कि—उसकी
 जीत हुई ॥ ९ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि—हे राजन् ! यह राज-
 कुमार जिनको पहिर कर बड़ी शोभा पारहे हैं वह कुण्डल कण्ठे
 आदि सरल राजकीय आभूषण मेरा धन है इसको ही दाँवपर
 लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १० ॥ यह सुनकर शकुनि
 सम्हला और लो यह भी जीत लिया, ऐसा कहकर फाँसे डाले,

निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरभाषत ॥११॥
 युधिष्ठिर उवाच । श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः ।
 नकुलो ग्लह एवैको विद्व्येतन्मम तदनम् ॥ १२ ॥ शकुनिरुवाच
 मियस्ते नकुलो राजन् राजपुत्रो युधिष्ठिर । अस्माकं वशतां प्राप्तो
 भूयः केनेह दीव्यसे ॥ १३ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा तु
 तानञ्जान् शकुनिः प्रत्यपद्यत । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरम-
 भाषत ॥ १४ ॥ युधिष्ठिर उवाच । अयं धर्मान् सहदेवांश्चुशास्ति
 लोके हस्तिन् पण्डितारूपा गतश्च । अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्या-
 म्यहं चामियवत् मियेण ॥१५॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा
 व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरम-
 भाषत ॥ १६ ॥ शकुनिरुवाच । माद्रीपुत्रौ मियौ राजस्तवेमौ

कि—उसकी जीत होगई ॥ ११ ॥ तब युधिष्ठिरने कहा, कि—
 श्यामवर्ण, युवा, लाल २ नेत्र और सिंहकेसे कन्धेवाला महाबाहु
 मेरा भाई जो नकुल है उसको ही मेरे पणका धन समझिये १२
 शकुनिने कहा, कि—यह तुम्हारा मिय भ्राता राजकुमार नकुल
 हमारे वशमें होगया, कहिये अब आप दांवपर क्या धन रखकर
 खेलना चाहते हैं ॥ १३ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—तदनन्तर
 शकुनिने फांसे फिर हाथमें लिये और लो यह जीतलिया, युधि-
 ष्ठिरसे ऐसा कहकर फांसे ढाले, कि—उसकी जीत होगई ॥१४॥
 तब युधिष्ठिरने कहा, कि—यह सहदेव न्यायाधीशका काम करता
 है और इस लो।कमें पण्डित नामसे प्रसिद्ध है यह मुझ परदा ही
 मिय है और दांव पर लगानेके योग्य नहीं है तो भी इसको
 दांव पर लगाकर तुम्हारे साथ खेलता है ॥ १५ ॥
 वैशम्पायन कहते हैं, कि—यह सुनकर शकुनि समझला और
 लो इसको भी जीतलिया, ऐसा कहकर जलसे फांसे ढाले कि—
 उसकी जीत होगई ॥ १६ ॥ और फिर युधिष्ठिरसे कहनेलगा,
 कि—हे राजन् ! इन तुम्हारे परम प्यारे माद्रीपुत्रोंको मैंने जीत
 लिया, प्रतीत होता है, यह भीमसेन और अर्जुन तुम्हें इनसे

विजितौ मया । गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनघनञ्जयी ॥ १७ ॥
 युधिष्ठिर उवाच । अधर्म चरसे नूनं यो नावेक्षसि वैनयम् । यो नः
 सुमनसां मूढ भिभेदं कर्तुमिच्छति ॥ १८ ॥ शकुनिरुवाच । गर्ते
 मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति । ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि
 नयस्ते भरतर्षभ ॥ १९ ॥ स्वमेतानि न परयंति जाग्रतो वा युधि-
 स्थिर । कृतवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युरकटा इव ॥ २० ॥ युधि-
 स्थिर उवाच । यो न सङ्ख्ये नौरिव पारिनेता जेता रिपूणां राज-
 पुत्रस्तरस्त्री । अनर्हता लोकवीरेण नेन दीव्याम्यहं शकुने फाण्डु-
 नेन ॥ २१ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं
 समुपाश्रितः । जितभित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषात ॥ २२ ॥
 शकुनिरुवाच । अयं मया पाण्डवानां धनुर्द्धरः पराजितः पाण्डवः

अधिक प्यारे हैं, आप इनको दाँव पर नहीं लगा सकते ॥ १७ ॥
 यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा, कि—रे नीतिको न जाननेवाले मूढ़ !
 हमारा स्वभाव बहुत सरल है, तू हममें परस्पर भेद डलवानेकी
 इच्छासे बड़े ही अधर्मकी बातें बनारहा है ॥ १८ ॥ यह सुनकर
 शकुनि बोला कि—मतवाला पुरुष गढेमें गिरजाता है और पेड़
 पर भी चढ़ बैठता है, हे धर्मराज ! तू पाण्डवोंमें ज्येष्ठ और
 और श्रेष्ठ हो इससे मैं आपको प्रणाम करता हूँ परन्तु तुझमें
 हारा हुआ पुरुष भी खेलतेमें मतवालेकी समान जो मलाप करता
 है वह जागतेमें तो क्या स्वप्नमें भी किसी के देखनेमें नहीं आते
 ॥ १९ ॥ २० ॥ तदनन्तर युधिष्ठिरने कहा, कि—जो संग्राममें
 नीकीकी समान हमें पार लगाता है और शत्रुओंके ऊपर विजय
 पाता है ऐसा एक वीर मतापी राजकुमार अर्जुन यद्यपि दाँवपर
 लगानेके योग्य नहीं है तथापि मैं उसको पल रखकर तुमसे खेलता
 हूँ ॥ २१ ॥ वैशम्पायन कहते हैं कि—यह सुनकर शकुनि समझला
 और इसके भी जीत लिया, युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर छलसे फाँसे
 डालते ही उसकी जीत होगयी ॥ २२ ॥ और युधिष्ठिरसे कहने
 लगा, कि—हे राजन् ! मैंने इन पाण्डवोंमें प्रधान, धनुषधारी,

सव्यसाची । भीमेन राजन् दमितेन दीव्य भूत कैतवं पाण्डव तेऽव-
शिष्टम् ॥ २३ ॥ युधिष्ठिर उवाच । यो नो नेता यो युधिनः मणेता
यथा वज्रो दानवगजुरेकः । तिर्यक्प्रेक्षी सन्नतभूर्महात्मा सिंहस्कंधो
यश्च सदात्यमर्षी ॥ २४ ॥ बलेन तुल्यो यस्य युमान्न विद्यते गदा-
भृतामग्र्य इहारिमर्दनः । अनर्हता राजपुत्रेण तेन दीव्याम्यहं
भीमसेनेन राजन् ॥ २५ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततश्चतुत्वा व्यव-
सितो निकृतिं समुपाश्रितः । जितमित्येव शकुनियुधिष्ठिरमभाषत १६
शकुनिरुवाच । बहुवित्तं पराजैषीध्रीतं च सहयद्विषां न । आचक्ष्व
वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ २७ ॥ युधिष्ठिर उवाच ।
अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातॄणां दयितस्तथा । सुर्गप्राप्तं जितः कर्म
स्वयमात्मन्युपप्लुते ॥ २८ ॥ वैशम्पायन उवाच । एतच्चतुत्वा व्यव-

सव्यसाची अर्जुनको भी जीत लिया अतः तुम्हारा परममित्र भीम
सेन उवाच है उसको भी पण लगाकर खेलो ॥ २३ ॥ यह सुनकर
युधिष्ठिरने कहा, कि-हे सुमनकुमार शकुने ! दानवनाशी इन्द्रकी
समान जो सग्राममें हमारा नेता है, जिसकी समान बली इस भू-
मण्डल भरमें कोई नहीं है, जो महात्मा सदा परमक्रोधमें भरा हुआ
सिंह की सगान देड़ी गरदन करके भौं चढ़ाये हुए देखा करता है,
और गदायुद्धमें शशीण है ऐसा शत्रुनाशी राजकुमार भीमसेन
यद्यपि पणके योग्य नहीं है तो भी मैं इसको पण रखकर तुमसे
खेलता हूँ ॥ २४ ॥ २५ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-यह सुनकर
शकुनि समझना और इसको भी जीतलिया, युधिष्ठिरसे ऐसा कह
कर छलसे फांसे डालते ही उसभी जीत हो गयी ॥ २६ ॥ तब
किर घमराजसे बोला, कि-हे कुन्तीनन्दन ! तुम बहुतसा धन
और हाथी घोड़ों सहित चारों भाइयोंको भी हारचुके अतः आप
के पास बिना हारा हुआ क्या धन है उसको बताइये ॥ २७ ॥ युधि-
ष्ठिरने कहा, कि-मैं सब भाइयोंमें उदा और सबका प्यारा हूँ,
मैं अपने शरीरको ही दावपर लगाता हूँ मैं हारजाऊँगा तो
तुम्हारा काम करूँगा ॥ २८ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-यह सुन

सितो निवृत्तिं समुपाश्रितः । नितनित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २६ ॥ शकुनिरुवाच । एतत् पापिष्ठपकरोर्यदात्मानं पराजयेः । शिष्टे सति धने राजन् पाप आत्मपराजयः ॥ २७ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्त्वा मत्तान्स्तान् ग्लहे सर्वानवस्थितान् । पराजयं लोकवीरानुवत्वा राज्ञां पृथक्पृथक् ॥ २८ ॥ शकुनिरुवाच । अस्ति ते व पिपा राजन् ग्लह एवोऽपराजितः । पणस्व कृष्णा पाञ्चाली तयात्मानं पुनर्जय ॥ २९ ॥ युधिष्ठिर उवाच । नैव ह स्त्वा न महती न कृशा नातिरोहिणी । नीलकुञ्जितकेशी च तया दोष्याम्पह त्वया ॥ ३० ॥ शारदोत्पलपत्राद्या शान्द्रोत्पलगन्धया । शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥ ३१ ॥ तथैव स्यादानुशस्यात्तथा स्याद्रूपसम्पदा । तथा स्याच्छीलसम्पत्त्या यामिच्छेत् पुरुषः स्त्रियम् । कर शकुनि सावधान हुआ और यह भी जीत लिया ऐसा कह कर छल से फँसे, डालते ही उसकी जीत होगयी ॥ २६ ॥ तब धर्मराजसे बोला, कि—हे राजन् ! तुमने जो अपनेको जुएमें डार दिया वह बड़ा पापकर्म किया क्योंकि—अन्य धनके शोष होते हुए जो अपनेको पण लगाता है वह बड़ा ही पापकर्म करता है ॥ ३० ॥ वैशम्पायन जी कहते हैं कि—दुष्टात्मा शकुनिने इस प्रकार कपटकी पाशक्रीड़ामें महावीर युधिष्ठिर आदि राजकुमारोंमें से एक २ करके अलग २ सब भाइयों को जीत लिया ॥ ३१ ॥ और फिर कहने लगा, कि—हे राजन् ! तुम्हारे पास एक दांव पर लगानेके लिये तुम्हारी मिया द्रौपदी और है, जिसको कि—तुम अभी तक नहीं हारे हो, अब तुम उस पाञ्चालकुमारी द्रौपदी को पण लगाकर अपनी जीत करलो ॥ ३२ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि—हे शकुने ! जो अधिक विगनी ना अधिक लची नहीं है, न दुर्बल और न अधिक मोटी है, जिसका रूप लक्ष्मीकी समान है, केश लंबे नीले और घुघुराले हैं, नेत्र शरद अनुके कमलकी समान शरीरमें कमलकीसी गन्ध और हाथमें हरसमय शरत्फालका कमल शोभा देता है, जो मधुर भाषोपन, मरुप, मृशीलता, अनुकूलता

॥ ३५ ॥ सर्वगुणैर्दि सम्पन्नामनुकूलां भियंवदाम् । यादृशीं धर्म-
कामार्थमिद्विमिच्छेन्नरः स्त्रियाम् ॥ ३६ ॥ चरमं संविशति या
मथमं प्रतिबुध्यते । आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ३७ ॥
आभानि पद्मवद्वक्त्रं सस्वेतं मल्लिकैव च । वेदीमध्या दीर्घकेशी
ताम्रास्या नातिलोमगा ॥ ३८ ॥ तथैवंविधया राजन् पांचाल्याहं
सुमध्यया । श्लङ्घं दीव्यामि चार्चद्वा द्रौपद्या इन्त सौमल ॥ ३९ ॥
वैशम्पायन उवाच । एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता । त्रिभि-
गिर्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥ ४० ॥ चुज्जुमे सा
सभा राजन राज्ञा सज्जतिरे शुच । भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च
समजायत ॥ ४१ ॥ शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसंस्व उवाभवत् ।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःस्वसन्निव पन्नगः ॥ ४२ ॥ धृतराष्ट्रस्तु

भियवादीपन और धर्म अथ-कामकी सिद्धिमें सहायकता, आदि
पतिके अभिलषित गुणोंसे भूषित है, जो ग्वाले और भेड़ें चराने
वालोंसे भी पीछे सोती है और पहिले जागती है, कौन काम
होगया, कौन नहीं हुआ है इस बातका जो ध्यान रखती-है,
जिमका मुखरुमल पसीना आनेपर मल्लिकोंसा मालूम होता है,
जिमका पेट वेदीकी तमान केश लने और मुख लाल २ है तथा
जिसके शरीरपर अगिरु रोम नहीं है, ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी, कुशो-
दरी द्रौपदीको दाँव पर लगाकर मैं तेरे साथ खेलता हूँ, इस बात
से मुझे कष्ट होता है ॥ ३३—३६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, त्रि-
बुद्धिमान् धर्मराजके ऐमा वचन कहने पर सभामें बैठे हुए वृद्ध
पुरुष उनको बारंवार निरुकार देने लगे ॥ ४० ॥ सबल सभाके
एक साथ क्षोभ हुआ, राजे शोकमागरमें मोते खाने लगे और
भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि महात्माओंके शरीरमेंसे पसीना
टपकने लगा, ॥ ४१ ॥ विदुरजी शिरके पकड़कर सर्पकी समान
लंबी श्वासें लेतेहुए बलहीनसे हो नीचेसे मुख करके चन्ता
करने लगे ॥ ४२ ॥ परन्तु धृतराष्ट्र आनन्दके प्रवाहमें मग्न हो

संहृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः किं नितं किं नितमिति ह्याकारं नाभ्य-
रक्षत ॥ ४३ ॥ जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःसासनादिभिः इगरे-
पान्तु सभ्रानां नेत्रेभ्यः भाषजनलम् ॥ ४४ ॥ सौवज्ञस्त्वभिगार्थं
जितकाशी मदोत्कटः । जितमिषेर तानत्तान पुनरंवावपयत ॥ ४५ ॥
इति श्रीमहाभारते सभापर्वाणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये
चतुःषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

दुर्योधन उवाच । एहि क्षत्रद्रोपदीमानयस्य विद्यां भाव्यां
सम्पमतां पाण्डवानाम् । समार्जुना वेश्म परैर्दुःशीघ्रं तनास्तु
दासीभिरपुण्यशोभा ॥ १ ॥ विदुः उवाच । दुर्निभापित त्वादृशेन
न मन्द सम्बुध्यसि पाशवद्धः । मपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि
कवात्रोन्मृगः कोपयतेऽग्निनेत्रम् ॥ २ ॥ आसीविपास्ते शिरसि
पूर्णोष्ण मद्वाविषाः । मा कोविष्ठाः सुमन्दात्मन् मागमस्त्रं
कर अग्ने मतके भागको भी नहीं द्विपासके और " जीत होगई
क्या ! जीत होगई क्या ? " यह जान बुझने लगे ॥ ४३ ॥ बार
बार कण और दुःसासन आदि तो बहुत ही हँसे परन्तु समामें
बैठे हुए और लोहाके नेत्रोंमेंसे आँसू टपकने लगे ॥ ४४ ॥ दुष्टात्मा
शत्रुनिने अड्डारमें मत होकर ' यह जोत निगा, ऐ ॥ कहकर
छत्र से फामें फँस दिपे और उभी समय इसकी जीत हुई ॥ ४५ ॥
चतुःषष्टितम अध्याय समाप्त ॥ ६४ ॥

दुर्योधनने कहा, कि—हे विदुर ! तुमें जोत्र हो जाकर पाण्डवों
को मारलसमान विषा द्रौपदीको लिखालाओ, वह दुष्टा महीं आकर
इसारी द्वाभियोंके साथ चरको भाड़ने बुझानेका काम किया
करे ॥ १ ॥ यह सुनकर विदुरजीने कहा, कि—रे मूढ़ ! तुमको
यह ध्यान नहीं है, कि मैं फासोंमें बैठा हुआ हूँ और शीघ्र ही
गिरनेवाला हूँ इसीने ऐसे दुर्योधन बहरहा है और तू मृग होकर
बराबर निहोंको कुत्त कर रहा है ॥ २ ॥ हे मूढ़बुद्ध ! बड़े क्रोध
में भरे निगरर सर्व सारे गिररर फल फल रहे हैं, नू उनको और

यमत्तयम् ॥ ३ ॥ न हि दासीत्वमोपन्ना कृष्णा भवितुमर्हति ।
 अनीशेन हि राक्षसा पणे न्यस्ततेति मे मति ॥ ४ ॥ अयं
 धत्ते वेणुरियात्मयांती फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः । द्यूतं हि
 वैराग्य महाभयाय मत्तो न बुध्यतपयमन्तकाले ॥ ५ ॥ नोरुन्तुदः
 स्थान्न नृशंभवादी न हीननः परमभ्याददीन । ययास्य वाचा पर
 उद्विजेन न तां चरेदुपतो पापलोक्याम् ॥ ६ ॥ समुत्त्वान्त्यतिवा-
 दाश्च वक्त्राद्यैराहनः शोचति राज्यहानि । परस्य नामर्मसु ने पतन्ति
 तान् पण्डितो नावसृजेत्परेषु ॥ ७ ॥ अजो हि शस्त्रमगिलत् किलैकः
 शस्त्रे विपन्ने शिरसास्य भूमी । निरुन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोर
 क्रोधं दिलाकर यमालयमे जानेका काम मत कर ॥ ३ ॥ देख
 द्रौपदी किसी प्रकार भी दासी नहीं हो सकती मेरी समझमें द्रौपदी
 को दौब पर लगानेका राजा युधिष्ठिरका अधिकार ही नहीं था
 ॥ ४ ॥ जैसे नव ब्राह्मण नाश होनेका होता है तब ही उसके
 ऊपर फल लगा करते हैं तैसे ही इस नदमत्त धृतराष्ट्रके पुत्रने
 जड़ मूलसे नष्ट होनेके लिये जुएका खेल करके परम वीर और
 महाभयको उत्पन्न करलिया है अन्तकाल आजानेके कारण इस
 को इस बातका ज्ञान नहीं रहा है ॥ ५ ॥ मनुष्यको चाहिये, कि-
 किसीको मर्मवेगी पीडा न देय कठोर वचन न कहै अपने यहां
 आये हुए पुरुषके साथ नीचताका बर्ताव न करै और जिस बात
 को कहनेसे दूसरेका क्रोध आवै उस खोटी बातको मुखसे न
 कहै क्योंकि-ससारमें यह बड़ा पापकर्म है ॥ ६ ॥ दुर्वाच्य लोगों
 के मुखसे निकलते हैं, किंतु वह जिसके नित्ये कहे जाते हैं उसके
 मर्मस्थानमें चुभकर रातदिन उसको निहल करते हैं, इसलिये
 विचारशील पुरुषोंको चाहिये, कि-कभी किसीसे दुर्वचन न कहें
 ॥ ७ ॥ रे दुर्योधन ! कहने हैं, कि-किसी एक बकरेने शस्त्रको
 निगला था, सो शस्त्रको चाबते ही उसका शिर कटकर भूमिपर
 गिर पड़ा था, उसी प्रकार तू भी अपनी गर्दन काटनेके लिये इन

तद्द्वैतं मां कृपां प्राणदुष्टैः ॥ ८ ॥ किंचिदित्थं भवदन्ति पार्था
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा । तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं भवन्ति-हैव
रवनराः सदैव ॥ ९ ॥ द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्वा न युध्यते धृ-
तराष्ट्रस्य पुत्रः । तमन्वेतारो बहवः कुरुणां धूमोदये सह दुःशासनेन
॥ १० ॥ मज्जनत्यलाघूनि शिलाः प्लवन्ते मुक्षन्ति नात्रोद्भवसि
शरवदेव । मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो न मे वाचः पथ्यरूपा
शृणोति ॥ ११ ॥ अन्तो नूनं भवितायं कुरुणां सुदारुणाः सर्व-
हो विनाशः । घाघः कान्धाः सुहृदां पथ्यरूपा न भ्रूयन्ते वर्द्धते
लोभे एव ॥ १२ ॥ अ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥

१. इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि धूमपर्वणि विदुरवाक्ये

पञ्चपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६० ॥

वैशम्पायन उवाच । विगस्तु सत्तारमिति ब्रुवाणो दर्पेण मत्तो

पांडवों को साथ, घोर शत्रुता मत कर ॥ ८ ॥ देख, तर ऐसा
व्यवहार करने पर भी पाण्डव कुछ नहीं कह रहे हैं, वानप्रस्थ, गृह-
स्थी, तपस्वी, वा पूर्णविद्वान्को ऐसे दुर्वचन कोई नहीं कहता है,
अनिनीच पुरुष ही ऐसे दुर्वचन कहते हुए कुत्तों की समान भाँका
फाँते हैं ॥ ९ ॥ धृतराष्ट्र का पुत्र महाघोर कुदिल नरक के द्वार पर
पहुँच गया है इस बात का इसको ध्यान नहीं है, दुःशासन आदि
यहुतसे कौरव धूमक्रीडामें इसके साथी बने हैं ॥ १० ॥ चाहे
तोड़ी जलमें डूब जाय, चाहे पत्थर जलमें तैरने लगे और चाहे
नौका डूब जाय, परन्तु मन्दबुद्धि धृतराष्ट्र का पुत्र राजा दुर्गोचन
मेरे सदुपदेश को कभी नहीं सुनेगा ॥ ११ ॥ मित्रों की हितकारी
अच्छी संपत्ति नहीं सुनी जाती, घरावर लोभ ही बढ़ा चला गया
है, इससे स्पष्ट ही प्रतीत होता है, कि—शीघ्र ही योग्य
सर्वम्य नष्ट करनेवाला घोर युद्ध होगा ॥ १२ ॥ पञ्चपष्ठित
अध्याय समाप्त ॥ ६५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! इन्द्रिय

धृतराष्ट्रस्य पुत्रः । अथैतत् प्रातिकापीं सभायाभुवाच चैनं परमार्थ्य-
मध्ये ॥ १ ॥ दुर्योधन उवाच । त्वं प्रातिकाभिन् द्रौपदीमानयस्व
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः । क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो न
चास्माकं वृद्धिगमः सदैव ॥ २ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तः
प्रातिरामी स मृतः प्रायाच्छीघ्र राजवचो निशम्य । प्रविश्य च
एवैर हि सिंहगोष्ठं समासदन्महिषां पाण्डवानाम् ॥ ३ ॥ प्राति-
काम्युवाच । युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो दुर्योधनो द्रौपदी त्वामर्ज-
पीत् । सोऽयं मपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म नयापि त्वा कर्मणो गङ्ग-
सेनि ॥ ४ ॥ द्रौपद्युवाच । कथं त्वं वदसि प्रातिकाभिन् को हि
दीव्येन्द्रार्थ्यया राजपुत्रः । मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो हभून्ना-

उन्मत्त हुए धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधनने कहा, कि—हे विदुर ! तुमको
धिकार है और फिर सभामें बैठेहुए अनेकों श्रेष्ठ पुरुषोंके मध्य
में प्रातिकापीजी ओरको देखकर कहा ॥ १ ॥ दुर्योधन बोला,
कि—हे प्रातिकाभिन् ! तुम पाण्डवोंसे जरा भी भय मत करो और
शीघ्रही जाकर द्रौपदीको ले आओ, यह विदुर तो डर गये है,
इसीसे हमारे साथ विवाद कर रहे है और विशेषकर यह सदा ही
हमारी उन्नतिके विरोधी रहते हैं ॥ २ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं,
कि—इसप्रकार आज्ञा दिया हुआ वह प्रातिकापी सूत राजा
दुर्योधनके कहनेको सुनते ही चल दिया और जैसे कुत्ता सिंहोंकी
गुफामें घुस जाता है तैसे ही पाण्डवोंके निवासस्थानमें घुसकर
पाण्डवोंकी पटरानी द्रौपदीके पास पहुँचा ॥ ३ ॥ प्रातिरामीने
द्रौपदीसे कहा, कि—हे द्रुपदकुपत्नी ! युधिष्ठिरने द्यूतक्रीडामें
अत्यन्त आसक्त होकर तुम्हें दाँव पर लगा दिया था, सो दुर्योधन
ने तुम्हें जीत लिया है, अतएव तुमको धृतराष्ट्रके घर जाकर सन्निधि
की समान व्राम करना होगा, मैं तुम्हें निगानेको आया हूँ ॥ ४ ॥
यह सुनकर द्रौपदीने कहा, कि—अरे प्रातिकाभिन् ! तू क्या कह
रहा है ? कौन क्षत्रिय अपनी स्त्रीको दाँव पर लगाकर जुमा

न्यत्र कैतवमस्य किञ्चित् ॥ ५ ॥ प्रातिकाम्युवाच । यदा नाभूत्
 कैतवमन्यदस्य तदा देवीर् पाण्डवोऽजातशत्रु । न्यस्ता पूर्वं भ्रान्त-
 स्तेन राज्ञा स्वयञ्चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ॥ ६ ॥ द्रौपद्युवाच ।
 गच्छ त्वं क्लितं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज । किन्तु पूर्वं पराजै-
 योरात्मानमथवा नु माम् ॥ ७ ॥ एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां
 नय सूतज । ज्ञात्वा त्रिस्त्रीर्षिनमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥ ८ ॥
 वैशम्पायन उवाच । सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद्वचस्तदा ।
 युधिष्ठिर नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः । ९ ॥ कस्येशो नः परा-
 जैयोरिति तस्माद् द्रौपदी । किन्तु पूर्वं पराजैयोरात्मानमथ वापि
 माम् ॥ १० ॥ युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसंन्य इवाभवत् । न तं

खेलेंगा ? निश्चय मतीत होता है, कि-राजा जुएमें आसक्त हो
 कर उन्मत्त होगये है, क्या उनके साम-दाय लगातारके लिये कुछ
 और धन नहीं रहा था ? ॥ ५ ॥ प्रातिकामीने कहा, कि-द्रौपदी !
 राजा युधिष्ठिर सब धन हारगये, दाव पर लभानेको और कुछ
 भी नहीं रहा, तब पहिले भाइयोंको दाव पर रखवा, फिर अपने
 को लगाया और अन्तमें तुम्हें भी हार गये ॥ ६ ॥ यह सुनकर
 द्रौपदीने कहा कि-हे सूतनन्दन ! तुम सभामें जाकर घूँस खेलने
 वाले धर्मराजसे घुमो, कि-बह जुएमें पहिले अपनेघो हारे हैं
 या पहिले मुझे हारे हैं ? ॥ ७ ॥ हे सूतपुत्र ! यह घुमकर लौट
 आओ तब मुझे लिखाजाना मैं राजा युधिष्ठिरकी इस कस्तूरसे
 बहुत दुःखित हूँ, परन्तु उन्होंने पहिले किसको हारा है यह जान
 लूँ तब मैं तेरे साथ चलूँगी ॥ ८ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-
 तब वह प्रातिकामी सभामें गया और सब राजाओंके मध्यमें बैठ
 हुए युधिष्ठिरसे द्रौपदीकी कही हुई वह बात कही ॥ ९ ॥ कि-
 हे धर्मराज ! आपसे द्रौपदीने कहा है, कि-तुम पहिले किसको
 हारे हो, मुझे या अपनेघो ? ॥ १० ॥, युधिष्ठिर तो इस बात
 को सुनकर रीनरल और मूर्छितसे होगये उस सूतपुत्रको

मृत प्रत्युवाच उचन साधवसाधु वा ॥ ११ ॥ दुर्योधन उवाच ।
 इदं वागव्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रमापताम् । इदं च सर्व शृण्वन्तु
 तस्यार्थं तद्वि यद्वचः ॥ १२ ॥ वैशम्पायन उवाच । स गन्वा राज-
 भवनं दुर्योधनवसानुग । उवाच द्रौपदी मृतः प्रातिष्ठापी व्यथ-
 न्निव ॥ १३ ॥ प्रातिष्ठाभ्युवाच । सभास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति
 मन्ये प्राप्त सशयः कौरवाणाम् । न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्
 पस्त्वा नप्सति सभां राजपुत्रि ॥ १४ ॥ द्रौपद्युवाच । एवं नून व्यद-
 धात् सविधाता स्पर्शानुभौ स्मृशानोऽद्विषालो । धर्मन्त्वेकं परम मह
 लोकं स नः शमं प्राप्स्यति गोप्यमानः ॥ १५ ॥ सोऽयं धर्मो
 मात्तगात् कौरवान् वै सभ्यान् गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे । ते

अच्छा या बुधा कुत्र उत्तर न देसके ॥ ११ ॥ परन्तु दुर्योधन बोले
 उठा,, कि-द्रौपदी यहा • आकर ही इस प्रश्नको कहै यहा सब
 लोग उत्तर दी और इन युधिष्ठिरकी बातको सुन लेंगे ॥ १२ ॥
 वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-बह दुर्योधनका आशाकारी सेवक
 प्रातिष्ठापी यह मुनकर राजभवनमें गया और दुःखितसा होता
 हुआ द्रौपदीमें कहने लगा ॥ १३ ॥ प्रातिष्ठापाने कहा, कि-
 हे राजपुत्री ! सभाके लोग तुम्हें वहा ही बुलाते हैं मेरी समझमें
 अब कौरवोंका अन्तकाल आपहुंचा है, हे राजपुत्री ! पापात्मा
 दुर्योधनने ऐश्वर्यके मंदम उन्मत्त होकर तुम्हें सभामें लेजानेकी
 इच्छाकी है इससे प्रतीत होता है कि-वह अपने ऐश्वर्यभी वृद्धि
 नहीं चाहता ॥ १४ ॥ द्रौपदीने कहा, कि-सूतपुत्र ! विधाताने
 ऐसी ही होनी रची है बुद्धोंसे लेकर बालक धर्मन्त सरके ही
 ऊपर सुख दुःख पडते हैं परन्तु ससारमें धर्मको सबसे श्रेष्ठ
 कहा है आशा है,, कि-हमारा पालन किया हुआ वह धर्म हमारे
 दुःखोंको शान्त करेगा ॥ १५ ॥ कौरवोंको भी उस कर्मका उल्लंघन
 नहीं करना चाहिये हे मृतनन्दन ! सभामें बैठनेवालोंके पास
 जाकर मेरे विषयमें धर्मानुकूल बात बूझकर आ वह धर्मात्मा

मां द्रुपुर्निश्चितं तत्करिष्ये धर्मात्मानौ नीतिमन्तो वरिष्ठाः ॥ १६ ॥
 श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्या सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम् ।
 अधोमुखस्तांस्तं च न किञ्चिद्बुर्निबन्धन्तं धार्तराष्ट्रस्य बुद्धिध्वजः ॥ १७ ॥
 वैशम्पायन उवाच । युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिन्तितं ।
 द्रौपद्यः सम्मतं दत्तं प्रादिषोद्धरतर्पणम् ॥ १८ ॥ एकवस्त्रा त्वधोनीवी
 रोदमाना रजस्वला । सभामागम्य पाञ्चालि श्वशुरस्याग्रतो भव
 ॥ १९ ॥ गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप । न्यवेदय-
 न्मत धीमान् धर्मरानस्य निश्चितम् ॥ २० ॥ पाण्डवाश्च महा-
 त्मानो दीना दुःखसमन्विताः । सत्येनातिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते-
 स्म किञ्च न ॥ २१ ॥ ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा दुर्योधनः
 सूतमुवाच हृष्टः । इहैवैनामानय मातिकामिन् मत्पत्नमस्याकुरवो,
 ध्रुवन्तु ॥ २२ ॥ ततः सूतस्तस्य वशानुगामी भीतश्च कोपाद् द्रुपदा-

श्रेष्ठ पुरुष न्यायानुकूल जो कुछ कहेंगे वही करूँगी ॥ १६ ॥ सूत
 द्रौपदीके उस वचनको सुनकर तत्काल ही सभामें गया और द्रौपदी
 का वचन सबको सुनादिया सभामें बैठे हुए सब लोगोंने सुनकर
 नीचेको मुख करलिगा और दुर्योधनकी हठको जानकर किसीने
 कुछ भी नहीं कहा ॥ १७ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—उस
 समय धर्मात्मा युधिष्ठिरने दुर्योधनके अभिप्रायको समझकर द्रौपदी
 के पास दूतको भेजा और कह दिया, कि—यद्यपि तू एक वस्त्रको
 पहिरे अधोनीवी रजस्वला है तथापि रोती हुई सभामें आकर अपने
 श्वशुरके सामने खड़ी हो ॥ १८ ॥ १९ ॥ हे महाराज ! बुद्धिमान्
 वह दूत उसीसमय द्रौपदीके भवनमें चला गया और युधिष्ठिरका
 निश्चित मत निवेदन किया ॥ २० ॥ महात्मा पाण्डव अत्यन्त ही
 दुःखित, दीन और सत्यसे सर्वथा वैधुष्ट थे इस कारण क्या
 करना चाहिये, इस बातका कुछ निश्चय ही नहीं करसकते थे २१
 दुष्टात्मा दुर्योधनने पाण्डवोंको खिन्नमुख देख चित्तमें प्रसन्न
 होतेहुए अपने सारथीसे कहा, कि—हे मातिकामिन् ! द्रौपदीको
 यहां ही लिवाला, कौरवोंको कुछ उत्तर देना है वह उसके सामने
 ही देंगे ॥ २२ ॥ तब दुर्योधनका आज्ञाकारी वह सूत द्रौपदीके

तमजायाः विहायमानं पुनरेव सभ्यानुवाच कृष्ण! किमहं ब्रवीमि
॥ २३ ॥ दुर्योधन उवाच । दुःशासनैषः मम सुतपुत्रो वृकोदरादु-
द्विजतेऽल्पचेताः । स्वयं प्रगृह्णान्य बाणसेनो किन्ते करिष्यन्त्यवशाः
सपत्नाः ॥ २४ ॥ ततः स चोत्थाय स राजपुत्रः श्रुत्वा भ्रातुः
शासनं रक्तदृष्टिः । प्रविश्य तद्वेश्म महारथानामित्यब्रवीद् द्रौपदीं
राजपुत्रीम् ॥ २५ ॥ एषोहि पांचालि जितासि कृष्ण! दुर्योधनं
पश्य विमुक्तलज्जा । कुरुन् भजस्वायनपद्मनेत्रे धर्मेण लब्धासि
सभां परैर्हि ॥ २६ ॥ ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा विवर्णमामृज्य
मुखं करेण । आर्त्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुत्र-
वस्य ॥ २७ ॥ ततो जव्नेनाभिससार रोषाद् दुःशासनस्तामभि-

कोपसे भयभीतहुआ दुर्योधनके मतको छोड़कर फिर सभासदों
से घूमने लगा, कि—मैं द्रौपदीसे क्या कहूँ ॥ २३ ॥ उस समय
दुर्योधनने मातिकांभीकी ओर क्रूरदृष्टिसे देखते हुए अपने छोटे
भाई दुःशासनसे कहा कि—हे भाई ! यह सुतपुत्र मातिकांभी बहुत
ही छोटे चित्तका है, भीमसेनसे डरता है, तू स्वयं ही द्रौपदीको
पकड़ कर लेआ, पराधीन हुए शत्रु पाण्डव तेरा क्या करसकते
हैं? ॥ २४ ॥ इस भ्राताकी आज्ञाको सुनते ही राजकुमार दुःशासन
लाल २ नेत्र क्रिये उठकर चलदिया और महारथी पाण्डवोंके
भवनमें जाकर राजपुत्री द्रौपदीसे कहने लगा, कि—॥ २५ ॥
अरी द्रौपदि ! चल उठ, तुम्हें हमने जीतलिया है, अब तू लज्जा
को त्यागकर दुर्योधनको देख, हे कमलकी की समान विशाल
नेत्रोंवाली ! हमने तुम्हें धर्मसे पाया है, सभामें चल और कौरवों
की सेवाकर ॥ २६ ॥ द्रौपदी दुष्टात्मा दुःशासनकी बात सुनकर
बड़ी दुःखित और भयभीत हो अपने मलिन मुखको हाथोंसे
पोछती हुई वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी स्त्रियोंके समीपको दौड़कर जाने
लगी ॥ २७ ॥ तब तो पोषात्मा दुःशासन भी क्रोधमें भरा वडे

गर्जमानः । दीर्घेषु नीलेष्वय चोर्मिमत्सु जग्राः केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥ २८ ॥ ये राजसूयावभृथे जलेन महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः । ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं बलात्ममृष्टा धृतराष्ट्रेण ॥ २९ ॥ स तां पराकृष्य सभासमीपमानीय कृष्णमतिदीर्घकेशीम् । दुःशासनो नाथवतीमनाथवचचर्कप वायु कदलीमिवार्चाम् ॥ ३० ॥ सा कृष्यमाणा नमितांगयष्टिः शनैरुवाचाथ रजस्वलास्मि । एकञ्च वासो, मम मन्दबुद्धे सभा नेतुं नार्हसि मापनार्य ॥ ३१ ॥ ततोऽब्रवीत्तां मसमं निगृह्य केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् । कृष्णञ्च जिष्णुञ्च हरिं नरञ्च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥ ३१ ॥ दुःशासन उवाच ॥ रजस्वला वा भव याज्ञसेनि एकाम्बरोवाप्यथ

जोरसे गरजता हुआ महारानी द्रौपदीके पीछे दौड़ा और उसके लंबे नीले कुंचित केशोंको पकड़ लिया ॥ २८ ॥ आँ ! जो केश कुछ ही पहिले राजसूय यज्ञके अवभृथ स्नानके समय मन्त्रपूतजल से सींचे गए थे इस समय धृतराष्ट्रके पुत्रने पाण्डवोंका तिरस्कार करते हुए उन ही केशोंको बलात्कारसे पकड़लिया ॥ २९ ॥ दुर्मति दुःशासन सनाया द्रौपदीको अनाथाकी समान केश पकड़कर घसीटता हुआ सभाके समीप लेआया दीर्घकेशी द्रौपदी उससमय पवन के झोकेसे विचलितहुए फेलेके खंभेकी समान कांपनेलगी ॥ ३० ॥ उस समय भुङ्ककर घसिटती हुई द्रौपदीने धीरेसे कहा, कि-अरे दुष्ट मूर्ख दुःशासन ! मैं रजस्वला हूँ और एक ही वस्त्रको पहन रही हूँ, इस दशामें मुझ सभामें लेजाना उचित नहीं है ॥ ३१ ॥ दुःशासनने उसके कहने पर कुछ ध्यान नहीं दिया और हठता के साथ द्रौपदीके केश पकड़कर कहनेलगा, कि-अरी दुपदकुमारी ! तू रजस्वला हो, चाहे एकवस्त्रा हो, और चाहे नंगी हो तुझें हमने जुएमें जीता है इस कारण हमारी दासी है, अब तुझें नीच स्त्रियोंकी समान हमारी दासियोंमें रहना पड़ेगा ऐसे कठोर वाक्यों से अत्यंत पीड़ित होकर द्रौपदी अपनी रक्षाके लिये है कृष्ण ! है

वा विवस्त्राद्युते जिता चासि कृतासि दासी दासीषु वासश्च यथो-
पजोपम् ॥ ३३ ॥ वैशम्पायन उवाच । प्रकीर्णकेशी पतितार्द्ध-
वस्त्रा दुःशासनेन व्यवधूयमाना । ह्रीमत्यमर्षेण च दहमाना शनै-
रिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥ ३४ ॥ द्रौपद्युवाच ॥ इमे सभायामुप-
नीतशास्त्राः क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकन्याः । गुरुस्थाना गुरुवश्चैव
सर्वे तेपामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥ ३५ ॥ नृशंसकर्मन्त्वमनार्यवृत्तं
मा मां विवस्त्रां कुरु मां विकार्षीः । न मर्षयेद्युस्तव राजपुत्राः से-
न्द्रापिदेवा यदि ते सहायाः ॥ ३६ ॥ धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः । वाचापि भर्तुः परमाणुमात्रमि-
च्छामि दोषं न गुणान् विसृज्य ॥ ३७ ॥ इदन्त्वकायं कुरुवीरमध्ये
रजस्वला यत्परिकर्षसे माम् । न चापि कश्चित् कुर्वतेऽत्र कुत्सां ध्रुवं

अर्जुन ! हे हरे ! हे नर ! इसमवार चिन्ता २ कर विलाप करने
लगी ॥ ३२ ॥ ३१ ॥ वैशंपायनजी कहते हैं, कि—जनेमेजय !
उस समय दुःशासनके निर्दयताके साथ घसीटनेके कारण द्रौपदी
के केश बिखर गए और आधे शरीर परसे वस्त्र उतर गया तब तो
एक साथ लज्जा और क्रोधमें भरकर द्रौपदी धीरेसे कहने लगी
॥ ३४ ॥ द्रौपदीने कहा, कि—अरे दुष्ट ! इस सभामें यह सब ही
शास्त्रके ज्ञाता, क्रियावान्, इन्द्रकी समान प्रतिष्ठावाले मेरे बड़े
बैठे हैं, उनके सामने मैं इस दशामें कैसे खड़ी हो सकूंगी ॥ ३५ ॥
अरे दुराचारी ! इस नीचकर्मको छोड़ मुझें नंगी मतकर
और घसाटे भी मत, अरै यदि इन्द्रको साथमें लेकर देवता तेरी
सहायता करनेको आवेंगे तब भी राजपुत्र पाण्डव तुझें क्षमा
नहीं करेंगे ॥ ३६ ॥ महात्मा धर्मपुत्र सज्जनोंके सेवन फिये हुए
धर्ममार्गका ही अवलम्बन कह रहे हैं और धम ऐसा सूक्ष्म पदार्थ
है, कि—उसको बहुत ही ध्यान देकर देखना चाहिये इसकारण
मैं स्वामीकी बातमें गुणको छोड़ कर कभी दोषदृष्टि नहीं करनी
चाहती ॥ ३७ ॥ अरे दुष्टात्मन् ! मैं रजस्वला हूँ वृ कुरुवंशी वीर

तवेदं मतमभ्युपेतः ॥ ३८ ॥ धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां धर्म-
स्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् । यत्र क्षातीर्ता कुरुधर्मवेलां प्रेक्षन्ति सर्वे
कुरवः सभायाम् ॥ ३९ ॥ द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं
क्षत्रुस्तथैवास्य महात्मनोऽपि । राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं लक्षयन्ते
कुरुक्षेत्रमुख्याः ॥ ४० ॥ वैशम्पायन उवाच । तथा ब्रुवन्ती कुरुणं
सुमध्यमा भर्तृन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत् । सा पाण्डवान् कोप-
परीतदेहान् सन्दीपयामास कटाक्षपातैः ॥ ४१ ॥ हृतेन राज्येन
तथा धनेन रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव । यथा प्रपाकोपसमीरितेन
कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥ ४२ ॥ दुःशासनश्चापि समीच्य
कृष्णामवेक्षमाणं कृष्णान् पतीस्तान् । आधूय वेगेन विसंश-

पुरुषोंके सामने मुझ घेंसीट रहा है तेरे इस अनुचित कर्मको
देखते हुए भी कोई मुझें धुरा नहीं कहते इससे प्रतीत होता है
कि- स दुराचारमें इनकी भी संमति है ॥ ३८ ॥ हाय ! भरत-
वंशियोंको धिक्कार है क्षत्रिय धर्मशोंका आचरण तो एक साथ ही
नष्ट होगया क्योंकि-सभामें बैठे हुए सब ही कौरव अपने नेत्रों
से इस निजकुलकी धर्मवर्षादा के चमत्करणको देख रहे हैं ३९
इससे प्रतीत होता है, कि-द्रोण, भीष्म और महात्मा विदुरमें भी
कुछ सत्त्व नहीं रहा, तथा प्रधान २ कुरुवंशी वृद्ध क्षत्रिय भी
दुर्योधनके इस नीचकर्मरूप घोर अधर्मको बैठे २ देख रहे हैं
और कुछ नदी कहते ॥ ४० ॥ कोपमें भरे अपने पति पाण्डवों
की ओरको फनखियोंसे देखती हुई द्रौपदीने ऐसे दीनताके
वचन कहकर मानो उनके शरीरोंमें दहकती हुई क्रोधाग्निको
प्रज्वलित कर दिया ॥ ४१ ॥ लज्जा और क्रोधभरी दृष्टिसे द्रौपदी
के देखने पर पाण्डवोंको जैसा दुःख हुआ, सम्पूर्ण, राज्य, धन
और नानामकारके अष्ट रत्नोंके बिन जानेपर भी तैसा दुःख नहीं
हुआ था, ॥ ४२ ॥ दुष्टात्मा दुःशासनने द्रौपदीको दीनताके साथ अपने
पतिपुत्रोंकी ओरको दृष्टिपात करते देखकर जोरसे घसीटा, जिससे
यह मूर्छितसी होगई तब ओ दासी ! ओ दासी ! कहकर जोरसे

कन्यामुवाच दासीति हसन् सशब्दम् ॥४३॥ कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव
हृष्टः सम्पूजयामास हसन् सशब्दम् । गान्धारीराजः सुधलस्य पुत्र-
स्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥ ४४ ॥ सभ्यास्तु ये तत्र वभूवुरन्ये
ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेण चैव । तेषामभूद् दुःखमतीव कृष्णां दृष्ट्वा
सभायां परिकृप्यमाणाम् ॥ ४५ ॥ भीष्म उवाच ॥ न धर्मं
सौन्दर्यात् सुभगे विवेक्तुं शक्नोमि ते मन्त्रमिदं यथावत् । अस्त्रो
द्युतः पणितुं परस्वं त्रिपाश्र्व भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥ ४६ ॥
त्यजेत सर्वा पृथिवीं समृद्धां युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात् । उक्तं
जितोऽस्मीति च पाण्डवेन तस्मान्क शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥४७॥
धृतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु कुन्तीसुतस्तेन निष्पृकामः । न मन्यते

हँसनेलगा ॥ ४१ ॥ उस समय कर्णने भी वित्तमें मसन्न होकर
'बहुत ठीक, बहुत ठीक, कहा और गान्धारराज शकुनि उसकी
मशंसा करनेलगा ॥ ४४ ॥ इन दो को छोड़कर उस सभामें और
जितने लोग बैठे थे, उनको जब दुःशासन द्रौपदीको सभामें
पसीटनेलगा तो बहुत ही दुःख हुआ ॥ ४५ ॥ उस समय भीष्म
जीने द्रौपदीकी ओरको देखकर कहा, कि—हे सुभगे ! एक ओर
तो यह बात है, कि—पराधीन पुरुष दूसरेके धनको दाँव पर नहीं
लगा सकता, दूसरी ओरको ध्यान देता हूँ तो स्त्री अपने पतिका
धन है, यह दोनों बातें बराबर चल रखती हैं, इसलिये मैं तेरे
मरनका ठीक २ उत्तर नहीं देसकता ॥ ४६ ॥ देख, धर्मात्मा
युधिष्ठिर सरल पृथ्वीका त्याग कर सकृते हैं परन्तु धर्मसे एक
पग भी नहीं हट सकते, विशेष कर उन्होंने अपने मुखसे स्वीकार
करलिया है, कि—मैं हार गया, इसलिये मैं तेरे मरनके विषयमें
ठीक २ विचार नहीं करसकता ॥ ४७ ॥ शकुनि जुआ खेलनेमें
सब मनुष्योंसे बढ़कर है, युधिष्ठिरने स्वयं ही उसके साथ खेलने
की अभिलाषा करी विशेषकर यह स्वयं ही तेरे इस अपमानकी
उपेक्षा कर रहे हैं, इसकारण मैं तेरे मरनका उत्तर नहीं देसकता

त्वा निवृत्तिं युधिष्ठिरस्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥ ४८ ॥ द्रौप-
 युवाच । आहूय राजा कुशलैरनायदुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम् ।
 द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः कस्मादयं नाम निष्प्रकामः ॥ ४९ ॥ अशुद्ध-
 भावैर्विकृतिप्रवृत्तैरबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्रथः । सम्भूय सर्वैश्च
 जितोऽपि यस्मात् पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ॥ ५० ॥ तिष्ठन्ति चेमे
 कुरवः सभायापीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम् । समीक्ष्य सर्वे
 मम चापि वाक्यं विधूत मे प्रश्नमिमं यथ वत् ॥ ५१ ॥ वैशम्पायानन
 उवाच ॥ तथा ब्रुवन्तीं कुरुणं रुदन्तीमवेक्ष्यमाणं कृपणान् पती-
 स्तान् । दुःशासनः परुषाण्यभियाणि वाक्यान्मुवाचामधुराणि
 चैव ॥ ५२ ॥ तां कृप्यमाणान् रजस्वलाञ्च सस्तोत्तरीयामतदर्हमा-
 णाम् । वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरञ्च चकार कौपं परमात्तरुः ५३
 इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने
 पञ्चमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

॥ ४८ ॥ यह सुनकर द्रौपदीने कहा, कि-जुएके प्रेमी, दुष्टात्मा
 नीचोंने महाराज धर्मपुत्रको घुलाकर जुआ खेलनेका आग्रह किया
 था, फिर यह कैसे कहते हो कि-उन्होंने स्वयं जुआ खेलनेकी
 अभिलाषा करी ? ॥ ४९ ॥ कौरव पाण्डवोंमें आगे गनने योग्य
 महाराज युधिष्ठिर छली पापात्माओंके कपटीपनको न समझकर
 ही इनके साथ जुआ खेलनेको उद्यत हागए, इन सब सूत्रोंने इकट्ठ
 होकर उनका जीत लिया, तब पीछेस उन्होंने इनके कपटको समझा
 है ॥ ५० ॥ जो कुछ भी हुआ हो इस समामे' अनेकों कुत्तवशी
 बैठे हैं, जिनके पुत्र और पुत्रोंकी बहुषं हैं, वह सब मेरे प्रश्नको
 सुनकर उस पर विचार करके ठीक २ उत्तर दें ॥ ५१ ॥ पाञ्चाल-
 राजकुमारी द्रौपदी अपने पतियोंकी ओरको ताकती हुई इस
 प्रकार कहते २ कुरुणाधरे स्वरसे विलाप कर रहा थी, दुष्टात्मा
 दुःशासन उसको बड़े ही कठोर वचन कहनेलगा ॥ ५२ ॥ द्रौपदी
 रजस्वला थी और उसके शरीर परसे वस्त्र उतर गया था तथापि
 दुःशासन उसको घसीट जाना था, इस अनुचित दुःशाको देख
 कर चित्तमें व्याकुलहुए भीमसनको युधिष्ठिरके ऊपर बड़ा क्रोध
 आया ॥ ५३ ॥ पट्टपठितम अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ ६ ॥

भीम उवाच । भवन्ति गोहे बन्धक्यः कृतवानां युधिष्ठिर ।
 न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ॥ १ ॥ काश्यो यद्-
 नमाहार्पाद् द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम् । यथान्ये पृथिवीपाला यानि राजा-
 न्युपाहरन् ॥ २ ॥ बाह्नानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च । राज्य-
 मात्मा वयश्चैव कैतवेन हृतं परैः ॥ ३ ॥ न च मे तत्र कोपोऽभूत्
 सर्वस्येशो हि नो भवान् । इमं त्वतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पश्यते ४
 एषा हानर्हती चाला पाण्डवान् प्राप्य कौरवैः । त्वत्कृते विलश्यते
 क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ ५ ॥ अस्याः कृते मन्थुरयं त्वपि राज-
 न्निपात्यते । बाहू ते संप्रथदयोमि सहदेवाग्निमानय ॥ ६ ॥ अर्जुन
 उवाच । न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः । परैस्ते नाशितं
 नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥ ७ ॥ न सकामा परे कार्ष्ण धर्ममेवाचरो-

भीमसेनने कहा, कि—हे युधिष्ठिर ! जुआरियोंके घरोंमें घेरयाएं
 होती हैं वह उनको भी दांव पर लगाकर जुआ नहीं खेलते उन
 के ऊपर भी दया करते हैं ॥ १ ॥ देखिये, काशिराज तथा अन्य
 राजाओंने जो बहुतसा धन, उत्तमोत्तम पदार्थ और रत्न भेटमें दिये
 थे वह सब ॥ २ ॥ बाहन, धन, कवच, शस्त्र, राज्य, अपना शरीर
 और हमको भी दांव पर लगा दिया और शत्रुओंने सब जीतलिया
 ॥ ३ ॥ इस बात पर मुझें क्रोध नहीं आया क्योंकि—आप हमारे
 सर्वस्वके स्वामी हैं, परन्तु जिस दांव पर आपने द्रौपदीको लगाया
 वह मुझें बड़ा ही अनुचित मालूम हुआ ॥ ४ ॥ देखिये पापात्मा
 तुच्छ कौरव केवल आपके दोपसे ही पाण्डवोंकी मिया घाला
 द्रौपदीको अनुधिन बलेश देरहे हैं ॥ ५ ॥ हे राजन् ! इसी कारण
 मुझें आपके ऊपर क्रोध आरहा है, आपने जिन भुजाओंसे जुआ
 खेला है आपके उन दोनों हाथोंको भस्म कर दूंगा हे सहदेव !
 जाकर आग तो लेआओ ॥ ६ ॥ यह सुनकर अर्जुनने कहा, कि
 हे भीमसेन ! ऐसे दुर्बचन तुमने पहिले कभी नहीं कहे थे, निःस-
 न्देह शत्रुओंने तुम्हारे धर्मगौरवको नष्ट कर दिया है ॥ ७ ॥

त्तम् । आतरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्तितुमर्हति ॥ ८ ॥ आहूतो
 हि परं राजा क्षात्रं व्रतयन्नुस्मरन् । दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्त्ति-
 करं ममत् ॥ ९ ॥ भीमसेन उवाच । एवमस्मिन् कृतं त्रिधा यदि
 नाहं धनञ्जय । दीप्तेऽग्नौ सहितो बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥
 वैशम्पायन उवाच । तथा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् धृ-
 तराष्ट्रजः । क्लिरयमानाश्च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥
 याज्ञसेन्या यद्युक्तं तद्वाक्यं विब्रूत पार्थिवः । अविवेकेन वाक्यस्य
 नरक सद्य एव नः ॥ १२ ॥ भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुलद्वन्द्वमाबुभौ ।
 समेत्य नाहतुः किञ्चिद्बिदुरश्च महामति ॥ १३ ॥ भारद्वाजश्च सर्व-
 पामाचार्यः कृप एव च । कुत एतावन्निमग्नं नाहतुर्द्विजसत्तमौ १४
 ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशम् । कामक्रोधौ समुत्-

शत्रुओंके मनकी कामनाको पूरी मत करो, श्रेष्ठ धर्मका ही आच-
 रण करो, जरा विचारो तो, धर्मात्मा बड़े आताका कौन अपमान
 करता है ? ॥ ८ ॥ देवो जब शत्रुओंने जुआ खेलनेकी बुलाया
 तब महाराजने क्षत्रियधर्मको याद करके उनकी इच्छाके अनुसार
 धृतकीड़ा करी, यह पाप हमारे लिये बड़ा यश देनेवाली है ॥ ९ ॥
 भीमसेनने कहा, कि—हे धनञ्जय ! यदि मैं पहिलेसे ऐसा नहीं
 जानता होता तो तब ही मैंने इनकी दोनों भुजाओंको बलात्कार
 से भस्म कर दिया होता ॥ १० ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि—
 हे जनमेजय ! धृतराष्ट्रके पुत्र विकर्णने पाण्डवोंको दुःखित और
 द्रौपदीको कातर देखकर सभामें घड़े हुए सब राजाओंसे कहा,
 कि—॥ ११ ॥ द्रौपदीने जो बात कही है, तुम सब उसके विषयमें
 भलेमकार विचार करके कहो, यथार्थ विचार न करनेसे हमको
 नरकगामी होना पड़ेगा ॥ १२ ॥ कौरवोंमें हृद् भीष्म, धृतराष्ट्र
 और महामति बिदुरजीने समझि करके कुछ उत्तर क्यों नहीं दिया
 ॥ १३ ॥ सबके आचार्य द्रोण और कृपाचार्य यह दोनों द्विजर
 इस प्रश्नका कुछ जवाब क्यों नहीं देते ! ॥ १४ ॥ और जो सब

सृज्य ते ब्रुवन्तु यथापति ॥ १५ ॥ गदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्प-
 सकृच्छुभा । विमृश्य कस्य कः पक्ष पार्थिवा वदतोत्तमम् ॥ १६ ॥
 एवं स बहुशः सर्वानुक्त्वास्तान् सभासदः । न च ते पृथिवीपाला-
 स्तमूचुःसाध्वसाधु वा ॥ १७ ॥ उक्त्वा सकृच्चयो सर्वान् विकर्णः
 पृथिवीपतीन् । पाणौ पाणि विनिष्पिप्य निःश्वसंस्निग्धमब्रवीत् ॥ १८ ॥
 विद्युत् पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन । मन्ये न्याय्यं यदेनाहं
 तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥ चत्वार्यर्धाहुन्नरश्रेष्ठा व्यसनानि
 महीक्षिताम् । मृगयां पानमत्तांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥ २० ॥
 एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्त्तते । तयायुक्तेन च कृतां
 क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥ तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्त्तता

राजे चारों ओर इकट्ठे बैठे हैं, यह सब राग द्वेषको त्यागकर जो
 उचित हो सो बतावें ॥ १५ ॥ इस पवित्रता, द्रौपदीने वार २
 जिस बातको कहा है, उस विषयमें सब लोग विचार करें और
 जिसकी समझमें जो कुछ आवे उसको अलग २ कहें ॥ १६ ॥
 इसप्रकार विकर्णने उन सभासदोंसे कई बार कहा, परन्तु उन
 राजाओंने से किसीने भी भला या बुरा कुछ उत्तर नहीं दिया
 ॥ १७ ॥ इसप्रकार उन राजाओंसे बार २ कहनेपर भी कुछ
 उत्तर न पाकर विकर्णने हाथसे हाथको मलकर लंबे श्वास लेते
 हुए कहा, कि-॥ १८ ॥ अब यह राजे कुछ उत्तर दें वा न दें
 परन्तु हे कौरवों! इस विषयमें मैं जिस बातको न्याय समझता हूँ
 वह अवश्य ही कहूंगा ॥ १९ ॥ श्रेष्ठ पुरुषोंने राजाओंकी चार
 बातोंको व्यसन कहा है एक मृगया- (शिकार) दूसरी मद्य पीना
 तीसरी जुआ खेलना और चौथी स्त्रीसङ्गमें अधिक आसक्त होना
 ॥ २० ॥ मनुष्य इन बातोंमें आसक्त होनेपर धर्मसे गिरजाता है
 और ऐसे दुर्व्यसनी पुरुषका काम लोकमें प्रामाणिक नहीं माना
 जाता ॥ २१ ॥ सो जुआरियोंके मुलाये हुए पुच्छिरने घृतरूप

सुशम् । संपादनेन कितवैगस्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥ साधारणी
 च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता । जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन
 कृतः पणः ॥ २३ ॥ इयञ्च कीर्तिना कृष्णा सौबलेन पणार्थिना ।
 एतत्सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥ एतच्छ्रुत्वा
 पदान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत । विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि
 निन्दताम् ॥ २५ ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
 मय्यद्य रुचिरं बाहुभिर्दं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥ कर्ण उवाच । दृश्यन्ते वै
 विकर्णेह वैकुण्ठानि बहून्यपि । तज्जगत्तस्त्रिनाशाय यथाग्निररणी-
 मजः ॥ २७ ॥ एतेन किंचिदप्याहुश्चोदिता सपि कृष्णया ।
 धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥ त्वन्तु केवल-
 दुर्व्यसनमे आसक्तं होकर द्रौपदीको दांव पर लगाया है ॥ २२ ॥
 और विशेष बात यह है, कि—यह सुशीला द्रौपदी पाँचों ही
 पाण्डवोंकी स्त्री है, जिसपर भी युधिष्ठिर द्रौपदीको दांवपर लगाने
 से पहिले अरनेको हाजुके थे. इसलिये द्रौपदीको दांवपर लगाने
 का इनको कुछ अधिकार नहीं था ॥ २३ ॥ इधर शकुनिने दांव
 लगानेके लिये द्रौपदीका नाम लिखा था, यह सब विचारकर देखने
 पर मेरी समझमें तो द्रौपदी नहीं जीती गई ॥ २४ ॥ यह सुनते
 ही विकर्णकी मशंसा और शकुनिकी निंदा करनेवाले सकल सभा-
 सदोंका बड़ा कोलाहल हुआ ॥ २५ ॥ उस कोलाहलके कुछ देर
 में बन्द होमाने पर क्रोधमें भरेहुए कर्णने विकर्णकी सुंदर भुजा
 को पकड़कर कहा ॥ २६ ॥ कर्ण बोला. कि—हे विकर्ण ! मैं
 देखता हूं, कि इस समयमें तू बड़ी जलती आँतें कर रहा है मदीत
 होना है, कि—जैसे अरणीघाटमें उत्पन्न हुआ अग्नि उस काठ
 को ही भस्म कर देता है तैसे ही तू भी जिस कुत्रमें उत्पन्न हुआ
 है उसका ही नारा करना चाहता है ॥ २७ ॥ देख द्रौपदीके बार
 बार मरन करने पर भी यह जो राजे बैठे हैं. कुछ नहीं कहते,
 क्योंकि—यह द्रौपदीको धर्ममें जीतीहई मानते हैं ॥ २८ ॥ परंतु

सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥ यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्य-
 सकृच्छुभा । विमृश्य कस्य कः पत्न पार्थिवा वदतोत्तमम् ॥ १६ ॥
 एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः । न च ते पृथिवीपाला-
 स्तमूचुःमाध्वसाधु वा ॥ १७ ॥ उक्त्वा सकृत्तथो सर्वान् विकर्णः
 पृथिवीपतीन् । पाणौ पाणिं विनिष्पिप्य निःश्वसंस्निदमवधीत् ॥ १८ ॥
 विव्रूत पृथिवीपाला वाक्च मा वा कथंचन । मन्ये न्याय्यं यदत्राहं
 तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥ चत्वार्यर्षाहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि
 महीक्षिताम् । मृगयां पानपक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥ २० ॥
 एतेषु हि नराः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्चते । तथायुक्तेन च कृतां
 क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥ तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्चता

राजे चारों ओर इकट्ठे बैठे हैं, यह सब राग द्वेषको त्यागकर जो
 उचित हो सो बतावें ॥ १५ ॥ इस पतिव्रता द्रौपदीने बार २
 जिस बातको कहा है, उस विषयमें सब लोग विचार करें और
 जिसकी समझमें जो कुछ आवे उसको अलग २ कहें ॥ १६ ॥
 इसप्रकार विकर्णने उन सभासदोंसे कई बार कहा, परन्तु उन
 राजाओंमें से किसीने भी भला या बुरा कुछ उत्तर नहीं दिया
 ॥ १७ ॥ इसप्रकार उन राजाओंसे बार २ कहनेपर भी कुछ
 उत्तर न पाकर विकर्णने हाथसे हाथको मलकर लंबे स्वास लेते
 हुए कहा, कि - ॥ १८ ॥ अब यह राजे कुछ उत्तर दें वा न दें
 परन्तु हे कौरवों! इस विषयमें मैं जिस बातको न्याय समझता हूं
 वह अवश्य ही कहूंगा ॥ १९ ॥ श्रेष्ठ पुरुषोंने राजाओंकी चार
 बातोंको व्यसन कहा है एक मृगया (शिकार) दूसरी मद्य पीना
 तीसरी जुआ खेलना और चौथी स्त्रीमसक्तमें अधिक आसक्त होना
 ॥ २० ॥ मनुष्य इन बातोंमें आसक्त होनेपर धर्मसे पिरजाता है
 और ऐसे दुर्ब्यसनी पुरुषका काम लोकमें मायाविक नहीं माना
 जाता ॥ २१ ॥ सो जुआरियोंके मुलाये हुए बुविष्ठिरने धृतरूप

भृशम् । संपादनेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥ साधारणी
 च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता । जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन
 कृतः पणः ॥ २३ ॥ इयञ्च कीर्तिना कृष्णा सौवलेन पणार्थिना ।
 एतत्सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥ एतच्छ्रुत्वा
 महान्नादः सभ्यानामुदतिष्ठत । विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि
 निन्दताम् ॥ २५ ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः ।
 मयूढा रुविरं बाहुभिर्दं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥ कर्ण उवाच । दृश्यन्ते वै
 विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि । तज्जगत्तस्मिन्दिनाशाय यथाग्निररणी-
 मजः ॥ २७ ॥ एतेन किञ्चिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया ।
 धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते दुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥ त्वन्तु केवल-
 दुर्व्यसनमे आसक्त होकर द्रौपदीको दांव पर लगाया है ॥ २२ ॥
 और विशेष बात यह है, कि—यह सुशीला द्रौपदी पाँचों ही
 पाण्डवोंकी स्त्री है, तिसपर भी युधिष्ठिर द्रौपदीको दांवपर लगाने
 से पहिले अपनेको दारचुके थे, इसलिये द्रौपदीको दांवपर लगाने
 का इनको कुछ अधिकार नहीं था ॥ २३ ॥ इधर शकुनिने दांव
 लगानेके लिये द्रौपदीका नाम लिया था, यह सब विचारकर देखने
 पर मेरी समझमें तो द्रौपदी नहीं जीती गई ॥ २४ ॥ यह सुनते
 ही विकर्णकी प्रशंसा और शकुनिकी निंदा करनेवाले सकल सभा-
 सदोंका बड़ा कोलाहल हुआ ॥ २५ ॥ उस कोलाहलके कुछ देर
 में बन्द होजाने पर क्रोधमें भरेहुए कर्णने विकर्णकी सुंदर भुजा
 को पकड़कर कहा ॥ २६ ॥ कर्ण बोला, कि—हे विकर्ण ! मैं
 देखता हूं, कि इस सभामें तू बड़ी उलटी बातें कर रहा है मतीत
 होता है, कि—जैसे अरणी पाठमें उत्पन्न हुआ अग्नि उस पाठ
 को ही भस्म कर देता है तैसे ही तू भी जिस कुलमें उत्पन्न हुआ
 है उसका ही नाश करना चाहता है ॥ २७ ॥ देख द्रौपदीके बार
 बार प्रश्न करने पर भी यह जो राजे बैठे हैं, कुछ नहीं कहते,
 क्योंकि—यह द्रौपदीको धर्ममें जीती हुई मानते हैं ॥ २८ ॥ परंतु

सृज्य ते ब्रुवन्तु यथापति ॥ १५ ॥ यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्य-
सकृच्छुभा । विमृश्य कस्य कः पत्न पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥
एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः । न च ते पृथिवीपाला-
स्तमूचुःमाध्वसाधु वा ॥ १७ ॥ उक्त्वा सकृत्तथा सर्वान् विकर्णः
पृथिवीपतीन् । पाण्डौ पाण्डि विनिष्पिप्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् १८
विभ्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन । मन्ये न्याग्यं यदवाहं
तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥ चत्वार्यर्थाहुर्न रश्रेष्ठा व्यसनानि
महीक्षिताम् । मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥ २० ॥
एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्चते । तयायुक्तेन च कृतां
क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥ तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्चता

राजे चारों ओर इकट्ठे बैठे हैं, यह सब राग द्वेषको त्यागकर जो
उचित हो सो बतावें ॥ १५ ॥ इस प्रतिघवा द्रौपदीने चार २
जिस बातको कहा है, उस विषयमें सब लोग विचार करें और
जिसकी समझमें जो कुछ आवे उसको अलग २ कहें ॥ १६ ॥
इसप्रकार विकर्णने उन सभासदोंसे कई बार कहा, परन्तु उन
राजाओंमें से किसीने भी भला या बुरा कुछ उत्तर नहीं दिया
॥ १७ ॥ इसप्रकार उन राजाओंसे बार २ कहनेपर भी कुछ
उत्तर न पाकर विकर्णने हाथसे हाथको मलकर लंबे श्वास लेते
हुए कहा, कि - ॥ १८ ॥ अब यह राजे कुछ उत्तर दें वा न दें
परन्तु हे कौरवों! इस विषयमें मैं जिस बातको न्याय समझता हूं
वह अवश्य ही कहूंगा ॥ १९ ॥ श्रेष्ठ पुरुषोंने राजाओंकी चार
बातोंको व्यसन कहा है एक मृगया- (शिकार) दूसरी मद्य पीना
तीसरी जुआ खेलना और चौथी स्त्रीसङ्गमें अधिक आसक्त होना
॥ २० ॥ अनुप्य इन बातोंमें आसक्त होनेपर धर्मसे विरजाता है
और ऐसे दुर्ब्यसनी पुरुषको काम लोका में प्रामाणिक नहीं माना
जाता ॥ २१ ॥ सो जुआरियोंके मुलाये हुए पुष्टि करने धूर्तरूप

एकस्मिन्परत्वं चाप्यपवापि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥ यच्चैवां द्रविणं
 किंविद्या चैवा ये च पाण्डवाः । सौबलेन ह तत् सर्वं धर्मण
 विजितं वसु ॥ ३७ ॥ दुःशासनः सुबालोऽयं विरुणः प्राज्ञवादिनः ।
 पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥ तच्छ्रुत्वा
 पाण्डवाः सर्वे स्नानि वासांसि भारत । अवकीर्णोत्तरीयाणि
 सभायां समुत्तरिषन् ॥ ३९ ॥ ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं
 वलात् । सभापथ्ये समाक्षिप्य व्याकृष्ट मुपमचक्रमे ॥ ४० ॥ वैश
 म्पायन उवाच । आकृष्यमाणो वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः ।
 गोविन्द द्वारकावातिन् कृष्ण गोपीजननिध ॥ ४१ ॥ कौरवैः परि
 यूतां मां हि न जानासि केशव । हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्ति
 नाशन ॥ ४२ ॥ कौरवार्णवमर्णां मामुद्धरस्व जनार्दन । कृष्ण
 कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ॥ ४३ ॥ प्रपन्ना पाहि

एक वस्त्र ओढ़े लाना अपवा नंगी करके भी लाना कुछ अनुचित
 नहीं है ॥ ३६ ॥ यह द्रौपदी ये पाण्डव और जो कुछ इनका धन
 था सो सब शकुनिने धर्मसे जीता है ॥ ३७ ॥ रे दुःशासन ! यह
 विरुण तो बालक होकर बड़े बुद्धिमानोंके भी बात ननारहा है,
 अब तू इस द्रौपदीके और पाण्डवोंके भी सब वस्त्र उतार ले
 ॥ ३८ ॥ हे जनमेजय ! कर्णकी यह बात सुनते ही पाण्डवोंने
 अपने वस्त्र उतार डाले और सभामें नंगे होकर बैठ गए ॥ ३९ ॥
 हे राजन् ! तदनन्तर दुःशासन वनास्कारसे द्रौपदीके वस्त्रको पकड़
 कर उतारलेनेका उद्योग करने लगा ॥ ४० ॥ वैशम्पायनजी कहते
 हैं, कि-उसके वस्त्र कोखेवने पर द्रौपदी श्रीकृष्णका ध्यान करती हुई
 कहने लगी, कि-हे गोविन्द ! हे द्वारकावासी कृष्ण ! हे गोपीजन-
 वल्लभ ! ॥ ४१ ॥ हे केशव ! हे नाथ ! हे लक्ष्मीपते ! हे व्रजनाथ ! दुःख
 हारिन् ! क्या आपको नहीं मालूम है, कि-कौरव मेरा निरस्कार
 कर रहे हैं ? हे जनार्दन ! हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे
 विश्वात्मन् ! हे विश्वभावन ! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबी जाती हूँ,
 मेरा उद्धार करो ॥ ४२—४३ ॥ हे गोविन्द ! कौरवोंकी धीन

वाक्येन धार्तराष्ट्रावदीर्यसे । यद् ब्रवीषि सभामध्ये बालः
 स्यविरमापितम् ॥२६॥ न च धर्मं यथावत्त्वं वेत्सि दुर्योधनावर ।
 यद् ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः ॥ ३० ॥ कथं ह्यवि-
 जितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज । यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान्
 पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥ अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ ।
 एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥ ३२ ॥ कीर्तिता
 द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः । भवत्यविजिता केन हेतुनैपा-
 मता तव ॥ ३३ ॥ मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम् ।
 अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥ एषो भर्ता
 स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन । इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनि-
 शिता ॥ ३५ ॥ अस्याः सभामनयनं न विप्रमिति मे मतिः ।

तू केवल बालक स्वभावकी असहिष्णुतासे अधीर होकर सभामें
 तज्जोंके सी बातें बनारहा है ॥ २६ ॥ तू दुर्योधनसे छोटा है और
 धर्मके तत्त्वको ठीक २ तही जानता है इसी कारण तू अपनी तुच्छ-
 बुद्धिसे जीती हुई द्रौपदीको न जीती हुई कह रहा है ॥ ३० ॥ अरे
 धृतराष्ट्रकुमार ! जय युधिष्ठिरने सर्वस्वका दांव सभामें लगा दिया तब
 तू द्रौपदीको बिना जीती कैसे कहता है ? ॥ ३१ ॥ हे राजकुमार !
 द्रौपदी भी तो सर्वस्वके भीतरे ही-आगई इस प्रकार धर्मसे जीती
 हुई द्रौपदीसे तू बिना जीता कैसे कहता है ॥ ३२ ॥ पांडवोंकी
 सम्मतिसे दांवपर द्रौपदीका नाम लिया गया है, फिर
 तुम्हारी समझमें द्रौपदीके जीती हुई न होनेका क्या कारण
 है ? ॥ ३३ ॥ अथवा एकवस्त्र रजसूलाको जो सभामें लाया
 गया है इसको यदि अधर्म समझा हो तो इस विषयमें भी
 जो मैं उचित बात कहता हूं उसको सुनो ॥ ३४ ॥ हे कुरुनन्दन !
 देवताओंने स्त्रीका एक पति ही विधान किया है और यह द्रौपदी
 तो पांचके अधीन रहती है, इस कारण यह निःसन्देह वेश्या है
 ॥ ३५ ॥ मेरी समझमें तो इस वेश्यासमान स्त्रीको सभामें लाना

एकाम्बरधरत्वं वाप्यववापि विवस्त्रता, ॥ ३६ ॥ यच्चैषां द्रविणं
 क्रिविद्या चैषा ये च पाण्डवाः । सौवलेन ह तत् सर्व धर्मेण
 विजितं वसु ॥ ३७ ॥ दुःशासनः सुचालोऽयं त्रिर्गुणः शौनवादिक् ॥
 पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याप्युपाहर ॥ ३८ ॥ तच्छ्रुत्वा
 पाण्डवाः सर्वे स्थानि वासांसि भारत । अवकीर्णोत्तरीयाणि
 सभायां समुत्तारयन् ॥ ३९ ॥ ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं
 वृत्तात् । सभामध्ये समान्निप्य व्याकट मुपमचक्रमे ॥ ४० ॥ वैश
 म्पायन उवाच । आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्या चिन्तितो हरिः ।
 गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजननिध ॥ ४१ ॥ कौरवैः परि-
 भूतां मां हि न जानासि केशव । हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्ति-
 नाशन ॥ ४२ ॥ कौरवार्णवमर्णा मामुद्धरस्व जनार्दन । कृष्ण
 कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन ॥ ४३ ॥ मय्यर्णा पाहि

एक वस्त्र ओढे लाना अथवा नंगी करके भी लाना कुछ अनुचित
 नहीं है ॥ ३६ ॥ यह द्रौपदी ये पाण्डव और जो कुछ इनका धन
 था सो सब शकुनिने धर्मसे जीता है ॥ ३७ ॥ रे दुःशासन ! यह
 त्रिगुण तो बालक होकर बड़े बुद्धिमानोंके भी बात बनारहा है,
 अब तू इस द्रौपदीके और पाण्डवोंके भी सब वस्त्र उतार ले
 ॥ ३८ ॥ हे जनमेजय ! कर्णकी यह बात सुनते ही पाण्डवोंने
 अपने वस्त्र उतार डाले और सभामें नंगे होकर बैठ गए ॥ ३९ ॥
 हे राजन् ! तदनन्तर दुःशासन बतारकारसे द्रौपदीके वस्त्रको पकड़
 कर उतारलेनेका उद्योग करने लगा ॥ ४० ॥ वैशम्पायनजी कहते
 हैं, कि-उसके वस्त्र कोखेवने पर द्रौपदी श्रीकृष्णका ध्यान करती हुई
 कहने लगी, कि-हे गोविन्द ! हे द्वारकावासी कृष्ण ! हे गोपीजन-
 वन्द्य ! ॥ ४१ ॥ हे केशव ! हे नाथ ! हे लक्ष्मीपते ! हे व्रजनाथ ! दुःख
 हारिन् ! क्या आपको नहीं मालूम है, कि-कौरव मेरा तिरस्कार
 कर रहे हैं ? हे जनार्दन ! हे कृष्ण ! हे कृष्ण ! हे महायोगिन् ! हे
 विश्वात्मन् ! हे विश्वभावन ! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबी जाती हूं,
 मेरा उद्धार करो ॥ ४२—४३ ॥ हे गोविन्द ! कौरवोंकी बीच

गोविन्द कुरुमध्येऽनसीदतीम् । इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रि-
 भुवनेश्वरम् ॥ ४४ ॥ पारुदद दुःखिता राजन् मुखमाच्छाद्य भामिनी ।
 याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गद्वरितोऽभवत् ॥ ४५ ॥ त्यक्त्वा
 शय्यासनं पद्मां कृपालुः कृपयाभ्यगात् । कृष्णञ्च विष्णुञ्च हरिं
 नरञ्च त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥ ४६ ॥ ततस्तु धर्मोऽन्तरितो
 महात्मा समावृणोद्वै विविधैः सुवस्त्रैः । आकृष्यमाणे वसने
 द्रौपद्यास्तु विशम्पते ॥ ४७ ॥ तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ।
 नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै ममो ॥ ४८ ॥ प्रादुर्भवन्ति
 शतशो धर्मस्य परिपालनात् । ततो हलहलाशन्दस्तत्रासीद् घोर-
 दर्शनः ॥ ४९ ॥ तदद्भुतमपं लोके वीक्ष्य सर्वे महीभृतः शशंसुर्द्रौपदीं
 तत्र कुरसन्तो धृतराष्ट्रतम् ॥ ५० ॥ शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये

सभामें दुःख पाती हुई मैं आपकी शरण हूँ, रक्षा करो, द्रौपदी
 इसप्रकार त्रिलोकीपति दुःखहारी कृष्णका स्मरण करके मुखको
 ढककर रोनेलगी द्रौपदीकी इस आर्च पुकारको सुनते ही कृष्ण
 का हृदय भरआया ॥ ४४ ॥ ४५ ॥ कृपालु भगवान् शय्या,
 भोजन और लक्ष्मीको भी त्यागकर कृपा करके द्रौपदीके समीप
 आनेलगे उस समय द्रौपदी अपनी रक्षाके निमित्त हे कृष्ण ! हे
 विष्णो ! हे हरे ! हे पुरुष ! ऐसा कहकर पुकार रही थी ॥ ४६ ॥
 यह देख महात्मा धर्म वस्त्ररूप बनगया और बहुतसे सुन्दर वस्त्रों
 से द्रौपदीको ढक दिया, पापात्मा दुःशासन द्रौपदीको नंगी करने
 के लिये उसके वस्त्रको जितना खिंचताथा, उतना ही उसी प्रकार
 दूसरा वस्त्र फट्ट होजाता था, हे महाराज ! इसप्रकार रंगविरंगे
 बहुतमे वस्त्रोंका ढेर लगगया ॥ ४७ ॥ ४८ ॥ धर्मकी कैसी
 अद्भुत महिमा है, त्रि-धर्मपालनके प्रभावसे ही सैकड़ों वस्त्र फट्ट
 होनेलगे, यह देखकर सभामें चारों ओरसे बड़ा कोलाहल होने
 लगा ॥ ४९ ॥ सभामें बैठेहुए सब राजें स्पष्टरूपसे इस अद्भुत
 घटनाको देखकर, दुःशासनको धिक्कार देतेहुए द्रौपदीकी प्रशंसा
 करनेलगे ॥ ५० ॥ भीमसेन उससमय राजाओंके बीचमें बैठे थे,

वृहत्स्वनः । क्रोधाद्विस्फुरमाणौष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥ ५१ ॥
 भीमसेन उवाच । इदं मे वाक्यमाददध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः ।
 नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद्वदिष्यति ॥ ५२ ॥ यद्येतदेवमुक्त्वाहं
 न कुर्यां पृथिवीश्वराः । पितामहानां पूर्वेषां नाहं गातमवाप्नुयाम्
 ॥ ५३ ॥ अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च । न पिवेयं
 बलादुक्तो भिक्षवा चेदुषिरं युधि ॥ ५४ ॥ वैशम्पायन उवाच ।
 तस्य ते तद्वचः श्रुत्वा रौद्रं लोममहर्षणम् । प्रचक्रुर्बहुलां पूजां
 कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥ ५५ ॥ यदा तु वामसां राशिः सभामध्ये
 समावितः । ततो दुःशासनः श्रान्तौ ग्रीहितः समुषाविशत् ॥ ५६ ॥
 भिक्षुशब्दस्तु ततस्तत्र समभून्लोमहर्षणः । सभ्यानां नरदेवानां
 दृष्ट्वा कुन्तीसुतास्तथा ॥ ५७ ॥ न विब्रुवन्ति कौरव्याः मरन-

वनके दोनों ओठ क्रोधसे कांपने लगे, उन्होंने हाथसे हाथको मस-
 टकर गर्जते हुए शाप दिया (प्रतिज्ञा करी) ॥ ५१ ॥ भीमसेनने
 कहा, कि—हे जहां तहोंके रहनेवाले क्षत्रियों ! मेरी इस बातको
 सुनो, कभी किसीने भी ऐसा नहीं कहा होगा और कदाचित् आगे
 को भी ऐसा नहीं कहेगा ॥ ५२ ॥ हे राजाओं ! मैं जो कुछ
 कहता हूँ, यदि उसको न कहूँ अर्थात् यदि मैं युद्धमें बलात्का-
 रसे इस पापी दुष्टात्मा 'मरतकुलकलंक दुःशासनकी छातीको
 फाड़कर इसके रुधिरको न पीऊँ' तो मुझ अपने पूर्वपुरुषोंकी
 गति न मिले ॥ ५३ ॥ ५४ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि—भीम-
 सेनके इस रोमाञ्च खड़े करने वाले घोर वचनको सुनकर दुःशा-
 सनकी निन्दा और भीमसेनकी बड़ी भारी प्रशंसा होने लगी ५५
 जब द्रौपदीके बल्ल खेंचते २ समयमें ढेर लग गया और दुःशासन
 यहूगया तब लज्जित होकर बैठ गया ॥ ५६ ॥ उस समय समयमें
 बैठे हुए राने भिक्षार देते हुए ऐसा कोलाहल करने लगे, कि—
 जिसको सुनकर रोमाञ्च खड़े होते, ये कौरव पाण्डवोंकी ओरको
 देखकर कुछ मरन नहीं कर सके, सज्जन पुरुष धृतराष्ट्रकी निन्दा

मेतमिति स्म ह । सुजनः क्रोशति स्मात्र घृतराष्ट्रं विगर्हयन् ५८॥
 ततो वाहू ममुत्क्षिप्य निवार्य च सभासदः । विदुरः सर्वधर्मज्ञ
 इदं वचनमब्रवीत् ॥ ५९ ॥ विदुर उवाच । द्रौपदी मश्नमुक्त्वैव
 रौरवीति त्वनाथवत् । न च विद्वत् तं मश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते
 ॥ ६० ॥ सभां प्रपद्यते ह्यार्त्तो मज्जलन्निव हव्यवाद् । तं वै
 सत्पेन धर्मेण सभ्याः मशमयन्त्युत ॥ ६१ ॥ धर्ममश्रमतो ब्रूया-
 दाप्यः सत्पेन मानवः । विद्वन्नुस्त्वन तं मश्नं कामक्रोधवृत्तातिगाः
 ॥ ६२ ॥ विकर्णेन यथापज्ञमुक्तः मश्नो नराधिपाः । भवन्तोऽपि
 हि तं मश्नं विद्वन्मु यथापनि ॥ ६३ ॥ यो हि मश्नं न विद्व-
 योद्धर्मदशी सभां गतः ॥ अच्युते यां फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्द्धं
 समश्नुते ॥ ६४ ॥ यः पुनर्वितर्क्य ब्रूयाद्धर्मदशी सभां गतः । अच्यु-

और दुःख प्रकाशित करते हुए कहने लगे, कि-मश्नका उत्तर क्यों नहीं देते ॥ ५७ ॥ ५८ ॥ यह संकल धर्मोंको जानने वाले विदुरजी भुजा उठाकर सब लोगोंको शान्त करतेहुए यह बात बोले ॥ ५९ ॥ विदुरजीने कहा, कि—देखो द्रौपदी अपना मश्न कहकर इसप्रकार अनाथकी समान रो रही है, परन्तु आपमेंसे कोई भी उसके मश्नका उत्तर नहीं देता इसमें धर्मकी हानि होती है ॥ ६० ॥ दुःखित पुरुष अग्निकी समान दुःख से जलता हुआ सभामें आता है सज्जन पुरुषोंको चाहिये, कि-सत्य और धर्मके द्वारा उसके दुःखको दूर करके शान्ति दें ॥ ६१ ॥ श्रेष्ठ पुरुष सत्यके द्वारा धर्मविषयके मश्नकी भीमांसा करते हैं, इसकारण आप भी राग द्वेषके वेगको रोककर द्रौपदीके मश्नका उचित उत्तर दीजिये ॥ ६२ ॥ हे राजाओं ! विकर्णने अपनी बुद्धिके अनुसार इस मश्नका उत्तर दे दिया है अब आप भी अपनी बुद्धिके अनु-सार उत्तर दीजिये ॥ ६३ ॥ जो धर्मज्ञ पुरुष सभामें जाकर किसी मश्नका उत्तर नहीं देता है वा मौन रहता है उसको आपा भूठ बोलनेका फल भोगना पड़ता है ॥ ६४ ॥ और जो धर्मका ज्ञाता

तस्य फलं कृत्स्नं समाप्नोतीति निश्चयः ॥ ६५ ॥ अत्राप्युदाहर-
न्तीतिमितिहासं पुरातनम् । प्रह्लादस्य च सम्बाधं मुनेराज्ञिरसस्य
च ६६ प्रह्लादो नामदेत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः । कन्याहेतोराज्जि-
रसं सुधन्वानमुपाश्रयत् ॥ ६७ ॥ अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्ये-
प्सया तदा । तपोर्देवनमत्रासीत् प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥ ६८ ॥
तपोः प्रश्नविवादोऽभूत् प्रह्लादं तावपृच्छताम् । ज्यायान् क आ-
योरेकः प्रश्नं प्रवूहि मा मृषा ॥ ६९ ॥ स वै विवदनाज्जीतः
सुधन्वानं विलोकयन् । तं सुधन्वाग्रवीत् क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन्
॥ ७० ॥ यदि वै वचयति मृषा प्रह्लादाय न वचयसि । शतधा ते
शिरो वज्री वज्रेण महरिष्यति ॥ ७१ ॥ सुधन्वना तथोक्तः सन्

सभामें जाकर झूठी बात कहता है वह तो झूठ बोलनेका पूर्ण
फल पाता ही है, इसमें कुछ सन्देह नहीं है ॥ ६५ ॥ इस विषय
में पुरातन इतिहासको जानने वाले पुरुष प्रह्लाद और अज्ञिरस
दुनिके संवादरूप इस इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं, कि—
॥ ६६ ॥ एक समय देवराज प्रह्लादके पुत्र विरोचनका अज्ञिरा
के पुत्र सुधन्वाके साथ एक कन्याके कारण विवाद हुआ ॥ ६७ ॥
उन्होंने परस्परमें मैं बड़ा हूं २ ऐसा कहते हुए कन्याको पानेकी इच्छा
से प्राणपयन्तका पण (वाजी) लगाया, ऐसा हमने सुना है
॥ ६८ ॥ इस प्रकार विवाद करते हुए उन दोनोंने प्रह्लादजीके
पास जाकर झूठा, कि—हम दोनोंमें कौनसा एक भेष्ट है, यह बात
हमको ठीक २ बताइये ॥ ६९ ॥ प्रह्लादने इस विवादसे भयभीत
होकर सुधन्वाकी ओरको देखा, सुधन्वा क्रोधके कारण जलते
हुए ब्रह्मदण्डकी समान होकर कहने लगा कि—॥ ७० ॥ हे
प्रह्लाद ! यदि तুম मिथ्या कहोगे अथवा किसी कारणसे कुछ
कहोगे ही नहीं, तो देवराज इन्द्र अपने वज्रसे तुम्हारे मस्तकके
सौ टुकड़े कर देगा ॥ ७१ ॥ सुधन्वाके ऐसा कहने पर पीपलके
पत्ते की समान विचलित हुए प्रह्लादजी मनमें दुःखित होतेहुए

व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत् । जगाम कश्यपं दैत्यः परिमष्टं महौजसम् ॥ ७२ ॥ महाद उवाच । त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहासुरस्य च । ब्राह्मणस्य महाभाग धर्मकुच्छुमिदं शणु ॥ ७३ ॥ यो वै प्रभं न विब्रूयाद्वितथश्चैव निर्दिशेत् । केवौ तस्य परे लोकास्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ७४ ॥ कश्यप उवाच । जानन्तविब्रुवन्न् मरनान् कामात् क्रोधाज्जयाचथा । सहस्र वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ७५ साक्षी वा विब्रुवन् साक्ष्य गोकर्णशिथिलश्चरन् । सहस्र वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ ७६ ॥ तस्य सम्बत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते । तस्मात् सत्यन्तु वक्तव्यं जानता सत्यमजसा ॥ ७७ ॥ विद्वो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यजोपपद्यते । न चास्य शन्यं कृतन्ति ।

तेजस्वी कश्यप ऋषिके पास धूमनेको आये ॥ ७२ ॥ महादजी ने कहा, कि—हे महाभाग ! आप देवता, असुर और ब्राह्मणों के धर्म के तत्त्व को जानते हैं अतः आप मेरे धर्मकण्टको सुनिये ॥ ७३ ॥ मैं आपसे यह वृक्षता हूँ, कि—जो मरन को उत्तर न देय और जो जानकर भी कुछ का कुछ उत्तर देय उसको अगले जन्मों में कौन २ लोक में फल भोगना पड़ता है, इसका उत्तर कहिये ॥ ७४ ॥ कश्यपने कहा, कि—जो जानकर राग, द्वेष या भय के कारण मरनों का ठीक २ उत्तर नहीं देता है वह अपने को वरुण की सहस्र फांसियों से बाँधता है ॥ ७५ ॥ ऐसे ही जो साक्षी (गवाह) गवाही देने में शिथिलता करता है या कुछ भी कुछ गवाही देता है वह भी अपने को वारुणी सहस्र पाशों से बाधता है ॥ ७६ ॥ हर एक वर्ष में वह उस फांसी की एक २ गाँठ से झूटा करता है, इस कारण जिस बात की सच्चाई को जानता होय उस को सत्य २ कह देय ॥ ७७ ॥ जिस सभामें धर्म को अधर्म से बाँधा जाता है तहाँ के सभासद यदि उस धर्म के काँटे को दूर नहीं करते हैं तो उसमें धर्म की कुछ हानि नहीं होती, किन्तु सभासद

विद्धास्तत्र सभासदः ॥ ७८ ॥ अर्द्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति
 भर्तुः । पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दति निन्दितम् ॥ ७९ ॥
 अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः । एनो गच्छति कर्त्तारं
 निन्दाहो यत्र निन्द्यते ॥ ८० ॥ वितथन्तु वदेषुर्धर्मं प्रह्लाद पृच्छते ।
 इष्टापूर्तश्च ते धनंति सप्तसप्तपरावरान् ॥ ८१ ॥ हतस्त्रस्य हि यदुःखं
 हतपुत्रस्य चैव यत् । शृणुः प्रति यन्वै स्वार्थाद्भट्टस्य चैव यत्
 ॥ ८२ ॥ त्रिपाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत् । अपुत्रा-
 याश्च यदुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥ ८३ ॥ अगृह्णायाश्च
 यदुःखं साक्षिभिर्विहितस्य च । एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि

ही उस पापके भागी होते हैं ॥ ७८ ॥ जो सभासद निन्दित
 पुरुषकी निन्दा नहीं करते हैं उनमें जो सबसे श्रेष्ठ (सभापति)
 होता है, उसको अधर्मका आघा माग, करनेवालेको चौथाई भाग
 और अन्य सभासदोंको भी चौथाई भाग धीरता है ॥ ७९ ॥
 और जिस सभामें निन्दाके योग्य पुरुषकी निन्दा की जाती है
 वहाँ सभापति निष्पाप होता है और सभासद भी अधर्मसे मुक्त
 रहते हैं वह सब अधर्म केवल कर्त्ताको ही लगता है ॥ ८० ॥ हे
 प्रह्लाद ! जो धूमनेवालेको धर्मके पूतिरूत उचर देते हैं उनकी
 अगली पिछली सात २ पीढ़ियों और इष्टापूर्त आदि सकल
 शुभकर्म नष्ट होजाते हैं ॥ ८१ ॥ धन बिन जानेपर जो दुःख
 होता है, जिसके पुत्रका मरण होजाय उसको जो दुःख होता है
 शृणुको जो दुःख होता है और स्वार्थीका पयोजन नष्ट होजाने
 पर जो दुःख होता है ॥ ८२ ॥ पतिसे हीन हुई स्त्रीको जो और
 रामासे दण्ड पाये हुए पुरुषको जो दुःख होता है, पुनर्हीना
 मातापिता जो दुःख होता है और सिद्धके भण्डमें आये हुए पुरुषको
 जो दुःख होता है ॥ ८३ ॥ सपत्नीके होते हुए विवाहित होकर
 आई हुई स्त्रीको जो दुःख होता है, और साक्षियोंके घोखा
 दिये हुए पुरुषोंको जो दुःख होता है देवताओंने इन सब दुःखों

त्रिविदेशवराः ॥ ८४ ॥ तानि सर्वाणि दुःस्वानि मामाति वितथं
 ब्रुवन् । समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ॥ ८५ ॥
 तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते । कश्यपस्य वचः
 श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ॥ ८६ ॥ श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः
 श्रेयांस्तथाद्गिराः । माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव ।
 विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ॥ ८७ ॥ सुधन्वोवाच ।
 पुत्रस्तेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मं व्यवस्थितः । अनुजानामि ते पुत्रं
 जीवत्येव शतं समाः ॥ ८८ ॥ विदुर उवाच । एवं वै परमं धर्मं
 श्रुत्वा सर्वे सभासदः । यथा म्रनन्तु कृष्णाया मन्थव्यं तव किं
 परम् ॥ ८९ ॥ वैशम्पायन उवाच । विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोत्तुः

को एकसमान कहा है ॥ ८४ ॥ हे प्रह्लाद ! जो पुरुष झूठ
 बोलता, है उसको ये सब दुःख भोगने पड़ते हैं पर्यन्त देखकर,
 सुनकर और धारणासे गवाही दी जासकती है ॥ ८५ ॥ इस
 कारण सत्य कहनेवाले साक्षीका धर्म और अर्थ नष्ट नहीं होता
 है, कश्यपजीकी इस बातको सुनकर प्रह्लादने अपने पुत्रसे कहा
 कि—॥ ८६ ॥ हे बेटा ! यह सुधन्वा तुझसे श्रेष्ठ है अग्निरा
 तुझसे श्रेष्ठ हैं और सुधन्वाकी माता भी तेरी मातासे श्रेष्ठ है,
 इसकारण अब यह सुधन्वा ही तेरे प्राणोंका स्वामी है, चाहे तेरे
 प्राण लेय चाहे छोड़ देय ॥ ८७ ॥ यह सुनकर सुधन्वाने कहा,
 कि—हे प्रह्लाद ! तुमने पुत्रके भेषको कुछ नहीं गिना और धर्मपर
 झटल रहे, इसकारण मैं तुम्हारे पुत्रको आशीर्वाद देता हूँ, कि—
 यह सौ वर्ष पर्यन्त जीवित रहे ॥ ८८ ॥ इस इतिहासको समाप्त
 करके विदुरजी कहनेलगे, कि—हे सब सभासदों ! इस परम
 धर्मोपदेशके वान्यको सुनकर द्रौपदीने जो म्रनः किया है उसका
 ठीक २ उत्तर क्या होना चाहिये इसका विचार करिये ॥ ८९ ॥
 वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे राजन् जनमेजय ! विदुरजीकी इस
 बातको सुनकर सभामें बैठे हुए राजाओंने कुछ उत्तर नहीं दिया
 तब कर्णने दुःशासनसे, कहा, कि—भाई ! इस दासी द्रौपदीने

किञ्चन पार्थिवाः । कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णादासीं गृहान्नय
॥ ६० ॥ तां वेपमानां सत्रीणां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान् । दुःशा-
सनः सभामध्ये विचर्क्य तपस्विनीम् ॥ ६१ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्रौपदीपर्वणि द्रौपद्यार्पणे

सप्तपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

द्रौपद्युवाच । तावत् प्रतीक्ष्य दुष्पद्म दुःशासनं नराधम । पुरस्ता-
त्करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम् ॥ १ ॥ विह्वलास्मि कृतानेन
कर्पता यतिना यत्नात् । अभिवादं करोम्येषां गुरुणां कुरुसंमदि ।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ २ ॥ वैशम्पायन
उवाच । सा तेन च समाधृता दुःखेन च तपस्विनी । पतिंता विल-
लापेन सभायामतपोविता ॥ ३ ॥ द्रौपद्युवाच । स्वयम्बरे यास्मि
नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः । न दृष्टपूर्वा चान्यत्र साहस्य सभां गता ४

घरं लेजाओ ॥ ६० ॥ कर्णकी आत्मा पाते ही दुःशासन कांपती
हुई लज्जित और पांडवोंको ओरको देखकर अनेकों बातें कहती
हुई द्रौपदीको सभामें घसीटने लगा ॥ ६१ ॥ सप्तपष्ठितम अध्याय
समाप्त ॥ ६७ ॥ छ ॥ छ ॥ छ ॥ छ

द्रौपदीने कहा, कि—अरे नराधम दुःशासन ! थोड़ी देर धम
जा, मैंने जो प्रश्न किया है, पहिले उसका उत्तर मिलना चाहिये
जो कि—अभीतक नहीं मिला है ॥ १ ॥ इस महाबलीने बलात्कार
से घसीटकर मुझें विह्वल करदिया है, इस कौरवोंकी सभामें गुरु-
जनोंको प्रणाम करती हूं, मेरा अपराध समा हो, कि—मैंने पहिले
प्रणाम नहीं किया था ॥ २ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—उस
समय दुःशासनके दिये हुए अनुचित कष्टसे अत्यन्त कातर हुई
वह तपस्विनी द्रौपदी, सभामें गिरकर इस प्रकार आर्तस्वरसे बिलाप
और परिनाप करने लगी ॥ ३ ॥ द्रौपदीने कहा, कि—हाय ! मैं
स्वयंवरके समय मण्डपमें आयेहुए राजाओंके सामने एक बार ही
निरुली थी, आजसे पहिले जिन्दोंने मुझें कभी नहीं देखा था,
इस समय मैं उनके ही सामने ऐसी दुर्दशाके साथ सभामें खड़ी

यां न वायुर्न चादित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे । साहमद्य सभामध्ये
 दृश्यास्मि जनसंसदि ॥ ५ ॥ यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां
 गृहे पुरा । स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ६ ॥
 मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम् । स्नुषां दुहितरञ्चैव
 विलश्यमानामनर्हतीम् ॥ ७ ॥ किन्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री
 सती शुभा । सभा मये विगाहेऽद्य क नु धर्मो महीक्षिताम् ॥ ८ ॥
 धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वं न नयन्तीति नः श्रुतम् । स नष्टः कौरव्येषु
 पूर्वो धर्मः सनातनः ॥ ९ ॥ कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य
 स्वसा सती । वामुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामिमाम् ॥ १० ॥
 तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम् । धृत दासीमदासीं वा
 तत्करिण्यामि कौरवाः ॥ ११ ॥ अयं मां मुदहं क्षुद्रः कौरवाणां यशो-

हं ॥ ४ ॥ जिसको पहिले घरके भीतर वायु और सूर्यतकने भी
 नहीं देखपाया था, इस समय उसको ही सभामें सघके सामने खड़ा
 होना पड़ा है ॥ ५ ॥ जो पाण्डव पहिले घरके भीतर मुझ वायु
 के स्पर्श करने पर भी नहीं सहसकते थे, आज वही पाण्डव हैं,
 परन्तु दुष्टात्मा दुःशासन मुझ घसीट रहा है और इस बातको
 अनायासमें ही सह रहे हैं, ॥ ६ ॥ और यह कौरव भी पुनीसमान
 पुनवधूको ऐसा अनुचित क्लेश पाते हुए देखकर कुछ नहीं कहते
 इससे मतीत होता है, कि—अब कुछ समय ही पलट रहा है ७
 इससे अधिक दयाके योग्य और कौनसी बात होगी, कि—मैं
 सुशीला सती स्त्री सभामें घसीटी जा रही हूं, न जाने आज
 राजा मांश धर्म कहाँ गया ? ॥ ८ ॥ मैंने सुना है, कि—पहिले लोग
 सदाचारवाली स्त्रीको सभामें नहीं लाते थे, वह पहिला सनातन-
 धर्म कौरवोंमें नष्ट होगया ॥ ९ ॥ हाय ! पाण्डवोंकी सहधर्मिणी,
 धृष्टद्युम्नकी बहिन, और श्रीकृष्णकी कृपापात्र होनेपर भी मैं इस
 सभामें लार्ह गई ! न जाने इसमें क्या भेद है ॥ १० ॥ हे कौरवों ! मैं
 धर्मराजकी क्षत्रिया स्त्री हूं, मुझें चाहे दासी बनाओ चाहे अदासी
 बनाओ, जो कहोगे सो करूंगी ॥ ११ ॥ हे कौरवों ! यह क्षुद्र, कौरवों

हरः । क्लिरनाति नाहं वत् सोढुं चिरं शक्यामि कौरवाः ॥ १२ ॥ जितां
वाप्सजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः । तथा मृत्युक्तमिच्छामि
तत्करिष्यामि कौरवाः ॥ १३ ॥ भीष्म उवाच । उक्तवानस्मि
कन्याणि धर्मस्य परमा गतिः । लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विज्ञेर्महा-
त्मभिः ॥ १४ ॥ बलवोश्च यथा धम लोके पश्यति पूरुषः । स
धर्मोऽधर्मवेलायां भवत्यभिहतः परैः ॥ १५ ॥ न विवेक्तुं च ते मश्र-
मिमं शक्नोमि निश्चयात् । सूक्ष्मत्वाद् गहनत्वाच्च काट्यस्यास्य च
गौरवात् ॥ १६ ॥ नूनमन्तः कुलस्यास्य भविता न चिरादिव ।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः ॥ १७ ॥ कुलेषु जाताः
कन्याणि व्यसनैराहता भृशम् । धन्यान्मार्गान् न च्यवन्ते येषां न सत्त्वं
यधूः स्थिता ॥ १८ ॥ उपपन्नञ्च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम् ।
यत् कृच्छ्रमपि संप्राप्तं धर्ममेवान्ववेक्षसे ॥ १९ ॥ एते द्रोणादय-
के यशो नष्ट करनेवाला पापी दुःशासन बलात्कारसे घसीटकर
मुझे दुःख दे रहा है, 'अब अधिक देर तक मैं इसको नहीं सह सकती
॥ १२ ॥ हे कुरुवंशी राजाओं ! तुम मुझ जीती हुई समझो चाहे बिना
जीती समझो परन्तु प्रश्न का जैसा उत्तर दो मैं तैसा ही करूँ ॥ १३ ॥
यह सुन कर भीष्मजीने कहा, कि—हे कन्याणि ! धर्मकी गति
बड़ी सूक्ष्म है इस लोकमें बड़े २ बुद्धिमान् भी उसके ठीक २ तत्त्व
को नहीं कह सकते ॥ १४ ॥ इस लोकमें बलवान् पुरुष जिस प्रकार
धर्मका आचरण करता है वही धर्म अधर्मके अवसरमें बहुत ही दब
जाया करता है ॥ १५ ॥ तेरा प्रश्न बड़ा सूक्ष्म, गहन और गौरव भरा है
कारण इसके सिद्धान्तका हम कुछ निश्चय नहीं कर सकते ॥ १६ ॥
कौरव लोभ और मोहके वशमें हो गये हैं, इससे प्रतीत होता है,
कि—निःसन्देह शीघ्र ही इस कुलका नाश हो जायगा ॥ १७ ॥
तू जिस कुलकी वह है उस कुलके लोग अत्यन्त दुःख उठाने पर
भी धर्ममार्गसे विचलित नहीं होते हैं ॥ १८ ॥ इस कारण हे
पाञ्चालि ! तेरा यह वर्त्ताव कुलके योग्य ही है, कि—जो तू ऐसी
दुर्दशामें पहुँच भी धर्मकी ओर ही देख रही है ॥ १९ ॥ यह

श्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः । शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवा-
नताः ॥ २० ॥ युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन् प्रमाणमिति मे मतिः ।
अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्तुं मर्हति ॥ २१ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते समापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्ये-

अष्टपष्ठितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

वैशम्पायन उवाच । तथा च वृद्धा बहु तत्र देवीं रौरवमाणां
कुररीभिवाचाम् । नोचुर्वचः साध्वय वाप्यसाधु महीक्षितो धार्त्त-
राष्टस्य भीताः ॥ १ ॥ वृद्धा तथा पार्थिवपुत्रपौत्रास्तूष्णीम्भूतान्
धृतराष्टस्य पुत्रः । स्पयन्निवेदै वचनं वभाषे पांचालराजस्य सुतां
तदानीम् ॥ २ ॥ दुर्योधन उवाच । तिष्ठस्वयं मम उदारस्वये भीमे-
ऽर्जुन सहदेवे तथैव । पत्न्यौ च ते नकुले पाण्डसेनि वदन्त्वेते वचनं
स्वस्मृतम् ॥ ३ ॥ अनीश्वरं विप्रुषन्त्वाय्यमध्ये युधिष्ठिरं तव
पांचालि हेतोः । कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं पाञ्चालि त्वं मोक्षसे

सब धर्मके जानने वाले वृद्ध द्रोण आदि तो प्राणहीनकी समान
शिर झुका कर सूने शरीरसे बैठे हुए हैं ॥ २० ॥ मेरी समझ
में तो अब धर्मराज युधिष्ठिर, ही इस प्रश्नका जैसा उत्तर दें उस
को प्रमाण माना जाय, तू जीती गई या नहीं जीतीगई, इस बात
को यह आप ही कह दें ॥ २१ ॥ अष्टपष्ठितम अध्याय समाप्त ६८

वैशम्पायन कहते हैं, - कि—सभामें बैठेहुए सकल राजे व्याधे
के भयसे व्याकुल हुई हरिणीकी समान नेत्रोंसे आंसू टपकाती
हुई द्रौपदीको देखकर भी दुर्योधनके भयसे भला चुरा कुछ नहीं
कहसके ॥ १ ॥ उन पुत्र और पौत्रों सहित राजाओंमें मौन बैठे
हुए देखकर दुर्योधनने घुसकुराते हुए द्रौपदीसे कहा ॥ २ ॥ दुर्यो-
धनने कहा कि—हे दुष्टकुमारी ! इन उदारस्वभाव वाले अपने पति
भीम अर्जुन नकुल और सहदेव से ही तू अपना प्रश्न कर यह ही
तेरे प्रश्नका उत्तर दोगे ॥ ३ ॥ हे पाञ्चालि ! यह आज यदि सब
अष्ट पुरुषोंके सामने कह दें कि—युधिष्ठिर द्रौपदीके पति नहीं हैं

दासभावात् ॥ ४ ॥ धर्म स्थितो धर्मसुतो महात्मा स्वयं चैवं कथय-
 त्विन्द्रकन्यः । ईशो वा ते ह्यनीशोऽथवैव वाक्यादस्य । निममेकं
 भजस्व ॥ ५ ॥ सर्वे ह्रीमे कौरवेयाः सभायां दुःखान्तरे वर्त्तमाना-
 स्तवैव । न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथावत् पतींश्च ते समवेद्यान्व-
 भाग्यान् ॥ ६ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततः सभायाः कुरुराजस्य
 तस्य वाक्च सर्वे प्रशशंसुस्तयोच्चैः चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो हाहे-
 त्पासीदपि चैवार्चनादः ॥ ७ ॥ अस्ता तु तद्वाक्यमनोहरं तदर्पश्चा-
 सीत् कौरवाणां सभायाम् । सर्वे चासन् पार्थिवाः प्रीतिमन्तः कुरु-
 श्रेष्ठ धार्मिकं पूजयन्तः ॥ ८ ॥ युधिष्ठिरश्च ते सर्वे समुदेक्षन्त पार्थिवाः ।
 किन्तु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥ ९ ॥ किन्तु वक्ष्यति
 वीरसुरजितो युधि पाण्डवः । भीमसेनो ययौ चोभौ भृशं कौतू-

और उन्होंने मिथ्या ही तुम्हें दांव पर लगाया था तो तू दासी
 बनने से छूट जायगी ॥ ४ ॥ सत्यमतिज्ञ धर्मपुत्र युधिष्ठिर इन्द्र
 की समान सदा धर्मपर दृढ़ रहते हैं, यह ही कह दें, कि—तेरे
 स्वामी हैं वा नहीं वस इनके कहनेके अनुसार तू शीघ्र ही एक घात
 को मानले, ॥ ५ ॥ यह सब ही कौरव तेरे दुःखसे अत्यन्त दुःखी
 हो रहे हैं और यह तेरे पतियोंको मन्दभाग्य देखकर यथार्थ घात
 कहनेका साहस भी नहीं करते हैं ॥ ६ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं
 कि—कुरुराज दुर्योधनकी इस बातको सुनकर सभासदोंने उसकी
 घड़ी प्रशंसा करी और सब लोग चिन्ता र कर घबरा उठाले लगे
 फिर इधर हाहाकार शब्द होने लगा ॥ ७ ॥ दुर्योधनका उस मनो-
 हर बातको सुनकर सभामें बैठे हुए कौरवोंको घड़ा हर्ष हुआ और
 सब राजे धर्मकी बात कहनेवाले दुर्योधनकी प्रशंसा करते हुए बड़े
 मसन्न हुए ॥ ८ ॥ कौरव तथा कौरवोंके पक्षके दूसरे राजे कौतू-
 हलमें भरकर मसन्नताके साथ युधिष्ठिरकी ओरको देखते हुए
 कहने लगे कि—देखें धर्मराज क्या कहते हैं ॥ ९ ॥ और फिर
 उत्कण्ठितसे होकर कहने लगे, कि—यह युद्धमें किसीसे न हारने

हलान्विताः ॥ १० ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
 भगवन् रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥ भीमसेन उवाच ।
 यद्येव गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः । न भभुः स्यात् कुलस्यास्य
 न वयं मर्पयेमहि ॥ १२ ॥ ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः ।
 मन्यते जितमात्मानं यद्येव विजिता वयम् ॥ १३ ॥ न हि मुच्येत
 मे जीवनं पदा भूमिमुपस्पृशन् । मर्त्यधर्मा परामृष्य पांचज्या मूर्ध-
 जा निमान् ॥ १४ ॥ परश्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिधाविष ।
 नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥ १५ ॥ धर्मपाशसितस्त्रेवं
 नाधिगच्छामि सङ्कटम् । गौरवेण निरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च १६
 धर्मराजनिस्पृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव । चार्चराष्ट्रानिमान्पापान्नि-

घाले अर्जुन, भीमसेन और नकुल सहदेव देखें क्या कहते हैं १०
 उस कोलाहलके बन्द होजाने पर भीमसेनने चन्दनचर्चित दिव्य
 मनोहर भुजाको उठाकर कहा ॥ ११ ॥ भीमसेन बोले, कि-यदि
 यह उदारचित्त धर्मराज हमारे कुलके कर्त्ता धर्त्ता नहीं होते तो हम
 कभी क्षमा नहीं करते ॥ १२ ॥ यह हमारे पुण्य, तप और जीवन
 पर्यन्तके स्वामी हैं, यदि यह अपनेको हारा हुआ मानते हैं तब हम
 भी हारगए इसमें सन्देह ही क्या है ? ॥ १३ ॥ यदि मेरी प्रभुता
 होती तो यह पापात्मा क्या आज द्रौपदीके केशोंको खेंचकर और
 भूमि पर गिरा पैरोंसे ठुंकराकर मेरे हाथसे जीता छूट जाता ?
 ॥ १४ ॥ मेरे इन खंभोंकी समान लंबे और मोटे भुजदण्डोंको
 देखो, इनके बीचमें आकर एक बारको इंद्र भी नहीं छूट सकता
 ॥ १५ ॥ परंतु क्या करूँ धर्मकी ठोरीसे बाँधा हुआ हूँ इसीसे
 मेरा भुजबल सबके देखनेमें नहीं आया, तथा अर्जुनने मुझे रोक
 दिया, इनकी गौरव भी मुझे कुछ नहीं करने देता ॥ १६ ॥ यदि
 धर्मराज मुझ नैन चलाकर भी आज्ञा देदें तो जैसे सिंह क्षुद्र
 प्राणियोंके प्राणोंको नष्ट कर देता है, विसीमकार में सड़नेमें ही
 मूर्धर्चमरमें इन पापात्मा धृतराष्ट्रकुमारोंको अपनी हथेलियोंसे ही

विषयेयन्तलासिभिः ॥१७॥ वैशम्पायन उवाच । तमुवाच तदा भीष्मो
द्रोणो विदुर एव च । क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं संभाव्यते त्वयि १८

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्य

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

कर्ण उवाच । अयः किलेमे सधनाः सभायां भीष्मः क्षता
कौरवाणां गुरुश्च । ये स्वाँमिनं दुष्टतमं वदन्ति वाञ्छन्ति वृद्धिं न च
वित्तिपंति ॥१॥ त्रय किले मे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चास्वतंत्रा
च नारी । दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे हीनेश्वरे दासधनञ्च
सर्वम् ॥ २ ॥ प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व तच्चे कार्यं शिष्ट-
मादिश्यतेऽथ । ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा
न पार्याः ॥ ३ ॥ अन्यं वृणीष्व पतिमांशु भाविनि यस्माद्दास्यं
न लभसि देवनेन । अवाच्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्यं दास्ये

पीसकर मार डालूं ॥१७॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जन-
मेजय ! उस समय भीमसेनकी क्रोधाग्निकी बराबर प्रज्वलित
होते देखकर भीष्म, द्रोण और विदुरने कहा, कि—हे भीम ! क्षमा
करो तुमको कुछ बढिन नहीं है तुम सब कुछ करसकते हो ॥१८॥
एकोनसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ * ॥

कर्णने कहा, कि—हे भद्रे ! इस सभामें भीष्म, विदुर और
कौरवाँके गुरु द्रोणाचार्य यह तीन धनवान् हैं यह अपने स्वामीको
परमदुष्ट कहते हैं अपने २ धनकी वृद्धि करना चाहते हैं और उसको
व्यप नहीं करते ॥१॥ दास, पुत्र और जो स्वतन्त्र न हो ऐसी स्त्री
यह तीन निर्धन होते हैं, दासकी स्त्री और उसका सकल धन पशु
के अधीन होता है ॥ २ ॥ मेरी समझमें अब तुम राजभवनमें
जाकर राजपरिवारकी सेवा करो, हे राजकुमारी ! अब धृतराष्ट्रके
पुत्र ही तुम्हारे पुरुष हैं पाण्डव तुम्हारे स्वामी नहीं हैं ॥ ३ ॥ अब
जो पुरुष तुम्हें लुप्त करके फिर दासभावकी फाँसीमें न बाँधे

हलान्विताः ॥ १० ॥ तस्मिन्नुपरते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम् ।
 मगृह्य रुजिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥ भीमसेन उवाच ।
 यद्येव गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः । न मभुः स्यात् कुलस्यास्य
 न वयं मर्षयेमहि ॥ १२ ॥ ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः ।
 मन्यते जितमात्मानं यद्येव विजिता वयम् ॥ १३ ॥ न हि मुच्येत
 मे जीवनं पदा भूमिमुपस्पृशन् । मर्त्यधर्मा परामृष्य पांचान्या मूर्ख-
 जानिमान् ॥ १४ ॥ परश्वध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिधाविव ।
 नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥ १५ ॥ धर्मपाशसितस्त्वेवं
 नाधिगच्छामि सङ्कटम् । गौरवेण निरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च १६
 धर्मराजनिष्ठस्तु सिंहः । क्षुद्रमृगानिव । धार्चराष्ट्रानिमान्पापान्नि-

घाले अर्जुन, भीमसेन और नकुल सहदेव देखें क्या कहते हैं १०
 उस कोलाहलके ध्वन्द होजाने पर भीमसेनने चन्दनचर्चित दिव्य
 मनोहर भुजाको उठाकर धृष्ट ॥ ११ ॥ भीमसेन बोले, कि-यदि
 यह उदारचित्त धर्मराज हमारे कुलके कर्त्ता धर्त्ता नहीं होते तो हम
 कभी क्षमा नहीं करते ॥ १२ ॥ यह हमारे पुण्य, तप और जीवन
 पर्यन्तके स्वामी हैं, यदि यह अपनेको हारा हुआ मानते हैं तब हम
 भी हारगण इसमें सन्देह ही क्या है ? ॥ १३ ॥ यदि मेरी मभुता
 होती तो यह पापात्मा क्या आज द्रौपदीके पेशोंको खेंचकर और
 भूमि पर गिरा पैरोंसे ठुकराकर मेरे हाथसे जीता छूट जाता ?
 ॥ १४ ॥ मेरे इन खंभोंकी समान लंबे और मोटे भुजदण्डोंको
 देखो, इनके बीचमें आकर एक बारको इंद्र भी नहीं छूट सकता
 ॥ १५ ॥ परंतु क्या करूं धर्मकी डोरीसे बंधा हुआ हूं इसीसे
 मेरा भुजबल सबके देखनेमें नहीं आया, तथा अर्जुनने मुझे रोक
 दिया, इनकी गौरव भी मुझें कुछ नहीं करने देता ॥ १६ ॥ यदि
 धर्मराज मुझें नेत्र चलाकर भी आज्ञा दे दें तो जैसे सिंह क्षुद्र
 माणियोंके प्राणोंको नष्ट कर देता हैं, तिसीप्रकार मैं सहजमें ही
 मुहूर्त्तभरमें इन पापात्मा धृतराष्ट्रकुमारोंको अपनी हथेलियोंसे ही

पिपेयन्तलासिभिः ॥१७॥ वैशम्पायन उवाच । तमुवाच तदा भीष्मो
द्रोणो विदुर एव च । क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं संभाष्यते त्वयि १८

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्य

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

कर्ण उवाच । त्रयः किलेमे सधनाः सभायां भीष्मः क्षत्ता
कौरवाणां गुरुश्च । ये स्वाग्निं दुष्टतमं वदन्ति वाञ्छन्ति वृद्धिं न च
वित्तिपतिं ॥१॥ त्रयः किले मे ह्यधना भवन्ति दासः पुत्रश्चास्यतं प्रा
च नारी । दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे हीनेश्वरे दासधनञ्च
सर्वम् ॥ २ ॥ प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व तत्ते कार्यं शिष्ट-
मादिश्यतेऽथ । ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा
न पार्याः ॥ ३ ॥ अन्यं वृणीष्व पतिमोऽशु भाविनि यस्मादास्यं
न लभसि देवनेन । अवाच्या वै पतिषु कामवृत्तिर्नित्यं दास्ये

पीसकर मार डालूँ ॥१७॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जन-
मेजय ! उस समय भीमसेनजी क्रोधाग्निकी बराबर प्रज्वलित
होते देखकर भीष्म, द्रोण और विदुरने कहा, कि—हे भीम ! क्षमा
करो तुमको कुछ कठिन नहीं है तुम सब कुछ करसकते हो ॥१८॥
एकोनसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ६६ ॥ * ॥

कर्णने कहा, कि—हे भद्रे ! इस सभामें भीष्म, विदुर और
कौरवोंके गुरु द्रोणाचार्य यह तीन धनवान् हैं यह अपने स्वामीको
परमदुष्ट कहते हैं अपने २ धनकी वृद्धि करना चाहते हैं और उसको
व्यय नहीं करते ॥१॥ दास, पुत्र और जो स्वतन्त्र न हो ऐसी स्त्री
यह तीन निर्धन होते हैं, दासकी स्त्री और उसका सकल धन पशु
के अधीन होता है ॥ २ ॥ मेरी सभामें अब तुम राजपवनमें
जाकर राजपरिवारकी सेवा करो, हे राजकुमारी ! अब धृतराष्ट्रके
पुत्र ही तुम्हारे म्रियु हैं पाण्डव तुम्हारे स्वामी नहीं हैं ॥ ३ ॥ अब
जो पुरुष तुम्हें जुएमें डारकर फिर दासभावकी फाँसीमें न बांधे

विदितं तत्तत्रास्तु ॥ ४ ॥ पराजितो नकुलो भीमसेनो युधिष्ठिरः
 सहदेवाजुनौ च । दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि पराजितास्ते पतयो
 नैव सन्ति ॥ ५ ॥ मयोजनं जन्मनि किन्न मन्यते पराक्रमं पौरुषं
 चैव पार्थाः । पाञ्चालस्य दुष्यदस्यात्मजामिमां सभामध्ये यो
 व्यदेवीद ग्लहेषु ॥ ६ ॥ वैशंपायन उवाच । तद्वै श्रुत्वा भीम-
 सेनोऽत्यमपी भृशं निशश्वास तदात्तरूपः । राजानुगो
 धर्मपाशानुबद्धो दहन्निर्वैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः ॥ ७ ॥ भीमसेन
 उवाच । नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राजन्नेव सत्यं दासधर्मप्रदिष्टः ।
 किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयुर्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ॥ ८ ॥

ऐसे किसी दूसरे पतिको बरखे क्योंकि—एकको पति बनाकर
 उसके साथ विहार करने वाली स्त्रीकी कोई निन्दा नहीं करता
 है और यह तो तुम्हें हीर ही तुम्हें इसकारण समझ रख कि—
 तुम्हें अब सदा दासीपनेमें ही रहना पड़ेगा ॥४॥ हे याज्ञसेनि !
 युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन नकुल और सहदेव जुएमें हार गये हैं और तू
 दासी होगयी है यह पाँचों भाई अब तेरे पति नहीं हैं । ५। देख युधि-
 ष्ठिरने अपनी जातिकी श्रेष्ठता तथा अपने पराक्रम और पुरुषार्थकी
 ओर जरा भी दृष्टि नहीं दी और उन्होंने इस सभामें दुष्यदकुमारी
 को जुएके दाँव पर लगा दिया ॥६॥ वैशंपायन कहते हैं, कि—परम
 क्रोधी भीमसेन कर्णकी इस बातका मुनकर पहिलेसे भी अधिक
 क्रोधमे भरगए परन्तु युधिष्ठिरके आज्ञाकारी और धर्मपाशमें बँधे
 होनेके कारण कुछ कर नहीं सकते थे इसकारण मनमें ही जलते
 हुए लाल २ आँसु निकाल लंबे श्वास लेते हुए धर्मराजकी ओर
 को देखकर कहने लगे, कि—॥ ७ ॥ हे राजन् ! मुझें इस सूत-
 पुत्र कर्णकी बातों से क्रोध नहीं आता है, क्योंकि—यपार्थमें ही
 हम दासभावको प्राप्त होगये हैं परन्तु विचार करके देखिये,
 कि—यदि आप द्रौपदीको दाँवपर लगा कर जुआ नहीं खेलते
 तो क्या यह शत्रु हमें ऐसे कठोर वचन कहसकते थे ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच । भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा ।
 युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णींभूतमचेतनम् ॥ ६ ॥ भीमार्जुनौ यमौ चैव
 स्थितौ ते नृप शासने । प्रभं ब्रूहि च कृष्णां तामजितां यदि
 मन्यसे ॥ १० ॥ एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोल वसनं स्वकम् ।
 स्मयन्निवेद्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ ११ ॥ कदलीदण्ड-
 सदृशं सर्वलक्षणसंयुतम् । गजहस्तमर्ताकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥
 १२ ॥ अभ्युत्समयित्वा राधेयं भीममाधर्ययन्निव । द्रौपद्याः
 मन्त्रेणमाणायाः सख्यमूरुमदर्शयत् ॥ १६ ॥ भीमसेनस्तमालोक्य
 नेत्रे उत्फाल्य लोहिते । प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव
 ॥ १४ ॥ पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः ।
 यद्येतमूरुं गदया न भिन्त्यां ते महाहवे ॥ १५ ॥ क्रुद्धस्य तस्य

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—भीमसेनकी इस बातको सुनकर राजा
 दुर्योधनने उस समय मौन और अचेतनसे हुए राजा युधिष्ठिरको
 पुकार कर कहा कि—॥ ६ ॥ हे राजन् ! भीम, अर्जुन, नकुल
 और सहदेव तुम्हारे वशमें हैं, अब तुम ही द्रौपदीके मरनका उत्तर
 दो क्या तुम ऐसा मानते हो, कि—द्रौपदीको दाँव पर नहीं हारे
 हो ॥ १० ॥ ऐश्वर्यके मद्में मतवालेहुए पापात्मा दुर्योधनने धर्म-
 राज युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर और फर्णकी ओरको मुसकुराकर
 मानो भीमसेनको लज्जित करनेके लिये, द्रौपदीको बद्ध बघाड़
 कर सर्वसुलक्षणोंसे युक्त वज्रकी समान दृढ़ कदलीके खंभेकी
 समान मोटी अथनी दाहिनी जंघा भंगी करके दिखाई ११-१३
 महाकेशी भीमसेन इस बातको देखकर घड़े की क्रोशमें भरगया
 और लाल २ आँखें निकाल कर ऊँचे स्वरसे सधामण्डपको
 गुंजारता हुआ सब राजाओंको सुनाकर बहने लगा, कि—१४
 अरे दुर्योधन ! मैं मतिज्ञा करता हूँ कि—यदि महारणमें तेरी इस
 जंघाको गदासे न तोड़ दूँ तो मुझ भीमसेनको अपने पूर्वपुरुषोंकी
 समान सद्गति न मिले ॥ १५ ॥ जैसे जलतेहुए वृक्षकी फोटों

सर्वेभ्यः सोतोभ्यः पावकाच्चिपः । वृक्षस्येव विनिश्चरुः
 कोटरेभ्यः प्रदह्यतः ॥ १६ ॥ विदुर उवाच । परं भयं परयत
 भीमसेनात्तद् दुध्यध्वं पार्थिवाः प्रातिपेयाः । दैवेरितो नूनमयं
 पुरस्तात् परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥ १७ ॥ अतिघूतं कृतमिदं
 धार्तराष्ट्रा यस्मात् स्त्रियं विवदध्वं समायाम् । योगक्षेमौ नश्यतो
 यः समग्रौ पापान्मन्त्रान् कुरवो मन्त्रयन्ति ॥ १८ ॥ इमं धर्मं
 कुरवो जानताशु ध्वस्ते धर्मे परित्यक्तं संदुष्येत् । इमाञ्चेत्पूर्वं
 कितवोऽग्लहीष्यदीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥ १९ ॥ स्वप्नो यथै-
 तद्विजितं धनं स्यादेवं मन्ये यस्मिन् दीव्यत्यनीशः । गान्धारराजस्य
 धनं निशम्य धर्मादस्मात् कुरवो मापयात ॥ २० ॥ दुर्योधन
 उवाच । भीमस्य वाक्ये तद्देवाञ्जुनस्य स्थितोऽहं वै यमयोश्चैव-
 मैसे अग्निकी लपटें निकला करती हैं तैसे ही क्रोधमें भरे हुए उस
 भीमसेनके सकल रोमकूपोंमेंसे चिनगारियें निकलनेलगीं ॥ १६ ॥
 उस समय विदुरजीने कहा, कि—अरे राजाओं ! देखो भीमसेन
 ने बड़ी भयानक प्रतिज्ञा करी है, निश्चय ही प्रतीत होता है, कि—
 प्रारब्धने ही भरतवंशमें इस बड़ी भारी अनीतिको रचा है ॥ १७ ॥
 अरे धृतराष्ट्रकुमारों ! तुमने अन्यायसे घूत खेला है इसीसे सभा
 में स्त्रीके लिये विवाद कर रहे हो तुम्हारा योगक्षेम सर्वथा नष्ट
 होगया, तुम सब ही खोटी सम्मति किया करते हो ॥ १८ ॥ हे
 कौरवों ! सभामें अधर्माचरण होनेसे सब सभाको दोष लगता है,
 अथ मेरी धर्मानुकूल बातको सुनो, देखो यदि युधिष्ठिर अपनेको
 हारनेसे पहिले द्रौपदीको पण रखकर खेलते तो यह अवश्य ही
 इसको हार सकते थे ॥ १९ ॥ अब तो यह पहिले अपने शरीरको
 हार जानेके कारण द्रौपदीको पण रखनेका अधिकार ही नहीं
 रखते अतः अधिकार न होते हुए इनसे जीताहुआ द्रौपदीरूप धन
 स्वप्नमें जीते हुए धनकी समान है, इसकारण हे कौरवों ! तुम
 गान्धारराज शकुनिकी बातें सुनकर धर्मसे भ्रष्ट न होओ ॥ २० ॥
 दुर्योधनने कहा, कि—हे द्रौपदि ! मैं तो भीमसेन, अर्जुन और

मेव । युधिष्ठिरन्ते प्रवदन्त्वनीशमयो दास्यान्मोक्षयसे याज्ञसेति ॥२॥ अर्जुन उवाच । ईशो राजा पूर्वमासीद् ग्लहेन कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा । ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा तज्जानीध्वं कुरवः सर्वेष्व ॥२२॥ वैशम्पायन उवाच । ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे गोमायुरुच्चैर्ग्याहरदग्निहोत्रे । तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन् समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ॥ २३ ॥ तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी शुभ्राव घोरां सुबलात्मजा च । भीष्मो द्रोणो भीतमश्वापि विद्वान् स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥ २४ ॥ ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वांस्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे । निवेदयामासतुरार्चवत्तदा ततो राजा वाक्यभिर्दं वभाषे ॥ २५ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । इतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे यस्त्वं सभायां कुरुपुद्गवानाम् । त्वयं

नकुल सहदेवकी बात मानूंगा, यदि यह कहें कि—द्रौपदीके ऊपर युधिष्ठिरका कुछ अधिकार नहीं है तो तू दासी बननेसे छूट जायगी ॥२२॥ यह सुनकर अर्जुनने कहा, कि—कुन्तीपुत्र महात्मा धर्मराज पहिले हम सबोंके प्रभु थे, परन्तु अब तुम सब कौरव इस बातको समझ देखो, कि—अपने आपेको हार जाने पर यह किसके स्वामी रहे ॥ २२ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे महाराज जनमेजय ! इस प्रकार प्रश्नोत्तर होरहे थे, कि—उसी समय महाराज धृतराष्ट्रकी अग्निहोत्रशालामें जोर २ से गीदड़ बोलनेलगे और उन गीदड़ोंका शब्द सुनते ही गधे भी रेंकनेलगे तथा चारों ओरसे भयसूचक पक्षी भी बोलनेलगे ॥ २३ ॥ तत्त्वज्ञानी विदुर और गान्धारीने उस घोर शब्दको सुना, विद्वान् भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य भी उस शब्दको सुनकर स्वस्ति २ कहनेलगे ॥ २४ ॥ तदनन्तर इस उत्यातको देखनेवाले विद्वान् विदुर और गान्धारीने घबड़ाकर धृतराष्ट्रसे कहा, तब उन्होंने यह बात कही ॥ २५ ॥ धृतराष्ट्र दुर्योधनको ललकारते हुए कहनेलगे कि—अरे विनयहीन मूढ़बुद्धि दुर्योधन ! तू तो एकसाय ही नष्ट

समाभाषसि दुर्विनीत विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥ २६ ॥
 एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी, हितान्वेषी बान्धवानामपायात् ।
 कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत् सान्त्वपूर्वं विमृष्यैतत् प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः
 ॥ २७ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । वरं वृष्णीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवा-
 ज्जसि । वधूनां हि विशिष्टा मे स्वं धर्मपरमा सती ॥ २८ ॥ द्रौप-
 द्युवाच । ददासि चेद्वरं मह्यं वृष्णोपि भरतर्षभ । सर्वधर्मानुगः
 श्रीमान्दासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥ २९ ॥ मनस्विनमजानन्तो मेवं द्रुपुः
 कुमारकाः । एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममात्मजम् ॥ ३० ॥
 राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नान्यः पुमान् कवित् । राजभिलालित-
 स्यास्य न युक्ता दासपुत्रता ॥ ३१ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । एवं
 भवतु कल्याणि यया त्वमभिभाषसे । द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि

होगया, कि-जो तू कुरुकुलाकी स्त्री और विशेष कर पांडवोंकी
 धर्मपत्नीको सभामें लाकर उससे बातें कर रहा है ॥ २६ ॥ बुद्धि-
 मान् धृतराष्ट्रने ऐसा कहकर इस विपत्तिमेंसे बांधवोंको बचानेकी
 इच्छासे कुछ देर मनमें विचारकर द्रौपदीको समझाते हुए कहा, २७
 धृतराष्ट्र बोले कि-हे द्रौपदि ! तू मुझसे अपनी इच्छानुसार घर
 मांगले, तू परम पतिव्रता और मेरी पुत्रवधुओंमें सबसे श्रेष्ठ है २८
 द्रौपदीने कहा, कि-हे भरतकुलदीपक ! यदि आप मुझें वरदान
 देते हैं तो मैं यह मांगती हूं, कि-यह सदा धर्मके अनुगामी श्रीमान्
 युधिष्ठिर दासभावसे छूटजायें ॥ २९ ॥ जिससे कि-आपके पुत्र अब
 आगेको इन्हें दास न कहें और यह मेरा पुत्र प्रतिविन्ध्य दासपुत्र
 न कहलावे ॥ ३० ॥ क्योंकि-प्रतिविन्ध्य राजपुत्र है, तिसपरभी
 राजाओंने इसको लाड़ लदाया है, इसका दासपुत्र होना अनुचित
 है और पहिले अन्य किसी राजपुत्रकी ऐसी दशा कभी हुई भी
 नहीं है ३१ ॥ यह सुनकर धृतराष्ट्रने कहा, कि-हे कल्याणि !
 तू जैसा कह रही है, ऐसा ही होगा, मैं तुम्हें दूसरा वर और
 देना चाहता हूं उसको भी मांगले, मेरा मन कहता है, कि-तू

वरयस्व ह । मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ॥ ३२ ॥
 द्रौपद्युवाच । सरथो सधनुष्कौ च भीमसेनधनञ्जयौ । यमौ च
 च वरये राजन्नदासान्स्वप्नशानहम् ॥ ३३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच ।
 तथास्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीञ्छसि । तृतीयं वरयास्मत्तो
 नासि ताभ्यां सुसत्कृता । त्वं हि सर्वस्तृपाणां मे श्रेयसा धर्म-
 चारिणी ॥ ३४ ॥ द्रौपद्युवाच । लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन्नाह-
 मुत्सहे । अनर्हा वरपादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥ ३५ ॥ एकमाहु-
 र्वैश्यवरं द्रौ तु क्षत्रियस्त्रियो वरौ । त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य
 शतं वरौ ॥ ३६ ॥ पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो
 मम । वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन् पुण्येन कर्मणा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्यणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवर-
 लाभे सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

एक वर पानेके योग्य नहीं है ॥ ३२ ॥ द्रौपदीने कहा, कि-रथ
 और धनुषसहित भीमसेन और अर्जुन तथा नकुल और सहदेव
 भी दासभावसे छूटकर स्वामीन होजायें यही दूसरा वर मैं मांगती
 हूँ ॥ ३३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-हे महाभागे ! मैं तेरी अभिलाषा
 के अनुसार यह वरदान भी देता हूँ, इन दो वरोंसे ही तेरा उचित
 सत्कार नहीं हुआ, इसकारण तीसरा वर और माँग क्योंकि-तू
 मेरी सब पुत्रवधुओंमें श्रेष्ठ और धर्मचारिणी है ॥ ३४ ॥ द्रौपदी
 ने कहा, कि-हे महाराज ! अधिक लोभ करनेसे धर्मका नाश
 होजाता है इसकारण तीसरा वर माँगनेके लिये मेरे चित्तमें बत्साह
 नहीं होता और तीसरा वर माँगनेका मुझें अधिकार भी नहीं है
 ॥ ३५ ॥ क्योंकि-शास्त्रमें कहा है, कि-वैश्यको एक वर क्षत्रिय
 की स्त्रीको दो वर राजाको तीन वर और ब्राह्मणको सौ वर लेने
 का अधिकार है ॥ ३६ ॥ इससमय मेरे पनि दासभायरूप दारुण
 पापपादमें गगन होकर फिर उसके पार होगए, अब यह पुण्यकर्म
 करके उसके प्रभावसे बहुतसे शुभ पदार्थ पाजायेंगे ॥ ३७ ॥
 सप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ७० ॥ * . ॥ * ॥

कर्ण उवाच । यानं श्रुता मनुष्येषु द्वियो रूपेण सम्मताः ।
 तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्च न शुश्रुम ॥ १ ॥ क्रोधाविष्टेषु
 पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति । द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्ति-
 रिहाऽभवत् ॥ २ ॥ अप्लवेऽम्भसि मनानामप्रतिष्ठं निमज्जताम् ।
 पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां न्नोरेषा पारगाऽभवत् ॥ ३ ॥ वैशंपायन
 उवाच । तद्वै श्रुत्वा भीमसेनः कुर्मध्येऽत्यमपणः । स्त्री गतिः
 पाण्डुपुत्राणामित्युवाच स दुर्मनाः ॥ ४ ॥ भीम उवाच । ग्रीणि
 ऽपोतींषि पुरुष इति वै देवलोऽर्चनीयः । अपत्यं कर्म विद्यां च
 यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥ ५ ॥ अग्नेऽप्ये वै गतमाणं शून्ये ज्ञातिभि-
 रभिहतं दारोणामभिमर्शनात् । धनञ्जय कथं स्वित् स्यादपत्यमभि-
 सृष्टजम् ॥ ७ ॥ अर्जुन उवाच । न चैवोक्ता नवानुक्ता हीनतः

कर्णने कहा, कि-हमने जिन परमरूपवती स्त्रियोंकी कथा सुनी
 है उनमेंसे किसी स्त्रीका भी ऐसा कर्म नहीं सुना ॥ १ ॥ पाण्डव
 और कौरव सब बड़ेमारी क्रोधमें हो रहे थे परन्तु पाण्डवोंके लिये
 द्रौपदी शांतिरूपिणी होगई ॥ २ ॥ पाण्डव दुस्तर जलमें डूबे
 जाते थे द्रौपदीने नौका बनकर उनको पार लगा दिया ॥ ३ ॥
 वैशंपायनजी कहते हैं, कि-कौरवोंके मध्यमें बैठा हुआ परमकोपी
 भीमसेन कर्णकी इस बातको सुनकर मनमें दुःखित होता हुआ
 कहने लगा, कि-हा ! पाण्डवोंने स्त्रीसे रक्षा पाई ॥ ४ ॥ भीमसेन
 ने अर्जुनसे कहा, कि-देवल ऋषिने कहा है, कि-जब प्राण-
 हीन होनेपर पुरुषको सम्प्रन्धी और जातिवाले त्याग देते हैं तब
 सन्तान, कर्म और विद्या यह ज्योतियें उसकी सहायता करती हैं
 क्योंकि-सब प्रजाएं इनसे ही रची गई है ॥ ५ ॥ इस समय
 हमारी धर्मपत्नी द्रौपदीको दुःशासनने अप्रतिष्ठा करके तेजोहीन
 कर दिया है, हे धनञ्जय ! इससे उत्पन्न हुई सन्तान ज्योतियोंमें
 कैसे गिनी जायगी ? ॥ ७ ॥ अर्जुनने कहा, कि-हे भरतकुलभूषण !

परुषा गिरः । भारत प्रतिजल्पन्ति तदा तुत्तमपूरुषाः ॥८॥ स्मरन्ति
सुष्ठुनान्येव न वैराणि कृतान्यपि । सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध-
सम्भावनाः स्वगम् ॥ ९॥ भीम उवाच । इहैवैतास्त्वहं सर्वान् हन्मि
शत्रून् समागतान् । अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान् हन्मि भारत ।
॥ १० ॥ किं नो विवदिते नेद किमुक्ते न च भारत । अधै-
वैतान्निहन्मीह मशाधि पृथिवीभिमाग् ॥ ११ ॥ इत्युक्त्वा भीम-
सेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह । मृगमध्ये यया । सहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत
॥ १२ ॥ सान्त्वमानो वीक्ष्यमाणः पार्थेनाविलष्टकर्मणा । स्निग्धत्येव
महाबाहुरन्तर्द्वाहेन वीक्ष्यवान् ॥ १३ ॥ क्रुद्धस्य तस्य स्तोतोभ्यः
कर्णादिभ्यो नरोधिप । स धूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत

नोच पुरुष किसीको कठोर वचन कहें चाहे, न कहें श्रेष्ठ पुरुष उन
के कथनको लेकर चर्चा नहीं करते हैं ॥ ८ ॥ सज्जन केवल
सत्कर्मोंका ही स्मरण किया करते हैं कोई वैरके काम पर तो भी
उसको चित्त पर कभी नहीं लाते क्योंकि-किसीके दुर्वचन कहने
से उनकी प्रतिष्ठामें दोष नहीं लगता ॥ ९ ॥ अर्जुनके इतना
कह चुकने पर भीमसेनने युधिष्ठिरसे कहा, कि-हे राजेन्द्र ! हमारे
जो शत्रु यहांभाये हैं उनको इसी स्थानपर अथवा यहांसे निकलते
ही मार डालूंगा ॥ १० ॥ अथवा हमको विवाद करने या बातें
करनेकी क्या आवश्यकता है ? आज इस सभामें ही सब शत्रुओं
को यमराजके हाथमें सौंपे देता हूं, आप निष्कण्टक होकर इस
पृथिवीका शासन करिये ॥ ११ ॥ भीमसेन ऐसा कहकर छोटे
भाइयों सहित, मृगोंके भुंढमें सिंदूरी समान चार २ इयर उयर
को देखनेलागा ॥ १२ ॥ अपने कामसे किसीको कष्ट न पहुंचाने
वाले युधिष्ठिरने यह दशा देखकर भीमसेनको शांत किया, तब
वह महाबाहु वीर भीमसेन अपने हृदयमें ही भस्म होता हुआ
इयर उयरको देखनेलागा ॥ १३ ॥ हे महाराज ! क्रोधके मारे उसके
ज्ञान आदि शरीरके छिद्रोंमेंसे मानो धुआं, चिनगारियें और लपटों

॥ १४ ॥ भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत्तस्य तन्मुखम् । युगान्तकाले
संभासे कृतान्तस्येव रूपिणः ॥ १५ ॥ युधिष्ठिरस्तथावाय्यं बाहुना
बाहुशालिनम् । नैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्वेति भारत ॥ १६ ॥
निवार्य च महाबाहुं कोपसेरकलोचनम् । पितरं समुपातिष्ठद् धृतराष्ट्रं
कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि धृतपर्वणि भीमक्रोध

एकसप्ततिमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

युधिष्ठिर उवाच । राजन् किं कुरवामस्ते मशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः ।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारते शासने ॥ १ ॥ धृतराष्ट्र उवाच ।
अज्ञातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत । अनुज्ञाताः सहयनाः
स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥ इदञ्चैवावबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम् ।
मया निगदितं सर्वं पथ्य निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥ वेत्थ त्वं तात

सहित आग निकलनेलगी ॥ १४ ॥ भोंए चढाहुआ भीमसेनका
मुख, मलयकौलमें शरीरधारी यमराजके मुखभी समान भयानक
दीखता था ॥ १५ ॥ हे महाराज । तब युधिष्ठिरने उस महाबाहु
भीमसेनको हाथमें पकडकर बैठाता और कहा, कि—ऐसी बातें
न करो, मौन बैठे रहो ॥ १६ ॥ क्रोधसे लाल २ नेत्रोंवाले महा-
बाहु भीमसेनको इसप्रकार समझाकर युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए
चचा धृतराष्ट्रके पास गए ॥ १७ ॥ एकसप्ततितम अध्याय समाप्त ७१

युधिष्ठिरने कहा, कि—हे महाराज ! आज्ञा दीजिये, अथ
हम क्या करें, आप हमारे मनु हैं, हम चिरकाल तक आपकी आज्ञा
में ही रहना चाहते हैं ॥ १ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—हे अज्ञात-
शत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो, सदा आनन्दसे रहो, तुम सब धन
लेकर जाओ और राज्यका पालन करो ॥ २ ॥ वस मुझ बूढ़ेकी
यहाँ आज्ञा है मेरी कही हुई सब बात हित और परममङ्गलरूप है
॥ ३ ॥ हे तात युधिष्ठिर ! तुम धर्मकी सूक्ष्म गतिको जानते हो,

धर्माणां गतिं सूच्यमां युधिष्ठिर । विनीतोऽसि महापातु वृद्धानां पयु-
 पासिता ॥ ४ ॥ यतो बुद्धिस्ततः ज्ञान्तिः प्रशमं गच्छ भारत ।
 नादारुणि पतेच्छुस्त्रं दारुणयेतन्निपात्यते ॥ ५ ॥ न वैराण्यभि-
 जानन्ति गुणान् पश्यन्ति नागुणान् । विरोधं नाभिगच्छन्ति ये त
 उत्तमपुरुषाः ॥ ६ ॥ स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि ।
 सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ॥ ७ ॥ संवादे परुषा-
 ययाहुयुधिष्ठिर नराधमाः । मत्याहुर्मध्यमास्त्वेतानुक्ताः परुषमुत्त-
 रम् ॥ ८ ॥ न चोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः । प्रति-
 जल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ९ ॥ स्मरन्ति सुकृता-
 न्येव न वैराणि कृतान्यपि । सन्तः प्रतिविनानन्तो लब्ध्वा मत्पय-
 मात्मनः ॥ १० ॥ असभिन्नार्थमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनः ।

हे परमपवीण ! तुम बड़े नम्र और हृदयोंके सेवक हो ॥ ४ ॥ हे
 भारत ! जहाँ बुद्धि है तहाँ ही ज्ञान है, इस कारण तुम ज्ञान्ति
 को धारण करो, दृढ़ काठके ऊपर ही शस्त्र पड़ता है, अन्य स्थान
 पर शस्त्र नहीं ठहर सकता ॥ ५ ॥ जो वैर करना ही
 नहीं जानते, दोषोंकी ओरको न देखकर केवल गुणोंको ही देखते
 हैं और किसीसे विरोध नहीं करते वह ही उत्तमपुरुष हैं ॥ ६ ॥
 सत्पुरुष केवल सत्कर्मोंकी ओर ही दृष्टि देते हैं, कोई वैर धरते
 भी उसको स्मरण नहीं रखते, शत्रुका भी उपहार ही करते हैं,
 उससे बदला लेनेका उद्योग नहीं करते ॥ ७ ॥ हे युधिष्ठिर ! नीच
 पुरुष साधारण बातोंमें कठोर वचन कहने लगते हैं, वह मध्यम पुरुष
 हैं जो किसीके कठोर वचन करने पर उसमें कठोर वचनसे ही
 उत्तर देते हैं ॥ ८ ॥ और जो उत्तम पुरुष हैं वह कोई कठोर वचन
 कहे चाहे न कहे सदा धीरतासे ही उत्तर देते हैं ॥ ९ ॥ सज्जन पुरुष
 शत्रुओंके क्रियेहुए सत्कर्मोंका ही स्मरण रखते हैं, वैरभावकी बात
 उनके हृदय पर ठहरती ही नहीं ॥ १० ॥ साधुपुरुष किसी दशाने
 भी अपनी मर्यादाके बाहर नहीं जाते और उनको देखते ही सब

तथाचरितमार्येण त्वयास्मिन् सत्समागमे ॥ ११ ॥ दुर्योधनस्य
 पारुष्यं तत्तात हृदि मा कृयाः । मानरश्चैव गान्धारीमाञ्च त्वं गुण-
 कान्तया ॥ १२ ॥ उपस्थितं वृद्धमन्दं पितरं पश्य भारत । मेनापूर्वं
 मया धूमनिदमासादुपेक्षितम् ॥ १३ ॥ मित्राणि द्रष्टृकामेन पुत्राणां
 च बलावलम् । अशोच्याः कुरवो राजन् येषां त्वमनुशासिता १४
 मन्त्री च विदुरो धीमान् सर्वशास्त्रविशारदः । स्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं
 भीमसेने पराक्रमः ॥ १५ ॥ शुद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषा-
 ग्र्ययोः । अज्ञातशत्रो भद्रं ते खाण्डवमस्थमाविश । भ्रातृभिस्तेऽस्तु
 सौभ्रात्रं धर्मं ते धीयतां मनः ॥ १६ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तो
 भरतश्रेष्ठो धर्मराजो युधिष्ठिरः । कृत्वार्य्यसमयं सर्वं मतस्थे भ्रातृभिः
 सह ॥ १७ ॥ ते रथान् मेघसङ्काशानास्याप सह कृष्णपा ।

लोग मसन्न होजाते हैं, सो तुमने भी अपनी श्रेष्ठताकी ओर ध्यान
 देकर तैसा ही वर्त्ताव लिया है ॥ ११ ॥ सो हे तात ! अब तुम मुझ
 वृद्ध और माता गान्धारी को औरवो देखकर इस दुर्योधनकी निडु-
 राईको अपने हृदयसे निकाल दो ॥ १२ ॥ हे भारत ! इस अपने
 वृद्धे अन्धे चचाकी ओरको देखो मैंने इस धूमक्रीड़ाको देखतेहुए
 भी उपेक्षा करी ॥ १३ ॥ केवल मित्रोंकी परीक्षा और और पुत्रोंका
 बलावल देखनेके लिये ही मैंने घृत होनेकी आज्ञा दी थी, हे तात !
 जिनके तुम शासनकर्त्ता, और सर्वशास्त्रप्रवीण-बुद्धिमान् विदुर
 मन्त्री हैं उन कौरवोंको किस बातका शोक होसकता है ? तुममें धर्म
 अर्जुनमें धीरता और भीमसेनमें पराक्रम है ॥ १४—१५ ॥ सकल
 पुरुषोंमें श्रेष्ठ नकुल सहदेव गुरुजनोंके परम आज्ञाकारी हैं, हे
 अज्ञातशत्रो ! तुम्हारा कल्याण हो, यद्यपि तुम खाण्डवमस्थको जाओ
 ॥ १६ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! भरतकुलभूषण
 धर्मराज युधिष्ठिर, घृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर सवप्रकारका शिष्टाचार
 दिखाकर भ्राताओं सहित तहाँसे चलदिये ॥ १७ ॥ वह सब द्रौपदी
 सहित मेघकी समान शब्द करनेवाले रथोंमें बैठकर मनमें मसन्न

मयसुहृष्टमनस इन्द्रमस्थं पुरोत्तमम् ॥ १८ ॥ ॥ छ ॥ छ

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि खाण्डवमस्थ-

प्रस्थाने द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

॥ समाप्तश्च द्यूतपर्व ॥

अथानुद्यूतपर्व ।

जनमेजय उवाच । अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा सरस्म्यधनसञ्चयान् ।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥ १ ॥ वैशम्पायन
उवाच । अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता । राजन् दुःशा-
सनः क्षिप्रं भगाम आतरं प्रति ॥ २ ॥ दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं
भरतर्षभ । दुःखाचो भरतश्रेष्ठं इदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥ दुःशासन
उवाच । दुःखेनैतत् समानीतं स्थिरो नाशयस्वसौ । शत्रुसान्
गवयन् द्रव्यं तद् पुण्यध्वं महारथाः ॥ ४ ॥ अथ दुर्योधनः कर्णः
शकुनिश्चापि सौयलः । मिथः सङ्गम्य सहिताः पाण्डवान् प्रति

होते हुए अपने सुन्दर नगर इन्द्रमस्थको चले गए ॥ १८ ॥ द्विसप्तति-
तम अध्याय समाप्त ॥ ७२ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

जनमेजयने कहा, कि—हे ऋषे! धृतराष्ट्रने धन और रत्नसमूहों
सहित पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा देदी, इस बातको जानकर धृत-
राष्ट्रके पुत्रोंके मनकी क्या दशा हुई ॥ १ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं,
कि—हे राजन् जनमेजय! बुद्धिमान् धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको धनसहित
जानेकी आज्ञा देदी, इस बातको सुनते ही दुःशासन अपने भाई
दुर्योधनके पास गया ॥ २ ॥ हे महाराज! मंत्रीके साथ बैठे हुए
दुर्योधनके पास जाकर उसने धनमें दुःखित होते हुए यह बात
कही ॥ ३ ॥ दुःशासन बोला, कि—हमारे बड़े बेटेसे पाये हुए
धनको यह बूढ़ा राजा नष्ट करे देता है हे महारथी! वह सब धन
शत्रुओंके हाथमें चला गया, अब इसमें जो कुछ भलाई बुराई हो
उसको सोच लो ॥ ४ ॥ यह सुनते ही दुर्योधन, कर्ण और सुवल
नन्दन शकुनि पाण्डवोंके प्रति बड़ा अभिमान करते हुए शीघ्रताके

मानिनः ॥ ५ ॥ वैवित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम् । अधि-
 गम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥ दुर्योधन उवाच ।
 न त्वयेदं श्रुतं राजन् यज्जगद् नृहस्पतिः । शक्रस्य नीतिं प्रवदन्
 विद्वान् देवपुरोहितः ॥ ७ ॥ सर्वोपायैर्विहन्तव्या शत्रवः शत्रुसूदन ।
 पुरा युद्धाद्गताः पापि ये कुर्वन्ति सदाहितम् ॥ ८ ॥ ते वप पाण्डव-
 धनैः सर्वान् सम्पूज्य पारिवान् । यदि तान्योषधिष्यामः किं वै
 नः परिहास्यति ॥ ९ ॥ अहीनाशीविषान् क्रुद्धान्नाशाय समु-
 पस्थितान् । कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कंः समुत्सृज्य हर्षि ॥ १० ॥
 आत्तगत्ना रथमनाः कुप्तितास्तात पाण्डवाः । निःशेषं व कृरि
 ण्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव ॥ ११ ॥ सन्नद्धो ह्यर्जुनो याति
 विष्टव्य परमेषुधी । गांढीव मुहुरादत्ते निःश्वसंश्च निरीक्षते ॥ १२ ॥

साथ बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके पास पहुँचे और विनयके
 साथ यह बात बोले ॥ ५ ॥ १ ॥ दुर्योधनने कहा, कि—हे राजन् !
 क्या तुमने यह नहीं सुना है, कि जो देवताओंके पुरोहित विद्वान्
 पृहस्पतिजाने स्वर्गपति इन्द्रको उपदेश देते समय कहा था, कि—
 हे शत्रुनाशन ! सकल उपायोंसे शत्रुओंका नाश ही करनेना ठीक
 है, क्योंकि—वह युद्ध करके और बल दिखाकर हानि पहुँचाने
 की चेष्टा करते हैं ॥ ८ ॥ इस कारण यदि इससमय हम पाण्डवों
 से पापेहुए धनसे ही राजाओंको प्रसन्न करके युद्ध परनेके लिये
 तयार कर देते तो इसमें हमारी क्या हानि थी ? ॥ ९ ॥ देखिये,
 प्राण लेनेको तयार और क्रोधमें भरे सर्पोंको कंठमें वा पीठपर
 रखकर कौन रक्षा पासकेता है ? ॥ १० ॥ हे महाराज ! पाण्डव
 भी सर्पोंकी समान ही क्रोधमें भर रहे हैं वह जिस समय शस्त्र
 धारण कियेहुए रथोंमें बैठकर आवेंगे उस समय सबको ही
 मारदालेंगे, एकको भी जीता नहीं छोड़ेंगे ॥ ११ ॥ हमने सुना
 है, कि—अर्जुन कवच पहनकर और तरकस लगाकर युद्धके
 लिये तयार है वार २ गांढीव धनुषको हाथमें लेता है और

गदां गुर्वीं समुद्यम्य त्वरितश्चक्रोदरः स्वस्थं योजयित्वाशु निग्यात
इति नः श्रुतम् ॥ १३ ॥ नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्धचन्द्रवत्
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिद्वितै ॥ १४ ॥ ते त्नास्थाय रथान्
सर्वे बहुशस्त्रपरिच्यदान् । अभिघ्नन्तो रथघातान् सेनायोगाय
निर्ययुः ॥ १५ ॥ न क्षंस्यन्ते तथास्माभिर्ज्जातु विप्रकृता हि ते ।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥ १६ ॥ पुनर्दीव्याम् भद्रन्ते
वनवासाय पाण्डवैः । एवमेतान् वशो कर्तुं शक्यामः पुरुषर्षभ ॥ १७
ते वा द्वादशवर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः । प्रविशेम महारथ-
मजिनैः प्रतिवासिताः ॥ १८ ॥ त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परि-
वत्सरम् । ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १९ ॥ निव-
सेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्त्तताम् । अज्ञानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं

लंबेरे श्वास लेता हुआ इधर उधरको देखता है और भीमसेन तो
अपनी बंदीमारी गदाको ले शीघ्र ही रथको जोड़कर चला दिया
है ॥ १२ ॥ १३ ॥ नकुल भी तलवार और आधे चन्द्रमाकी समान
झालको लेकर चला है तथा सहदेव और युधिष्ठिर भी तो ऐसा ही
आकार और चेष्टा कर रहे हैं ॥ १४ ॥ यह सब ही अस्त्र शस्त्र लेकर
अपने रथोंको दौड़ाते हुए सेना इकट्ठी करनेको निकल पड़े हैं ॥ १५
हमने एकवार उनसे प्रतिकूलता कर ली है, वह अब हमें क्षमा
नहीं करेंगे, द्रौपदीको जो क्लेश पहुंचा है उसको वन पाँचोंमेंसे
एक भी नहीं सह सकता ॥ १६ ॥ हे महाराज ! हम तो वनवास
का दौंव लगाकर पाण्डवोंके साथ फिर चौसर खेलेंगे, आपका
फन्याण होगा और इसप्रकार हम उनको अपने वशमें कर सकेंगे
॥ १७ ॥ हम या वह जो जुएमें हारजायं बारह वर्ष पर्यन्त भृग-
द्वाला जोड़कर वनमें रहें ॥ १८ ॥ और तेरहवें वर्षमें किसी
नगरमें ऐसे छुपकर रहें, कि—कोई जान न लेय, यदि कोई
जानजाय कि—यह पाण्डव या कौरव हैं तो फिर बारह वर्ष पर्यन्त
वनमें रहें, इस प्रतिज्ञा पर द्यूत खेलनेकी आप आज्ञा दे दीजिये,

कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ २० ॥ एतत् कृत्यतमं राजन्सस्माकं भरतर्षभ ।
 अयं हि शकुनिर्वेद सन्ध्यामन्तसम्पदम् ॥ २१ ॥ दृढमूलावयं राज्ये
 मित्राणि परिगृह्य च । सारवद्विपुलं सैन्यं सरकृत्य च दुरासदम् २२
 ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद् व्रणम् । जेष्यामस्तान् वयं
 राज रोचतां ते परन्तप ॥ २३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । तूर्णं मत्या-
 नपस्वेतान् कामं व्यध्वगतानपि । आगच्छन्तु पुनर्धूतमिदं कुर्वन्तु
 पाण्डवाः ॥ २४ ॥ वैशम्पायन उवाच । ततो द्रोणः सोमदत्तो
 चाह्नीकरचैव गौतमः । विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् २५
 भूरिश्रवा शान्तनवो विकर्णश्च महारथः । मा धूतमित्यभापन्त
 शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥ २६ ॥ अरुणामानाञ्च सर्वेषां सुहृदामर्थ-

मिससे, कि—पांडव फिर फौसे डालकर हमारे साथ चौसर खेलें
 ॥ १६ ॥ २० ॥ हे महाराज ! इस समय हमारा यह बहुत ही
 आवश्यक काम है और फौसे डालनेकी विद्यामें यह हमारे मामा
 शकुनि परमचतुर हैं ही ॥ २१ ॥ यदि पांडव तैरह वर्षके इस
 नियमको पूरा भी कर लेंगे तो इतने समयमें हम बहुतसे राजाओं
 को अपना मित्र बनालेंगे, बड़े सत्कारके साथ महाबली योधाओं
 की बहुतसी सेना इकट्ठी कर लेंगे, इसकारण पांडवोंको युद्धमें भी
 जीत लेंगे, सो हे महाराज ! आप हमारी इस बातको मान लीजिये
 ॥ २२ ॥ २३ ॥ यह सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा, कि—हे बेटा ! यदि
 ऐसा है तो चाहे दूर निकल गए हों तब भी पांडवोंको शीघ्र ही
 दूत भेज कर बुलालो, वह आजायें तो इस प्रतिज्ञा पर फिर खेल
 हों ॥ २४ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—इस बातको सुनकर
 द्रोणाचार्य, सोमदत्त, चाह्नीक, कृपाचार्य, विदुर, द्रोणपुत्र, अरु-
 णामा, वीर युयुत्सु, भूरिश्रवा, शान्तनुकुमार भीष्मजी और महा-
 रथी विकर्ण इन सबोंने ही कहा कि—शांति रखते अथ धूत
 मत खेलो ॥ २५—२६ ॥ परन्तु उस समय पुत्र पर प्रेम करने
 वाले महाराज धृतराष्ट्रने परिणामदर्शी सकल निजोंकी इच्छा न

दर्शनाम् । अकरोत् पाण्डवाद्दानं धृतराष्ट्रः सुतनियः ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वायनुद्युतपर्वणि पुन-

सुधिष्ठिराद्दाने त्रिसप्ततिमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

वैशम्पायन उवाच । अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
पुत्रहर्दाद्धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्षिता ॥ १ ॥ जाते दुर्योधने
क्षत्ता महामतिरभायत । नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः २
न्यनदञ्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत । अन्तो नूनं कुलस्यास्य
तन्निबाधत भारत ॥ ३ ॥ मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि
भारत । मा बालानामशिष्टानामभिमंस्या मतिं प्रभो ॥ ४ ॥ मा
कुलस्य क्षये धोरे कारणं त्वं भविष्यसि । यद्धं सेतुं कोऽनु भिन्धा-
द्धमेच्छान्तश्च पावकम् ॥ ५ ॥ शमे स्थितान् कोऽनु पार्यान् कोपये-
च्चरतर्पभ । स्मरन्तं त्वामाजमीदं स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥ ६ ॥

हाने पर भी, किसीकी बात न मानकर जुआ खेलनेके लिये
पाण्डवोंको फिर जुलवाया ॥ २७ ॥ त्रिसप्ततितम अध्याय समाप्त ७३

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे महाराज ! तदनंतर शोकमें
मग्न हुई धर्मपरायणा गान्धारीने पुत्रके प्रेमवश राजा धृतराष्ट्रसे
कहा, कि—॥ १ ॥ दुर्योधनका जन्म होनेके समय महामति विदुर-
जीने कहा था, कि—इस कुल कलङ्कको परलोकवासी करदो
॥ २ ॥ यवाकि—हे भारत ! यह उत्पन्न होते ही गीदड़की
समान रोया है, अतः यह अवश्य ही इस कुलका नाश करेगा
॥ ३ ॥ इसकारण हे नाथ ! आप अपने दोषसे सधोंको विपत्तिके
सागरमें मत डुवाइये, इन विनयहीन बालकोंकी हँ में हँ न
मिलाइये ॥ ४ ॥ आप इस कुलका नाश करने वाले खोटे काममें
कारण मत बनिये, वैसे हुए पुलको जानकर कौन तोड़ा करता है ?
ऐसा करनेसे यह बुझीबुझी अग्नि फिर बल उठेगी ॥ ५ ॥ हे
महाराज ! शांतिमें स्थित, किसीसे विरोध न करनेवाले पाण्डवों
को क्रोध दिलाना ठीक नहीं है, हे महाराज ! इस बातको आप
जानते ही हैं, तथापि पर्पने और स्मरण दिला दिया है ॥ ६ ॥ हे

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतसा च । न वै वृद्धो बाल-
मतिर्भवेद्राजन् कथञ्चन ॥ ७ ॥ त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां
दीर्णाः प्रहासिषुः । तस्मादयं मद्बचनात्पञ्चार्ता कुलपासनः ॥ ८ ॥
तथा तेन कृतं राजन् पुत्रस्नेहान्नराधिप । तस्य प्राप्तं फलं विद्धि
कुलान्तकरण्याय यत् ॥ ९ ॥ शमेन धर्मेण परस्य बुद्ध्या या ते बुद्धिः
सास्तु ते मा प्रमादीः । मध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्रीमृदुमौढा
गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ १० ॥ अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारी धर्म-
दर्शिनीम् । अन्तःकामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥ ११ ॥
यथेच्छन्ति तथैवास्तु मत्यागच्छन्तु पाण्डवाः । पुनर्धृतञ्च कुर्वन्तु
मामकाः पाण्डवैः सह ॥ १२ ॥ ॥ छ ॥ ॥ छ ॥

राजन् ! शास्त्रका उपदेश महामूर्खके चित्त पर भला बुरा कुछ
प्रभाव नहीं डाल सकता परन्तु आप बूढ़े होकर बालकों की सी
यातें, करें, यह किसी प्रकार भी उचित नहीं है ॥ ७ ॥ इस
समय आप पुत्रसमान पाण्डवों को अपने वशमें रखिये, ऐसा न
हो, कि-वह दुःखित होकर आपसे अलग हो जायें, इस कारण
आप मेरे कहनेसे इस कुलकुलङ्क को त्याग दीजिये ॥ ८ ॥ हे
राजन् ! आपने पुत्रके प्रेममें पड़कर उस समय विदुरकी बात नहीं
मानी थी, यह उसका ही फल मिल रहा है, कि-अब कुलका नाश
होनेका अवसर आगया ॥ ९ ॥ शान्ति, धर्म और मंत्रियोंकी
सम्पत्तिसे आपको जैसी विचारशक्ति प्राप्त हुई है, इसको ठीक
बनाये रखिये, प्रमादमें न पड़िये, बिना विचारे काम करना आप
को बड़ा दुःख देगा, क्रूरके हाथमें गई हुई राजलक्ष्मी नाश कर
देती है, परन्तु सरल पुरुषकी राजलक्ष्मी परम्परासे पुत्र पौत्रादि
में रहा करती है ॥ १० ॥ राजा धृतराष्ट्रने सहधर्मिणी गान्धारी
की यह बात सुनकर कहा, कि-हे भिये ! यदि वंशका नाश ही
होना है तो होय, उसको मैं नहीं रोक सकता ॥ ११ ॥ अब
दुर्पोषनादि जैसा चाहते हैं वही होना चाहिये, पाण्डवों को फिर
लौट कर आने दो-मेरे पुत्र उनके साथ जुड़ा सेलेंगे ॥ १२ ॥

इति श्रीपद्मभारते सभापर्वण्यनुयुतपर्वणि गान्धारी

वाक्ये चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

यैशम्पायने उवाच । ततो व्यध्वगतं पार्थ मातिकायी युधि-
ष्ठिरम् । उवाच वचनाद्राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पीमतः ॥ १ ॥ उपस्तीर्णा सभा
राजन्नक्षानुत्वा युधिष्ठिर । एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाहेति
भारत ॥ २ ॥ युधिष्ठिर उवाच । धातुर्निषोगान्द्रतानि मामुबन्ति
शुभाशुभम् । न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥ ३ ॥ अक्ष-
घृते समाह्वानं नियोगात्स्थविरस्य च । जानन्नपि क्षयकरं नाति-
क्रमितुमुत्सहे ॥ ४ ॥ यैशंपायनादर्शां च । असम्भवे हेममयस्य जन्तो
स्तथापि रामो लुलुभे मृगाय । मायः समासन्नपराभवाणां धियो
विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥ ५ ॥ इति ब्रुवन्निवहते आदृभिः सह

चतुःसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ७४ ॥ ॥ छ ॥

यैशम्पायनजी कहते हैं, कि-तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञा
से मातिकायी, मार्गमें दूर पहुँचे हुए युधिष्ठिरके पास जाकर रुकने
लगा, कि-॥ १ ॥ हे राजन् युधिष्ठिर ! फिर सभा जोड़ी गई है
और हे पाण्डव ! आपसे महाराज धृतराष्ट्रने कहा है, कि-आकर
फिर चौसर खेलिये ॥ २ ॥ युधिष्ठिरने कहा, कि-सफल प्राणी
दैववश ही शुभ अशुभ फलको भोगा करते हैं, उसको कोई टाल
ही नहीं सकता, इसकारण यदि फिर जुआ खेलना पड़ता है तो
ऐसा ही सही ॥ ३ ॥ मैं जानता हूँ कि जुआ खेलनेसे कुलका
नाश होगा, तथापि चौसरके खेलके लिये बुलाया गया है और
तिसपर भी वृद्ध वचासी आज्ञा है, कि-जिसको मैं टाल ही
नहीं सकता ॥ ४ ॥ यैशंपायनजी कहते हैं, कि-जीव सुवर्णका
शरीर धारण करके उत्पन्न हो, इस बातको सर्वथा असम्भव
जानकर भी रघुकुन्तिलक राजा रामचन्द्रजी सुवर्णके मृगके
लोभमें आगए, इससे सिद्ध है, कि-विपत्तिकाल समीप आनेपर
मायः लोगोंकी बुद्धियें उलझी होजाती हैं ॥ ५ ॥ ऐसा कहकर

पाण्डवः । जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात्पुनः ॥६॥ विविशु-
स्ते सभां तान्तु पुनरेव महारथाः । व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां
भरतर्षभाः ॥ ७ ॥ यधोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूतमवृत्तये । सर्वलोक-
विनाशाय देवेनोपनिषिताः ॥ ८ ॥ शकुनिरुवाच । अमुञ्चत्-
स्पविरो यद्वो धनं पूजितमेव तत् । महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु धो
भरतर्षभ ॥ ९ ॥ ययं वा द्वादशब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिज्जिताः ।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः ॥ १० ॥ त्रयोदशश्च सजने
अज्ञाताः परिवत्सरम् । ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश १ ।
अस्माभिर्निज्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान् । वसध्वं कृष्णया साङ्ग-
मजिनैः तिवासिता ॥ १२ ॥ त्रयोदशश्च सजने अज्ञाता परि-
युधिष्ठिर भ्राताओं सहित लौट आये और शकुनि बली है, इस
बातको जानकर भी फिर उसके साथ द्यूत खेलनेको चले गए
॥ ६ ॥ वह महारथी भरतवंशभूषण पाण्डव जब फिर द्यूतसभा
में जाकर बैठे उस समय उनके मित्रोंके चित्तमें बड़ा दुःख हुआ
॥ ७ ॥ वह नानाप्रकारके सुखोंको भोगते हुए समयको बिताया
करते थे, परन्तु खोटे मारब्धने सकल लोकाका नाश करनेके लिये
इनको पीड़ित करके जुआ खेलनेमें मग्न करदिया और वह
खेलनेके लिये सभामें आकर चुपचाप बैठ गए ॥ ८ ॥ तब शकुनि
ने युधिष्ठिरसे कहा, कि—हे भरतर्षभ ! जो उत्तमोत्तम धन आप
को दूढ़े द्यूतराष्ट्रने छोड़ दिया है सो बहुत ही अच्छा हुआ परन्तु
अब हमने एक बड़े भारी धनको दाँव पर लगाना विचारा है,
उसको सुनो ॥ ९ ॥ यदि हम आपसे जुएमें हारजायेंगे तो काली
मृगबाला ओढ़े हुए वनमें जाकर बारह वर्ष पर्यन्त ज्ञातवास
करेंगे और फिर एक वर्ष पर्यन्त कोई भी जाने नहीं इसप्रकार
अपने संग्रहियोंमें रहेंगे और यदि कोई पहिचान लेगा तो फिर
बारह वर्षका वनवास करेंगे ॥ १० ॥ ॥ ११ ॥ और यदि हम
तुम्हें हरादें तो तुमभी काली मृगबाला ओढ़कर द्रौपदी सहित
बारह वर्षपर्यन्त वनमें जाकर रहो ॥ १२ ॥ और तेरहवें वर्ष अपने

वत्सरम् । ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१५॥ त्रयोदशे च निवृत्ते पुनरेव यथोचितम् । स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ॥ १४ ॥ अनेन व्यवसायेन सहासंभाभिर्बुधिष्ठिर । अज्ञानुत्वा पुनर्धृतमेहि दीव्यस्व भारत ॥ १५ ॥ अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छितकरास्तदा । ऊचुरुद्दिग्गमनसः संवेगात् सर्व एव हि १६ सभ्या ऊचुः । अहो धिग्वान्धवा नैनं बोधयन्ति महद्भयम् । बुद्ध्या बुद्ध्येन्नवा बुद्धयेदयं वा भरतर्षभ ॥ १७ ॥ वैशम्पायन उवाच । जनमवादान् सुबहून् शृण्वन्पिनराधिप । इद्या च धर्मसंयोगात् पार्थो हृतमियात्पुनः ॥ १८ ॥ नृनन्नरि महाबुद्धिः पुनर्धू तमवर्त्तयत् । अप्यासन्नो विनाशः स्यात् कुरूणामिति चिन्तयन् ॥ १९ ॥

पुरुषोंमें छुपे हुए रहो, यदि तेरहवें वर्षमें तुमको कोई पहिचान लेप तो तुम फिर बारह वर्ष पर्यन्त वनमें रहो ॥१३॥ इसप्रकार तेरह वर्ष पूर्ण होनेके अनन्तर तुम या हम यथोचित रीति से अपने राजपको हाथमें लेलें ॥१४॥ हे बुधिष्ठिर ! आप इस नियम से हमारे साथ खेलनेको बैठिये और फौसे डालकर फिर जुआ खेलिये ॥ १५ ॥ ऐसे शकुनिके बचन सुनकर जिनके मन खिन्न होगये थे वह सब सभासद उसी समय सभामें बेगसे ऊंचे हाथ करके बोल उठे ॥ १६ ॥ सभासदोंने कहा, कि—हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजा धृतराष्ट्र ! आगेको बड़े भयका सामना करना पड़ गा, इस बातको दुर्योधन यह अपनी बुद्धिस जानता हो या न जानता हो, चाहें सो हो, परन्तु इसके भाइयोंको धिकार है कि—जो इस दुर्योधनको आने वाले भयको नहीं समझाते ॥ १७ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं कि—हे जनपेजय ! मनुष्योंके सुखोंसे ऐसी अनेकों प्रकारकी बातें सुनकर भी कुन्तीकुमार धर्मराज लज्जा के कारण तथा क्षत्रियधर्मकी मर्यादाके कारण फिर जुआ खेलने को बैठे ॥ १८ ॥ महाबुद्धिपान् बुधिष्ठिर कौरवोंका विनाशकाल समीप ही आगया है ऐसा जानते थे तब भी इस विषयका निचार करते २ फिर जुआ खेलनेको उद्यत हुए और कहने लगे ॥१९॥

युधिष्ठिर उवाच । कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन् । आहूतो
 विनिवर्त्तेत दीक्ष्यामि शकुने त्वया ॥ २० ॥ शकुनिस्त्वाच । गवास्व
 बहुधेनुक्रमपर्यन्तमजाविकम् । गजाः कौषो हिरण्यञ्च दासी-
 दासाश्च सर्वशः ॥ २१ ॥ एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः ।
 यूयं वयं वा विजिवा वसेम वनमाश्रिताः ॥ २२ ॥ त्रयोदशञ्च वै
 वर्षमज्ञाताः सजने तथा । अनेन व्यवसायेन दीक्ष्यामि पुरुषर्षभाः
 ॥ २३ ॥ समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत । प्रतिजग्राह तं पार्थो
 ग्लहं जग्राह सौवलः । जितमित्येव शकुनियुधिष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते समापर्वसप्तमोऽध्यायः पुनर्पुं धिष्ठिर-

पराजये पंचसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

युधिष्ठिर बोले, कि-मुझ जैसे स्वधर्मका पालन करनेवाले राजाको
 जुआ खेलनेका निमंत्रण दिया जाय तो क्या वह पीछे को हट
 सकता है ? कभी पीछे को नहीं हट सकता, इसकारण हे शकुने !
 मैं तुम्हारे साथ चौसर खेलनेको तयार हूँ ॥ २० ॥ शकुनिने कहा,
 कि-हे पाण्डवों ! गौ, घोड़े घैलोंके समूह, असंख्यों बकरे, भेंड़े,
 हाथी, धनके भण्डार सुवर्ण, सब दास और दासियें ॥ २१ ॥
 इन सब वस्तुओंको हम दौंवपर "वनवासके लिये, एक ही पणके
 रूपमें धरते हैं और जुआ खेलनेमें तुम या हम जो कोई हारे उस
 को ऊपर कहीं हुई सकल सम्पदाको छोड़कर बारह वर्ष पर्यन्त
 वनमें जाकर रहना पड़ेगा और तेहरवें वर्षमें कोई भी जानने न
 पावै, इसप्रकार मनुष्योंमें रहना होगा, हे पुरुषोंने श्रेष्ठ पाण्डवों !
 इस नियमके अनुसार आइये हम और आप जुआ खेलें ॥ २२ ॥
 ॥ २३ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! इसप्रकार एक ही बार कहनेसे
 कुन्तीनन्दन धर्मराजने शकुनिके कहनेको मान लिया, उसी समय
 सुवलके पुत्र शकुनिने कस्टसे फौसे दालकर युधिष्ठिरसे कहा, कि
 तो यह मैंने जीतलिया ॥ २४ ॥ पञ्चसप्ततितम अध्याय समाप्त ॥ ७५ ॥

वैशम्पायन उवाच । ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः ।
अजिनान्पुत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम् ॥१॥ आजिनैः सम्भृतान्
दृष्ट्वा हृतराज्यानरिन्दमान् । मस्थितान्वनवासाय ततो दुःशासनो-
ऽब्रवीत् ॥२॥ नवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः । पराजिताः
पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः ॥ ३ ॥ अथ देवाः सम्प्रयाताः
सर्पैर्ऋषिभिरस्थलैः । गुणज्येष्ठा तथा ज्येष्ठा श्रेयांसो यद्वयं परैः ॥४॥
नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम् । सुखाच्च हीना राज्या-
च्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः ॥ ५ ॥ धनेन मत्वा ये ते स्म धार्त-
राष्ट्रान् प्रहासिषुः । ते निर्जिता हृतधना वनमेव्यन्ति पाण्डवाः
॥६॥ विश्रान् सन्नाहानयमुञ्चन्तु चैषां वासांसि दिव्यानि च भाजु-

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि-हे जनमेजय ! तदनन्तर जुएमें हारे हुए पाण्डवोंने क्रमसे काली मृगझालाएं शरीर पर धारण करीं और वनवासका जानेके लिये तयार होगए ॥ १ ॥ राज्यहीन हुए शत्रुओंका दमन करनेवाले मृगचर्म धारी पाण्डवोंको वनवासके लिये जाते हुए देखकर दुःशासन धोत उठा, कि- ॥ २ ॥ अब महात्मा दुर्योधन राजाका राजचक्र चलपड़ा और पाण्डव हारकर परम विपत्तिमें पड़ गए हैं ॥३॥ आज देवता भी खचाखच भरेहुए सव मार्गोंसे हमारे पास आगए हैं अर्थात् सकल देवता भी हमारे अनुकूल होगए हैं तथा अपने शत्रुओंसे गुणोंमें और अवस्थामें घड़े होनेके कारण हमारी बड़ी प्रशंसा होरही है ॥ ४ ॥ हमने कुन्ती के पुत्रोंको अति विरकाल तकको नरकमें डालदिया है और अब यह अनन्तकालतक सुखहीन और राज्यभ्रष्ट रहेंगे ॥ ५ ॥ अररे देवो तो ! धनके मदमें मत्त हुए जिन पाण्डवोंने धृतराष्ट्रकुमार दुर्योधनकी हँसी की थी, वही पाण्डव आज जुएमें पराजय पाकर निर्धन हुए वनको जा रहे हैं ॥ ६ ॥ इससमय पाण्डवोंके विचित्र दमरुते हुए मुनहरी वस्त्र पगड़ियें, कवच और पेटियें आदि उतार लो और शकुनिके सामने दौंवमें पणके लिये जो स्वीकार किया है

मन्ति । विद्यास्पन्तां रुरुचर्माणि सर्वे यथा ग्लहं सौवलस्पाभ्युपेताः ॥७॥ न सन्ति लोकेषु पुर्णास ईदृशा इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा ।
 ज्ञास्पन्ति तेत्मानमिमेऽद्य पांडवां विपर्यये पण्डतिला इवाफलाः ॥८॥
 इदं हि वासो यदि चेदृशानां मनस्विनां रौरवमाहवेषु । अदीक्षिता-
 नामजिनानि यद्वद्रलीयसां परयत पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥ महाभोजः
 सौमहिर्यज्ञसेनः कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय । अकार्षाद्वै-
 सुकृतं नेह किञ्चित् क्लीबाः पार्याः पतयो याज्ञसेन्याः ॥ १० ॥
 सूक्ष्ममायोरान् जितोत्तरीयान् हृष्टारण्ये निर्धनानमतिष्ठान् । कां-
 त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि ॥११॥
 एते हि सर्वे कुरवः समेताः क्षान्त्वा दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।

उसके अनुसार यह काली मृगछाला ओढ़कर वनमें वास करनेको जायँ ॥ ७ ॥ ये पांडव कि-जो सदा मनमें यह अभिमान रखते थे, कि-हमारी समान कोई त्रिलोकीमें नहीं है वह आज बिना फलके काले तिलोंकी समान अपनी दशाके बदलने पर अपनेको निष्फल समझेंगे ॥ ८ ॥ ऐसे श्रेष्ठ पुरुष यज्ञके समय वा युद्धके समय मृगचर्मको धारण करते हैं, परन्तु इन महाबली पाण्डवोंने तो यज्ञ की दीक्षाके बिना ही भीलोंकी समान मृगचर्मको धारण किया है जरा इनकी ओरको देखो तो सही ॥ ९ ॥ ओ हो ! राजा याज्ञसेन तो बड़ा ही बुद्धिमान है, तो भी उसने अपनी कन्या द्रौपदी जो पांडवोंकी विवाहदी यह कुछ अच्छा काम नहीं किया क्योंकि-द्रौपदीके पति पाण्डव तो नष्ट हैं ॥१०॥ हे दुपदरा नकुमारि ! अब निर्धन हुए पाण्डव सादे वस्त्र पहनकर तथा मृगचर्मको ओढ़ कर वनमें रहेंगे, यह देखकर तुम्हें उनके ऊपर भोग कैसे उत्पन्न होगा, इसकीरण तेरी जिस दूसरे पुरुष को इच्छा चाहै उसको बर ले ॥११॥ यहां क्षमाशील जितेंद्रिय और पूर्ण धनवान् सकल कौरव इकठे हुए बैठे हैं, इनकी ओरको देख और इनमेंसे एकको बर ले

एषां वृणीष्वैकतमं पतित्वे न त्वा नयेत् कालविपर्ययोऽयम् ॥ १२ ॥
 यथाऽफलाः पण्डितिता यथा चर्ममया मृगाः । तथैव पाण्डवाः
 सर्वे यथा काक्यवा अपि ॥ १३ ॥ किं पाण्डवास्ते पतितानुपास्य
 मोघः भवः पण्डितितानुपास्य । एवं नृशंसः परुषाणि पार्थानश्राव-
 यद् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ॥ १४ ॥ तद्वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
 निर्भस्स्योच्चैः सन्निगृह्यैव रोषात् । उवाच चैनं सहस्रैवोपगम्य
 सिंहो यथा यथा हैमवतः शृगालम् ॥ १५ ॥ भीमसेन उवाच ।
 क्रूरं पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं मभापसे गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये
 विकृत्यसे ॥ १६ ॥ यथा तुदति मर्षाणि वाक्शूरैरिह नो भृशम् ।
 तथा स्मारयिता तेऽहं कुन्तन्मर्षाणि संपुगे ॥ १७ ॥ ये च त्वामनु-
 निस्रसे, किं-यह समीपमें आया हुआ विपत्तिकाल तुझें पीड़ा न
 देय ॥ १२ ॥ परन्तु यह सब पांडव तो वनके काले तिल, चमड़ेके
 मृग और खाली धानोंकी समान निष्फल और पराक्रमहीन होगए
 हैं ॥ १३ ॥ निष्फल तिलोंके सेवनमें जैसे परिश्रम व्यथा ही जाता
 है तैसे ही पापी पांडवोंकी सेवा करनेमें भी तू क्या फल पावेगी ?
 इसप्रकार क्रूर दुःशासनने कुन्तीनन्दन पांडवोंको कंदुवचन सुनाये
 ॥ १४ ॥ उनको सुनकर महाक्रोधी भीमसेन ऊँचे स्वरसे उसको
 ललकार कर, जैसे हिमालयका सिंह गोदड़के समीपमें चला जाता
 है तैसे ही एकायकी उसके समीप गया और क्रोधके साथ पकड़
 कर कहने लगा ॥ १५ ॥ भीमसेनने कहा, कि—अरे क्रूर ! कुछ
 तूने हमको अपने बाहुबलसे नहीं जीता है, किन्तु शकुनिकी छल
 विद्यासे जीता है, तथापि तू राजाओंमें आप ही अपनी मशंसा
 फरता है और पापी मनुष्योंके कहने योग्य बातें कह रहा है ॥ १६ ॥
 तू बाणिरूप तीखे बाणोंसे हमारे मर्मस्थानोंको भींधकर बड़ा दुःख
 दे रहा है, परन्तु मैं भी इसीप्रकार युद्धमें तेरे मर्म स्थानोंको काटकर
 तेरी इन बातोंका स्मरण दिलाऊँगा ॥ १७ ॥ तथा जो पुरुष क्रोध
 और लोभके चशमें होकर तेरा पक्ष कर रहे हैं और तेरी रक्षा

व्रतन्ते क्रोधलोभवशानुगाः । गोप्तारः सानुबन्धास्तान्नेतास्मि
यमसादनम् ॥ १८ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवं द्रुवाणमजिनैर्विवा-
सितं दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म । मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं
गौर्गौरिति श्लाघयन्मुक्तलज्जः ॥ १९ ॥ भीमसेन उवाच । नृशंस
परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया । निवृत्त्या हि धनं लब्ध्वा को
विकल्पितुमर्हति ॥ २० ॥ मैत्र स्प मुकुतांलोकान् गच्छेत्पार्थो
वृकोदरः । यदि वत्सो हि ते भित्त्वा न न पियेच्छोषितं रणो ॥ २१ ॥
धार्तराष्ट्रान् रणो हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम् । शर्म गन्तास्मि न
चिरात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥ वैशम्पायन उवाच । तस्य
राजा सिंहगतेः सखेलं दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात् । गतिं स्वां
गत्यानुचकार मन्दो निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ॥ २३ ॥

कर रहे हैं उनको भी पुत्र और बान्धवों सहित यमालयमें भेजेंगा
॥ १८ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि—हे जदमेजय ! इसमकार बोलते
मृगछाला ओठे तथा धर्मके कारण जिसका शत्रुओंके नाश करने
का माग रुक रहा है ऐसे भीमसेनको दुःशासन 'ओ वैल ! ओ वैल !
ऐसा कहता हुआ लज्जाको त्यागकर कौरवोंके मध्यमें नाचने कूदने
लगा, यह देख भीमसेन बोल उठा ॥ १९ ॥ भीमसेनने कहा,
कि—अरे क्रूर दुःशासन ! यह क्रूर वचन तेरे मुखसे कैसे निकल
रहे हैं ? कौन मनुष्य कपटसे किसीकी संपत्तिको छीनकर
ऐसी वीखी बातें कहसकता है ? ॥ २० ॥ कुन्तीपुत्र वृकोदर भीमसेन
रणभूमिमें यदि तेरी छातीको चीरकर उसमेंसे रुधिर न पियें तो
उसको पुण्यवानोंके लोक न मिलें ॥ २१ ॥ संग्राममें सब धनुष-
धारी देखेंगे, कि—धृतराष्ट्रके पुत्रोंका संहार करके मैं थोड़ीसी देर
में ही शांति पाजाऊँगा यह बात मैं सत्य ही कहता हूँ ॥ २२ ॥
वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—ऐसी बातें होनेके अनन्तर पाण्डव,
राजसभामेंसे बाहरको निकलने लगे, उससमय भीमसेन सिंहकी
समान धीरे २ चलता था, पूर्व दुर्योधन हर्षमें भागकर उसकी
समान ही (नकल करता हुआ) उसके पीछे २ चलने लगा ॥ २३ ॥

नैतावता कृतमित्यब्रवीत्तं वृकोदरः सन्निवृत्तार्द्धकायः । शीघ्रं दि-
त्वा निहतं सानुबन्धं संस्मार्थार्द्धं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ॥ २४ ॥ एवं
समीक्ष्यात्पनि चावमानं नियम्य मन्युं बलवान् स मानी । राजा-
नुगः संसदि कौरवाणां विनिष्क्रामन् वाक्यमुवाच भीमः ॥ २५ ॥
भीमसेन उवाच । अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनञ्जयः ।
शकुनिश्चाक्षतिकर्तुं सहदेवो हनिष्यति ॥ २६ ॥ इदं च भूयो वक्ष्यामि
सभामध्ये बृहद्वचः । सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति
॥ २७ ॥ सुयोधनमिदं पापं हन्तास्मि गदया युधि । शिरः पादेन
चास्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥ २८ ॥ वाक्यशूरस्य चैत्रास्य पर-
पस्य दुरात्मनः । दुःशासनस्य रुधिरं पीतास्मि मृगराट्विव ॥ २९ ॥

उस समय भीमसेन पीछेको मुँह कर देखते ही कहनेलगा, कि—रे
मूर्ख ! इस कामकी इतनेमें ही समाप्ति हुई न समझतेना, मैं
थोड़े ही समयके पीछे रणभूमिमें सगे संबंधियों सहित तेरा नाश
करकै तुझै तेरी इन बातोंका स्मरण दिलाता हुआ तेरे इस हास्य
करनेका उत्तर दूँगा ॥ २४ ॥ इसप्रकार अपमानको मनमें रखकर
क्रोधको शान्त किया और मानी, बलवान्, धर्मराजके पीछे २
चलतेहुए भीमसेनने पाह्लको निकलते २ कौरवोंकी सभामें यह
बात कही ॥ २५ ॥ भीमसेनने कहा, कि—मैं दुर्योधनका नाश
करूँगा, अर्जुन कर्णका प्राणान्त करेगा और सहदेव घूतकी बल
विद्यामें निपुण शकुनिको मारेगा ॥ २६ ॥ और फिर इस सभामें
तुमसे मैं यह बात भी कहेदेता हूँ, कि—यदि हमारा कौरवोंके
साथ युद्ध होगा, तो हमारे इस कहनेको देवता सत्य करेंगे ॥ २७ ॥
मैं संग्राममें गदासे इस पापी दुर्योधनके प्राण लूँगा और इसके
मस्तकको भूमिमें लुढ़काकर उसके ऊपर चरण रखकर खड़ा
होऊँगा ॥ २८ ॥ और दूसरी बात यह है कि—बोलनेमें शूर
मूर्ख, तथा दुष्टात्मा इस दुःशासनके रुधिरको भी मैं सिंहकी समान
पीऊँगा ॥ २९ ॥ अर्जुनने कहा, कि—भाई भीम ! सत्पुरुषोंका

अर्जुन उवाच । नैवं वाचा व्यवसितं भीम विज्ञापते सताम् ।
 इतश्चतुर्दशे वर्षे दृष्टारो यद्भविष्यति ॥ ३० ॥ भीमसेन उवाच ।
 दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः । दुःशासनचतुर्थानां
 भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३१ ॥ अर्जुन उवाच । अस्यितारं
 दृष्टारं प्रवक्तारं विस्तृतम् । भीमसेन नियोगात्ते हन्ताहं कर्णमा-
 ह्वे ॥ ३२ ॥ अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य भियकाम्यया । कर्णं
 कर्णाक्षिणांश्चैव रणे हन्तास्मि पथिभिः ॥ ३३ ॥ ये चान्ये प्रति-
 गोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां वृषाः । तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि
 यमसादनम् ॥ ३४ ॥ चलेद्दिग्धिमवान् स्थानान्निष्पथः स्वाद-
 दिवाकरः । शैत्यं सोमात् प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद्यदि ॥ ३५ ॥
 न मदास्यति चेद्राज्यमिनो वर्षे चतुर्दशे । दुर्योधनोऽपि सत्कृत्य

काम कहीं इस प्रकार बातोंमें कहनेसे जानाजाता है ! किन्तु परि-
 णाममें जाना जाता है, इस कारण आजसे चौदहवें वर्ष जो कुछ
 होगा उसको सब देखलेंगे ॥ ३० ॥ भीमसेनने कहा, कि-दुर्यो-
 धन कर्ण दुष्ट शकुनि और दुष्ट दुःशासनके सहितको भूमि पियेंगी
 ॥ ३१ ॥ अर्जुनने कहा, कि-हे भीमसेन ! हमसे द्वेष करनेवाले
 हमारा पराजय करनेके लिये कौरवोंको उत्तेजना और खेटी
 संमति देनेवाले तथा हमारी निन्दा करने वाले इस कर्णको मैं
 तुम्हारी आज्ञासे रणभूमिमें मार डालूंगा ॥ ३२ ॥ और हे भीम-
 सेन ! तुम्हारी अभिलाषाको पूरी करनेके लिये यह अर्जुन प्रतिज्ञा
 करता है, कि-संग्राममें कर्णका तथा उसके साथियोंका रणमें घाण
 मारकर संहार करेगा ॥ ३३ ॥ और दूसरे भी जो राजे अपनी
 मूर्खताके कारण मेरे साथ युद्ध करनेको आवेंगे उन सबोंको भी
 मैं बाणोंसे घायल करके यमलोकमें पहुँचा दूंगा ॥ ३४ ॥ हिमा-
 लय चाहे अपने स्थानसे चलायमान होजाय सूर्य चाहे निस्तेज
 होजाय और चन्द्रमामेंसे चाहे शीतलता दूर होजाय परन्तु मेरा सत्य
 वचन मिथ्या नहीं होगा ॥ ३५ ॥ यदि चौदहवें वर्षमें दुर्योधन
 सत्कारके साथ हमारा राज्य लौटाकर नहीं देगा तो जो हमने

सत्यमेतद्भविष्यति ॥ ३६ ॥ वैशम्पायन उवाच । इत्युक्तवति पार्थे
 त्वं श्रीमान्माद्रवतीसुतः । मग्नं विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान्
 ॥ ३७ ॥ सौवलस्य वयं प्रेम्पुरिदं वचनमब्रवीत् । क्रोधसंरक्त-
 नयनो निश्वसन्निगन्मगः ॥ ३८ ॥ सहदेव उवाच । अज्ञान-
 यान्मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर । नैतेऽज्ञा निशिता
 बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥ ३९ ॥ यथा चैवोक्तवान् भीमस्त्वामु-
 दिश्य सवान्धवम् । कर्त्ताहं कर्मणस्तस्य कुरु काय्याणि सर्वशः
 ॥ ४० ॥ हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सवान्धवम् । यदि-
 स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौर्ध्व ॥ ४१ ॥ सहदेववचः श्रुत्वा
 नकुलोऽपि विशाम्पते । दर्शनीयतमो नयामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥
 नकुल उवाच । सुतेयं यज्ञसेनस्य धूनेऽस्मिन् धृतराष्ट्रजैः । यैवचः

कहा है, अवश्य ऐसा ही होगा ॥ ३६ ॥ वैशम्पायन कहते हैं, कि-
 इसप्रकार अर्जुन कह रहा था, कि-इतनेही मैं शकुनिकों मारने की
 इच्छावाले प्रतापी माद्रीके पुत्र श्रीमान् सहदेवजीने अपनी विशाल
 भुजा ऊँचीकर क्रोध से नेत्रोंको लाल २ करके सर्पकी समान
 फुंकारें मारते हुए नीचे लिखे अनुसार कहा ॥ ३७ ॥ ३८ ॥
 सहदेव बोला, कि-अरे मूढ ! गान्धार देशके राजाओं के यशका
 नाश करनेवाले शकुनि ! तू जिनको फौसे सम्भर रहा है, यह
 फौसे नहीं है, किन्तु यह तो संग्रामके लिये तेरे वरण किये हुए
 तीखे बाण हैं ॥ ३९ ॥ इसलिये इन भीमसेनने तेरे विषयमें जो
 कुछ कहा है, उसीप्रकार मैं तेरा सम्बन्धियों सहित संहार करूंगा,
 अतः तुझी कीर्तियोंके लिये और जो कुछ करना हो सो करले
 ॥ ४० ॥ ओ मुखलपुत्र शकुने ! यदि तू रणभूमिमें क्षत्रियधर्मानु-
 सार खड़ा रहेगा तो मैं क्षणभरमें तेरा और तेरे सम्बन्धियोंका
 संहार कर डालूंगा ॥ ४१ ॥ हे राजन् ! ऐसे सहदेवके वचन
 सुनकर मनुष्योंमें बड़ा ही दर्शनीय नकुल भी नीचे लिखे अनु-
 सार कहने लगा ॥ ४२ ॥ नकुल बोला, कि-दुर्योधनका प्रिय

श्राविता रुक्ताः स्थितैर्दुर्ग्योधनश्रिये ॥ ४३ ॥ तान् धार्तराष्ट्रान्
दुर्वृत्तान् मुमुक्षून् कालनोदितान् । गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वेव-
स्वतक्षयम् ॥ ४४ ॥ निदेशाद्धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन् ।
निर्गच्छन् राष्ट्रं पृथिवीं कर्त्तास्मि न चिरादिव ॥ ४५ ॥ वैशम्पायन
उवाच । एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः । मतिज्ञा बहुलाः
कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥ ४६ ॥

इति श्री महाभारते सभापर्वण्यनुद्युतपर्वणि पाण्डव

मतिज्ञाकरणे षट्सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७६ ॥

युधिष्ठिर उवाच । आमन्त्रयामि भरतास्तथा वृद्धं पितामहम् ।
राजानं सोमदत्तञ्च महाराजञ्च बाह्लिकम् ॥ १ ॥ द्रोणं कृपं
नृशान्धान्पानश्वत्थामानमेव च । विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रं च
सर्वशः ॥ २ ॥ युयुत्सुं सञ्जयञ्चैव तथैवान्धान् सभासदः ।

करनेके लिये महुत्त हुए, राजा धृतराष्ट्रके जिन पुत्रोंने इस जुएमें
द्रौपदीको कठोर बच्न सुनाये हैं ॥ ४३ ॥ उन दुराचारी, मरने
को तयार हुए और कालके प्रेरणा किये हुए धृतराष्ट्रके बहुतसे
पुत्रोंको मैं यमराजकी सानधानीमें पहुँचादूँगा ॥ ४४ ॥ और
द्रौपदीके दुःखसँ दुःखी होनेवाला मैं धर्मराजकी आज्ञासे थोड़े
ही दिनोंमें पृथ्वीको धृतराष्ट्रके पुत्रोंसे सूनी करदूँगा ॥ ४५ ॥
वैशम्पायनजी कहते हैं कि—हे जनमेजय ! पुरुषोंमें सिहकी
समान पराक्रमी महाबाहु पांडव इसप्रकार बहुतसी मतिज्ञाएँ
करके फिर राजा धृतराष्ट्रने पास गए ॥ ४६ ॥ षट्सप्ततितम
अध्याय समाप्त ॥ ४६ ॥ ७६ ॥ ७६ ॥

युधिष्ठिरने कहा, कि—मैं भरतवंशी राजे, वृद्ध भीष्म पिता-
मह, राजा सोमदत्त, महाराज बाह्लीक, द्रोणाचार्य, कृपाचार्य, अन्य
सब राजे, अश्वत्थामा, विदुर, धृतराष्ट्र, धृतराष्ट्रके सब पुत्र युयुत्सु,
सञ्जय तथा अन्य सब सभासदोंकी आज्ञा लेकर बनवासके
लिये जाता हूँ, तहाँसे लौटकर आऊँगा, तब फिर तुम सबोंके

सर्वानामन्त्रं गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ॥ ३ ॥ वैशम्पायन उवाच । न च निश्चिद्वोचुस्तं हियासन्ना युधिष्ठिरम् । मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ॥ ४ ॥ विदुर उवाच । आर्या पृथारानपुत्री नारस्यं गन्तुमर्हति । सुकुमारी च वृद्धा च नित्यञ्चैव सुखोचिता ॥ ५ ॥ इह वत्स्यति कल्याणि सत्कृता मम वेश्मनि । इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ॥ ६ ॥ पाण्डवा ऊचुः । तथेत्युक्त्वान्नुबन् सर्वे यथा नो वदसेऽनघ । त्वं पितृव्यः पितृममो वयं च त्वत्परायणाः ॥ ७ ॥ यथाज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः ॥ यच्चान्यदपि कर्त्तव्यं तद्विपरस्व महामते ॥ ८ ॥ विदुर उवाच । युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ । नाधर्मेण

दर्शनं करुणं ॥ १—३ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! इस समय कोई भी युधिष्ठिरको कुछ उत्तर नहीं देसकता किन्तु सब ही लज्जके मारे नीचे हो मुक्त किये बैठे रहे और मनसे बुद्धिमान् धर्मराजका कल्याण चाहने लगे, फिर उन सभा-सद्योंमेंसे विदुरने कहा, कि—॥ ४ ॥ यह आर्या राजकुमारी कुन्तीजी कोमलशरीर युद्धी और सदा आराम करनेके योग्य हैं, इसकारण इनका वनमें जाना ठीक नहीं है, ॥ ५ ॥ यह कल्याणी कुन्तीजी आदर मानके साथ मेरे घर रहें, यह बात हे पाण्डवों ! मैं आपको विदित करता हूं और तुम सर्वत्र आरोग्य रहो, यह तुम्हें आशीर्वाद देता हूं ॥ ६ ॥ पाण्डवोंने कहा कि—हे निर्दोष चाचाजी ! बहुत अच्छा, आप जैसा कहते हैं, हम यही करनेकी तयार हैं, क्योंकि—आप हमारे चचा और पिताकी समान हैं तथा हमें सदुपदेश देते रहते हैं ॥ ७ ॥ हे विद्वन् ! आप हमारे मान्य बड़े हैं अतः इन आपकी आज्ञाके अनुसार ही काम करेंगे, हे महामते ! हमारे करने योग्य कुछ और काम हो तो वह भी बताइये ॥ ८ ॥ विदुरजीने कहा, कि—हे भरतवंशमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर ! तुम मेरे इस विचारको सुनो, कि—इस जगत्में जो मनुष्य दूसरेके

मितः कश्चिद्व्ययते च पराजये ॥ ६ ॥ त्वं वै धर्म विजानीषे युद्धे
 जेता धनञ्जयः । हन्तारीणां भीमसेनो नकुलम्वर्थसंग्रही ॥ १० ॥
 संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुचमः । धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी
 धर्मचारिणी ॥ ११ ॥ अन्योऽन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शना ।
 परैरभेद्याः सन्तुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ॥ १२ ॥ एष वै सर्व-
 कल्याणः समाधिस्तव भारत । नैनं शत्रुर्विपद्यते शक्रेणापि समो-
 ऽप्युत ॥ १३ ॥ हिमवत्स्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा । द्रौपा-
 यनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ॥ १४ ॥ भृगुमुक्ते च रामेण दृपद्वत्पाञ्च
 शम्भुना । अश्रौषोरसितस्यापि महर्षेरञ्जनं प्रति ॥ १५ ॥ कल्माषी-
 तीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः । द्रष्टा सदा नारदस्ते

अधर्मसे पराजय पाता है उसको अपने पराजयका शोक नहीं
 होता है ॥ ९ ॥ तुम धर्मके प्राण हो अर्जुन युद्धमें विजय पाने
 वाला है, भीमसेन शत्रुओंका संहारकर्त्ता, नकुल धनसंग्रह करने
 वाला और सहदेव शत्रुओंको वशमें रखने वाला है, धौम्य ऋषि
 बड़े ब्रह्मज्ञानी हैं और पतिव्रता द्रौपदी धर्म तथा अर्थका संग्रह
 करने में प्रवीण है ॥ १० ॥ और तुम सब भाई परस्पर प्रेमभाव
 से रहते हो, तुम्हारा स्वरूप सुन्दर है, शत्रु तुम्हारे चित्तोंमें भेद
 नहीं डाल सकते, तुम सन्तोषी हो, ऐसे तुमको इस लोकमें कौन
 नहीं चाहेगा ? सब ही तुम्हारा दर्शन करनेको आतुर रहते हैं
 ॥ ११ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! मनको वशमें करनेकी कल्याण-
 कारी नियम तुम्हारा इतना बड़ा हुआ है कि—जिसको इन्द्रसमान
 शत्रु भी सहन नहीं कर सकता ॥ १२ ॥ पहिले हिमालयके
 ऊपर मेरु नामके सावर्णिने वारणावत नगरमें व्यासजीने भृगुमुनि
 पर्वतपर परशुरामजीने और दृपद्वती नदीके तटपर महादेवजीने
 तुम्हें धर्मोपदेश दिया है, और तुमने अञ्जन पर्वत पर असित नामा
 महर्षिसे भी ज्ञान पाया है ॥ १४ ॥ १५ ॥ कल्माषी नदीके तट
 पर रहनेवाले भृगुमुनिके तुम शिष्य हो, नारदमुनि सदा तुम्हारा

धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ॥ १६ ॥ मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं
 तामतिपूजिताम् । पुरुरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ॥ १७ ॥
 शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन् धर्मोपसेवया । ऐन्द्रे जये धृतमना
 याम्ये कोपविभारणे ॥ १८ ॥ तथा त्रिसर्गे कौबेरे वासणे चैव
 संपये । आत्मपदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥ १९ ॥ भूमेः
 क्षमाञ्च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात् । वायोर्वलं मामुहि त्वं भूतेभ्य-
 ध्यात्मसम्पदम् ॥ २० ॥ अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रष्टास्मि पुनरा-
 गतान् । आपद्दर्पार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥ २१ ॥ यथावत्
 मतिपयेशः काले काले युधिष्ठिर ! आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति

समाचार लेते रहते हैं और यह धौम्यमुनि तुम्हारे पुरोहित हैं
 ॥ १६ ॥ अतः युद्धका अवसर आनेपर ऋषियोंके सदुपदेशको
 न भूलजाना, हे पांडव ! तुमने अपनी बुद्धिसे इलाके पुत्र पुरुरवा
 को भी जीत लिया है ॥ १७ ॥ शक्तिसे अन्य राजाओंको जीत
 रहे हो, धर्माचरणसे ऋषियोंसे भी आगे बढ़ रहे हो, तुम मनको
 वशमें करनेमें इन्द्रही समान हो, क्रोध करनेमें यमराजकी समान
 हो ॥ १८ ॥ शत्रुको वशमें रखनेमें वरुणभी समान हो और
 आत्मार्पण करनेमें निर्मलतामें तथा दूसरोंको जीवन देनेमें जल
 की समान हो अर्थात् अपना शरीर भी अर्पण करके दूसरोंका
 हित करना चाहते हो ॥ १९ ॥ इस कारण मैं तुम्हें आशीर्वाद
 देता हूं, कि—तुम पृथिवीसे क्षमा पाओ, सूर्यमण्डलसे तेज
 पाओ, वायुसे बल पाओ और सकल प्राणियोंसे सम्पत्ति पाओ
 ॥ २० ॥ और आशीर्वाद देना हूं, कि—तुम आरोग्य रहो
 तुम्हारा कल्याण हो और मैं तुम्हें वनमेंसे कुशलपूर्वक लौटकर
 आया हुआ देखना चाहता हूं. हे युधिष्ठिर ! तुम आपत्तिके समय
 धन तथा धर्मके सङ्कटके समय अथवा सकल कार्योंको करते
 समय, सदा यथार्थ रीतिसे विचार करके वर्तव्य करना, हे कुन्ती-
 नन्दन युधिष्ठिर ! अतः मैं तुम्हें वनमें जानेके लिये आज्ञा देता हूं,

प्राप्नुहि भारत ॥ २२ ॥ कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरा-
गतम् । नहि वो वृजिनं किञ्चिद्दे कश्चित् पुराकृतम् ॥ २३ ॥
वैशम्पायन उवाच । एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः ।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभाषण्यनुचूतपर्वणि युधिष्ठिर-

वनप्रस्थाने सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

वैशम्पायन उवाच । तस्मिन् संप्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य
पशस्विनीम् । आपृच्छद् भृशदुःखार्ता यश्चान्यास्तत्र योपितः
॥ १ ॥ यथाहं चन्दनाश्लेषान् कृत्वा गन्तुमियेष सा । ततो निनादः
सुमहान् पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥ २ ॥ कुन्ती च भृशसन्तप्ता
द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम् । शोकविह्वलया वाचा कुञ्छाद्वचनमब्रवीत्

हे भरतवंशी राजन् ! तुम्हारा कन्याए हो ॥ २१ ॥ २२ ॥ मैं
फिर भी तुम्हें कृतार्थ हुआ और सुखी देखूँगा, क्योंकि—तुमने
पहिले कोई पापकर्म किया हो, ऐसा मुझें प्रतीत नहीं होता २३
वैशंपायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! मत्स्यपराक्रमी राजा
युधिष्ठिरने विदुरजीके इन वचनोंको अपने मस्तक पर चढ़ा स्वीकार
किया और भीष्म पितामह तथा द्रोणाचार्यको प्रणाम करके वन-
वास करनेको चलदिये ॥ २४ ॥ सप्तसप्ततितम अध्याय समाप्त ७७

वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! धर्मराज अपनी
माता कुन्तीके पाससे वनमें जानेकी आज्ञा लेकर बाहर आये, उसी
समय अतिदुःखसे व्याकुल हुई द्रौपदी कीर्त्तिमती कुन्तीजीके
तथा सामने ही और जो स्त्रिये खड़ी थी वनके पास गई और
अपनी सास तथा अन्य स्त्रियोंसे वनमें जानेकी आज्ञा मांगी और
यथायोग्य रीतिसे किसी को प्रणाम और किसीको आलिङ्गन
आदि करके वनको जाने की इच्छा दिखाई उस समय पाण्डवोंने
अन्तःपुरमें बड़ा भारी शोकदायक फोलाहल होने लगा, द्रौपदी
को वनवासके लिये जाती हुई देखकर कुन्ती बहुत ही दुःखित
हुई और शोकसे विह्वल हुई बाणीमें बड़े कष्टके साथ द्रौपदीसे

॥ ३ ॥ वत्से शोकी न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत् । स्त्री-
धर्माणामभिज्ञासि शीलोचारवती तथा ॥४॥ न त्वां सन्देष्टुमर्हामि
भक्तं न मतिं शुचिस्मिते । साध्वी गुणसमापन्ना भूषितं ते कुल-
द्वयम् ॥ ५ ॥ सभाग्याः कुर्वन्ने मे ये न दग्धास्त्वयानघे । अरिष्टं
व्रज पन्थानं मदनुष्ठानवृंहिता ॥ ६ ॥ भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां
वंकृतं नोपजायते । गुरुवर्माभिगुप्ता च श्रेयःक्षिप्रमवाप्स्यसि ॥७॥
सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो वने वसन् । पयेदं व्यसनं प्राप्य
नाहं सीदेन्महामतिं ॥ ८ ॥ तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्त्रवन्नेव-
जलाविला । शोणिताक्तैकवसनाश्रुक्तकेशी विनिर्ययी ॥ ९ ॥ तां

कहा, कि-॥ १-३ ॥ हे बेटी ! इस बड़े भारी दुःखमें पड़कर तू
शोक न करना, तू स्त्रियों के धर्मको जानती है, शील और सदा-
चारको धारण किये रहती है ॥ ४ ॥ इसलिये हे पतिव्रत और मन्द-
हास्यवाली यह ! मैं तेरे पतिव्रतों के निषयमें तुझसे शिक्का देनेकी
योग्यता नहीं रखती हूँ, क्योंकि—तू पतिव्रता, गुणवती और
दोनों कुलका बजाला है ॥ ५ ॥ हे निर्दोष यह ! तूने इन कौरवों
को शाप देकर भस्म नहीं किया, सो यह कौरव यथार्थमें भाग्य-
शाली है, तू पतिव्रता है तब भी मानाही समान मेमभावको भी
धारण करके पतिव्रतों के ऊपर मेम करती हुई निर्विघ्नतासे वनको
जा ॥ ६ ॥ कुत्तीन स्त्रियों देवी दुःखके समय जरा भी नहीं घब-
ड़ाती हैं सो तू भी घबड़ाना मत पातिमत्यरूपी धर्म तेरी सदा रक्षा
करता है इस कारण तू येड़े ही समयमें सुख पावेगी ॥ ७ ॥
अब तुझसे इतना कहना है, कि—तू वनमें वत्से समय में
पुत्र सहदेवकी नित्य सन्हाल रखना कि—नित्यमे वह बुद्धिमान्
वनवासके दुःखको पाने पर भी दुःखी न होय ॥ ८ ॥ इस
समय जिसका आधा वस्त्र रजोधर्मके रुधिर से पीगरहा या तथा
जिसके पस्त्रक पर केस बिखर रहे थे वह द्रौपदी बराबर अधु-
पारा यशनी हुई 'अच्छा ऐसा ही करुंगी, इस प्रकार कहकर राज-
भवनमेंसे बाहर निकल आयी ॥ ९ ॥ और रोती हुई आगेको चलने

क्रोरान्तीं पृथा दुःखादनुववाज गच्छतीम् ॥ अथापरयत् सुतान्
सर्वान् हताभरणवाससः ॥ १० ॥ रुक्मपाटितनून् हिषा किञ्चिद-
वाङ्मुखात् । परैः परोतान् संहृष्टैः सुहृज्जिह्वाशुचिन्तान् ॥ ११ ॥
तदवस्थान्सुतान्सर्वा नृपसत्पातिवत्सला । स्वजमानावदच्छोकात्-
तद्विलपता बहु ॥ १२ ॥ कुन्त्युवाच । कथं सदर्मचारिवान् वृत्त-
स्थितिविभूषितान् । अन्नदान् दृढभक्ताश्च दैवतेज्यापरान् सदा
॥ १३ ॥ व्यसनं वः समभ्यागात् कोऽयं विधिविर्यर्षयः ।
कस्यापध्यानजं चेदमागः पश्यामि वो विषा ॥ १४ ॥ स्पात्तु
तद्भगवदोपोऽयं याहं युष्मानजीजनम् । दुःखापासभुजोऽत्यर्थं

लगी, कि—उसके पीछे २ कुन्ती भी वहे कष्टसे जाने लगी और
देखा, कि—अपने पाँचों पुत्रोंके शरीरों परसे गहने और वस्त्र
उतार लिये गए, वह अपने शरीरोंपर काली मृगझालाएँ ओढ़ रहे
हैं, वह लज्जामे अपने मुख नीचे लो किये हुए खड़े हैं, उनके आस-
पास इकट्ठे होकर खड़े हुए शत्रु प्रसन्न हो रहे हैं और सगे संबंधी
उनकी दुर्दशाकी ओर दृष्टि करके शोक कर रहे हैं, ऐसी दशामें
पड़ हुए अपने पाँचों पुत्रोंको देखकर अनि व्याकुल होती हुई
कुन्ती उनके पास गई और उनको छातीसे लगा कर बड़ा शोक
करने लगी तथा उनके पहिले भोगे हुए ऐश्वर्योंको पाद करके विलाप
करती हुई कहने लगी ॥ १०—१२ ॥ कुन्तीने विलपते हुए कहा,
कि—हे पुत्रों ! तुम श्रेष्ठ धर्मके भंडार, सदाचारवान्, सद्गुणी,
सुदृशामे शोभायमान्, उत्तम विचारयुक्त और परमेश्वरके ऊपर
दृढ़ भक्ति करने वाले तथा देवसेवा और यज्ञादिमें सदा तत्पर
रहते हो, तब भी तुम्हारे ऊपर यह सङ्कट आकर पड़ा है, इसलिये
में विचार करके भी नहीं जान सकी हूँ, कि—क्या यह मारव्य
ही प्रतिकृत होगया ? अथवा किसीका अपराध करनेसे यह दुःख
तुम्हारे ऊपर आकर पड़ा है ॥ १३—१४ ॥ इसमें केवल मेरे
ही भाग्यका दोष प्रतीत होता है, कि—जिस मैंने तुम्हें जन्म दिया

युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥ १५ ॥ कथं वत्स्पय दुर्गेषु वने ऋद्धिं विना
 कृताः । वीर्यसत्त्वं वलोत्साहतेजोभिरकृशा कृशाः ॥ १६ ॥
 यद्येते देवमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम् । शतशृङ्गान्मृते पाण्डो
 नागभिष्यं गजाह्वयम् ॥ १७ ॥ धन्यं वा पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं
 तथा । यः पुत्राधिसंभाष्य स्वर्गवञ्चामकरोत् प्रियाम् ॥ १८ ॥
 धन्याः चातीन्द्रियज्ञानाभिर्मा माता परा गनिम् । मन्ये तु माद्रीं
 धर्मज्ञां कन्याणीं सर्वयैव तु ॥ १९ ॥ रत्या मत्या च गत्या च
 ययाहमभिसन्निवता । जीवितमियतां मह्यं धिक्कुमां संक्लेशभागि-
 नीम् ॥ २० ॥ पुत्रहा न निहास्यै वः कच्छजन्धान् मियान् सताः ॥

हे, क्योंकि तुम पहिले उत्तम गुणोंसे युक्त हो तथामि अत्यन्त दुःख
 और परिश्रमको भोग रहे हो ॥ १५ ॥ तुम पहिले वीर्य, सत्त्व, बल,
 उत्साह तथा तेजसे परिपूर्ण थे वर ही तुम पहिले इससमय वीर्य आदि
 तथा सम्पत्तिसे हीन होगए हो, तुम वनमें दुःखदायक स्थानोंमें
 कैसे रह सकोगे ॥ १६ ॥ यदि मैं पहिलेसे ही ऐसा जानती होती
 कि—तुम्हें अन्तर्य ही वनवासको जाना पड़ैगा, तो महाराज
 पाण्डुके मरनेके पीछे मैं शतशृङ्ग पर्वतसे यहां हस्तिनापुरमें आती
 ही नहीं ॥ १७ ॥ तुम्हारे बुद्धिमान् पिता पहिले मैं भाग्यवान्
 समझती हूं, क्योंकि—उन्होंने पुत्रोंके दुःखको देखनेसे पहिले ही
 स्वर्गवासी होनेकी इच्छा की ॥ १८ ॥ तिसी प्रकार दिव्य ज्ञान-
 वाली पार्ष्णिमाद्री भी पुत्रोंके दुःख देखनेसे पहिले ही परलोकको
 सिधार गई, इसकारण उसको भी मैं सर्वथा भाग्यवती समझती हूं
 १९ इसके सिवाय षेष्, बुद्धि तथा आचरणमें जिनके साथ एक
 होकर रहती थी उनका मरण होजाने पर भी मैं जीवनकी तुच्छ
 तृष्णा के कारण अबतक जीरही हूं और ऐसे फलोंको भोगती हूं,
 इसलिये मुझ और मेरी तृष्णाको धिक्कार दे ॥ २० ॥ हे पुत्रों ।
 मैंने तुम्हें बड़े २ कष्ट भोगकर पाया है, मुम मुझ मिय और
 सद्गुणी हो, इसकारण मैं तुम्हें अकेले वनमें नहीं जाने दूंगी, किंतु

साहं यास्पामि हि वनं हा कृष्ण किं जहासि माम् ॥ २१ ॥
 अन्तवत्यमुधर्मोऽस्मिन् धात्रा किं नु ममादतः । ममान्तो नैव विदित-
 स्तेनापुन जहाति माम् ॥ २२ ॥ हा कृष्ण द्वारकावासिन् क्वासि
 सङ्कुर्याणानुज । कस्मान्न प्रायसे दुःखान्माञ्चेमांश्च नरोत्तमान्-३
 अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः । तास्त्वं पासीत्ययं
 वादः स गतो व्यर्थतां कथम् ॥ २४ ॥ इमे -सद्धर्ममाहात्म्ययशो-
 वीर्यानुयत्तिनः । नार्हन्ति वपसनं भोक्तुं नन्वेपां क्रियतां दया
 ॥ २५ ॥ सेयं नीत्यर्थविज्ञेषु भीष्मद्रोणकृपादिषु । स्थितेषु कुल-
 नाथेषु कथमापदुपागता ॥ २६ ॥ हा पाण्डो हा महाराज क्वासि
 किं समुपेक्षसे । पुत्रान् विवास्पतः साधूनरिभिर्भूतनिर्जितान्

मैं भी तुम्हारे साथ ही वनको चजती हूँ, हे द्रौपदी ! क्या तू मुझ
 छोड़कर चली जायगी ? ॥ २१ ॥ क्षणभरमें विनाश होजाना,
 यह माणियोंका धर्म है परन्तु विधाताने ममाद किया, जो पांडुकी
 समान मेरी अन्त नहीं रचा इस लिये आयु मुझ नहीं छोड़ती है
 ॥ २२ ॥ हा कृष्ण ! हा द्वारकावासिन् ! हा सङ्कुर्याणके छोटे भैया ! इस
 भयानक कष्टमेंसे मेरी और मेरे महात्मा पुत्रोंकी रक्षा तुम क्यों नहीं
 करते हो ? ॥ २३ ॥ जो मनुष्य, अनादि अनन्तरूप आपका ध्यान करते
 हैं वनकी तुम रक्षा किया करते हो, यह बात इस समय झूठी क्यों
 होगई ? ॥ २४ ॥ हा कैसा मारव्य पलटा है ! कि-जो मेरे पुत्र सदा
 धर्माचरणमें तत्पर रहते हैं जिनका बड़ा मौरव, यश और वीरता है
 उनके ऊपर ऐसा अनुचित कष्ट पड़ा है, हे भगवन् ! तुम इनके
 ऊपर दया करो ॥ २५ ॥ अरे रे ! नीति तथा व्यवहारमें चतुर
 भीष्मपितामह द्रोणाचार्य और कृपाचार्य आदि कुरुकुलके नेताओं
 के सभामें बैठे होने पर भी यह विपत्ति हमारे ऊपर कैसे आगई
 ॥ २६ ॥ हा महाराज पाण्डो ! तुम यहाँ हो ! शत्रु तुम्हारे निर-
 पराधी पुत्रोंको कपटधूतमें हराकर वनवासके लिये भेज रहे हैं, हे
 नाथ ! इस समय तुम उपेक्षा क्यों कर रहे हो ! ॥ २७ ॥ चेष्टा

॥ २७ ॥ सहदेव निर्वर्त्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः । शरीरादपि
माद्रेष मा मा त्याज्जीः कुपुत्रवत् ॥ २८ ॥ ब्रजन्तु भ्रातरस्तेऽभी
यदि सत्प्राप्तिसन्धिनाः । मत्परिप्राणजं धर्ममिहैव त्वमवामुहि २९
वैशम्पायन उवाच । एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाच मणम्य च ।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥ ३० ॥ विदुरश्चापि तामार्त्तां
कुन्तीमाश्वस्य हेतुभिः । भावेशयद् दृष्टं क्षत्ता स्वयमार्त्ततरः शनैः
॥ ३१ ॥ धार्तराष्ट्रस्तियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत् । गमनं परि-
कर्षश्च कृष्णाया द्यूतमण्डले ॥ ३२ ॥ क्रुद्धः सुस्वनं सर्वा विनि-
दन्त्यः कुरुन् भृशम् । दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुत्ताम्बुजाः
॥ ३३ ॥ राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं वदा । ध्यायन्नुद्विग्न-

माद्रीकुमार सहदेव ! तू तो मुझ अपने माछों से भी अधिक प्यारा
है इसलिये तू लौट आ, तुझ कुपुत्रकी समान मेरा त्याग नहीं
करना चाहिये ॥ २८ ॥ तेरे यह आत्मा यदि धर्मानुक्ता सत्य
प्रतिज्ञामें बँधे हुए हैं तो यह वनमें जाकर भले वसैं, परन्तु तू तो
पाँस रहकर मेरी रक्षा कर, इसप्रकार यहां ही तुझ धर्मकी प्राप्ति
होजायगी ॥ २९ ॥ वैशम्पायनजी कहते हैं, कि—इसप्रकार
विलाप करती हुई कुन्तीकी दयाभरी बातोंको सुनकर खिन्न हुए
पाण्डव कुन्तीको मणाम करके वनमें जानेको चलनेलगे ॥ ३० ॥
तब विदुरजीने कातर होती हुई कुन्तीको दैवकी भवतता बताने
वाले वचनों से शान्त किया और फिर बहुत व्याकुल हुए विदुर
जी स्वयं ही धीरे २ उसको अपने घर लिया गए ॥ ३१ ॥
इतने ही में दुःशासन द्रौपदीको द्यूतसभामें लेगया था और तहाँ
उसके केश पकड़कर घसीटा था, यह सुनकर धृतराष्ट्र के
यहाँकी सब स्त्रियें कौरवोंकी बहुतही निन्दा करती हुई दीक
फोड़कर रोने लगीं और हाथपर मुखकमलको रखकर बहुत
देरतक इस विषयकी ही चिन्ता करती रहीं ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ उस
समय राजा धृतराष्ट्र भी अपने पुत्रोंके अन्यायका विचार करके

हृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥ ३४ ॥ स चिन्तयन्ननेकाग्रः
शोकव्याकुलचेतनः । चतुः संवेपयामास शीघ्रमागम्यतामिति
॥ ३५ ॥ ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम् ॥ तं पर्यपृच्छत्
संविनो धृतराष्ट्रो नराधिपः ॥ ३६ ॥ छ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते समापर्वण्यनुद्यूतपर्वाणि धृतराष्ट्रमरणेऽष्ट-
सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

वैशम्पायन उवाच । तमागतमयो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
साशङ्क इव पमच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । कथं
गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः भीमसेनः सब्यसाची माद्रीपुत्रौ
च पाण्डवौ ॥ २ ॥ धौम्यश्चैव कथं चतुर्द्रौपदी च यशस्विनी । श्रोतु-
मिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम् ॥ ३ ॥ विदुर उवाच ।
वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः । बाहू विशालौ संपश्यन्

मनमें संताप करने लगे, और उनके चित्तको किसीप्रकार शांति
नहीं मिली ॥ ३४ ॥ उनका मन शोकसे बड़ा ही व्याकुल हो
उठा और उन्होंने विदुरजीके पास एक दूतको भेजकर कहलाया
कि—तुम शीघ्र ही मेरे पास आओ ॥ ३५ ॥ दूतके ऐसा कहने
पर विदुरजी धृतराष्ट्रके निवासस्थानमें गए तब उदास बैठे हुए
राजा धृतराष्ट्रने विदुरजीसे मरण किया ॥ ३६ ॥ अष्टसप्ततितम
अध्याय समाप्त ॥ ७८ ॥ छ ॥ छ ॥

वैशम्पायन जी कहते हैं, कि—हे जनमेजय ! तदनन्तर चित्त
में शङ्कित हुए अम्बिकाके पुत्र धृतराष्ट्रने अपने पास आये हुए
दीर्घदर्शी विदुरजीसे बुझा ॥ १ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि—हे विदुर !
धर्म तथा कुन्तीके पुत्र युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सह-
देव धौम्य मुनि और यशस्विनी द्रौपदी यह सब वनमें रहनेको
किस प्रकारसे जा रहे हैं यह सब मैं सुनना चाहता हूं, इसलिये
मुझसे उनकी चेष्टाका वर्णन करिये ॥ २ ॥ ३ ॥ विदुरजीने कहा
कि—कुन्तीपुत्र युधिष्ठिर वस्त्रसे अपने मुखको ढक कर जा रहे हैं,

भीमो गच्छति पाण्डवः ॥ ४ ॥ सिकता वपन् सव्यसाची राजा-
नमनुगच्छति । माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ५ ॥
पांशून्लिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चिचविडलः । दर्शनीयतमो लोके राजान-
मनुगच्छति ॥ ६ ॥ कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना ।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥ ७ ॥ धौम्यो रौद्राणि सामानि
याम्पानि च विशाम्पते । गायन् गच्छति मार्गेषु कुशानादाय
पाणिना ॥ ८ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । विविधानीह रूपाणि कृत्वा
गच्छन्ति पाण्डवाः । तन्मयायचव विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते
॥ ९ ॥ विदुर उवाच । निकृतस्पीषि तं पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च ।
न धर्माच्चरते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥ योऽसौ राजा घृणी
नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत । निकृत्या अंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति

पाण्डुपुत्र भीमसेन अपने विशाल भुजदण्डोंकी ओरको देखता
हुआ जारहा है ॥ ४ ॥ अर्जुन धूलिको उड़ाता हुआ धर्मराजके
पीछे २ जारहा है और माद्रीका पुत्र सहदेव अपने मुखपर धूलि मल
कर धर्मराजके पीछे जारहा है और जगत्में परमदर्शनीय नकुल
अपने सन शरीरपर धूलि मलकर मनमें व्याकुल होताहुआ धर्मराज
के पीछेरगया है ५-६ विशाल नेत्रोंवाली संदरी द्रौपदी अपने खुले
हुए केशोंसे मुखको ढककर रांती हुई युधिष्ठिरके पीछे जारही है ७
और हे राजन् ! धौम्य अपि हाथमें कुशोंकी गद्दी लेकर मार्गमें,
जिनका देवता यमराज है उन भयदायक सामवेदके मंत्रोंका गान
करते हुए जारहे हैं ॥ ८ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-पाण्डव अनेकों
प्रकारके स्वरूप धारण करके वनको जारहे हैं, हे विदुर ! सुभ-
वताओ, कि—यह इस प्रकार क्यों जारहे हैं ॥ ९ ॥ विदुरजीने
कहा, कि—हे धृतराष्ट्र ! तुम्हारे पुत्रोंने जलसे धर्मराजको जुएमें
हराकर यद्यपि उनका राज्य तथा सकल सम्पत्ति छीनली है और
उनको निर्धन कर दिया है तो भी विचारशील धर्मराजकी बुद्धि
धर्ममेंसे नहीं हटी है ॥ १० ॥ हे भरतवंशी राजन् ! यह धर्मराज

लोचने ॥ ११ ॥ नाहं जनं निर्दयेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा । स
 पिधाय मुखं राजा तस्माद् गच्छति पाण्डवः ॥ १२ ॥ यथा च
 भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु । बाहोर्पले नास्ति समो ममेति
 भरतर्षभ ॥ १३ ॥ बाहू विशालौ कृत्वासौ तेन भीमोऽपि गच्छति ।
 बाहू विदर्शयन् राजन् बाहुद्रविणदर्पित ॥ १४ ॥ चिकीर्षन् कर्म
 शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानु रूपतः । प्रदिशन् शरसम्पानान् कुन्तीपुत्रोऽ-
 र्जुनस्तदा ॥ १५ ॥ सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति
 असक्ताः सिकतास्तस्य यथा संप्रति भारत ॥ १६ ॥ असक्तं
 शरवर्षाणि तथा मोक्षयति शत्रुपुं न मे कश्चिद्विजानीयान्मुखम-

निरन्तर तुम्हारे पुत्रोंके ऊपर दया ही रखते हैं, इसी कारण
 यद्यपि तुम्हारे पुत्रोंने कपट करके उनको राज्यसे भ्रष्ट कर दिया
 “तब भी वह क्रोध करके नेत्रोंको नहीं खोलते हैं ॥ ११ ॥ और
 मैं अपनी घोर दृष्टिसे देखकर उनका नाश न करूँ यही अच्छा
 है” ऐसे विचारसे पाण्डुपुत्र धर्मराज अपना मुख धूलसे ढककर
 बनको जा रहा है ॥ १२ ॥ हे भरतवंशश्रेष्ठ ! अब भीमसेन जिस
 प्रकार जा रहा है, वह भी मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो, हे राजन् !
 बाहुरूप धनका घमंडी भीमसेन भी अपने भुजदण्डोंको चौड़ा
 करके “बाहुबलमें मेरी समान दूसरा कोई है ही नहीं” ऐसा जताता
 और शत्रुओंके सामने अपने बाहुबलकी समान पराक्रम करनेकी
 इच्छावाला भीमसेन अपनी भुजाओंको दिखाता हुआ धर्मराजके
 पीछे २ जा रहा है, कुन्तीपुत्र अर्जुन युद्धमें शत्रुओंके ऊपर इस
 प्रकार ही बाणोंकी वर्षा करनेकी सूचना देता देता धूलि उड़ाता
 हुआ धर्मराजके पीछे जा रहा है, हे भरतवंशी राजन् ! इस समय
 उसकी रैती जैसे अलग २ की उड़ती है तैसे ही शत्रुओंके ऊपर
 बाणोंकी जुड़ी २ वर्षा करेगा ॥ १३-१५ ॥ हे भरतवंशी राजन् !
 ‘इस संकटके समयमें कोई भी मेरा मुख न देखे तो अच्छा है
 इस कारण हे राजन् ! सहदेव भी अपने मुख पर धूलि मलकर युधि-

धोति भारत ॥ १७ ॥ मुखमालिन्ग्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छता
 नाहं मनास्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो । पांशूपलितसर्वाङ्गो
 नकुलस्तेन गच्छति ॥ १८ ॥ एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला ॥
 शोणितार्द्राक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥ यत्कृतेऽहमिदं
 माप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे । इतपत्यो इतमुता इतबन्धुजनप्रियाः
 ॥ २० ॥ बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः । एवं कृतो-
 दका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजादयम् ॥ २१ ॥ कृत्वा तु नैर्ऋतान्
 दर्भान् धीरो धौम्यः पुरोहितः । सामानि गायन् गाम्यानि पुरतो
 याति भारत ॥ २२ ॥ इतेषु भरतेज्वाजौ कुरुर्णां गुरुवस्तदा ।
 एवं सामानि गास्यन्वीत्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥ २३ ॥

छिरके पीछे जा रहा है ॥ १७ ॥ और हे प्रभो ! “मार्गमें अपनी
 सुन्दरतासे मैं स्त्रियोंके मनोको मोहित न करूँ तब ही ठीक है” इस
 विचारसे नकुल अपने सब शरीर पर धूलि मलकर धर्मराजके
 पीछे २ जा रहा है ॥ १८ ॥ इसके सिवाय चलते समय एकवस्त्र
 धारिणी खुले केशोंवाली, रजस्वला और जिसका अबोध रजके
 रधिरसे भीग रहा था उस द्रौपदीने रोते २ कहा कि—॥ १९ ॥
 जिन्होंने मेरी ऐसी दशा करी है उनकी स्त्रियें आजसे चौदहवें
 वर्षमें रोवेंगी, उनके पुत्र घान्धव, मनुष्य तथा म्रियतर्षोंका विनाश
 होगा और बहुतसे रधिरसे जिनके शरीर भीमे होंगे तथा जिनके
 केश खुले होंगे ऐसी कौरवोंकी रजस्वलास्त्रियें मरणको प्राप्त हुए
 अपने पति आदि सगे सम्बन्धियोंका जलदान देकर हस्तिनापुर
 में प्रवेश करेंगी ॥ २० ॥ २१ ॥ और हे भरतवंशी राजन् ! धैर्य-
 धारी धौम्य पुरोहित नैर्ऋत्य दिशाकी ओरको कुशोंके मुख
 करके यमदेवतावाले सामवेदके मंत्रोंका गान करतेहुए सबके आगे २
 गए हैं ॥ २२ ॥ इससे ऐसा प्रतीत होता है, कि जर भरतवंशी
 राजे रणमें मारेजायेंगे तब कौरवोंने गुरु इसमकार यम देवताके
 साममंत्रोंका गान करेंगे, इस बातको ही जताते हुए धौम्य अपि

हा हा गच्छन्ति नो नाथा समवेत्तध्वमीदृशम् । अहो धिक् कु-
 दृद्धानां बालानामिव चेष्टितम् ॥ २४ ॥ राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायादां-
 न्तोषान्निर्वासयन्ति ये । अनाथा स्म वयं सर्वे विमुक्ताः पाण्डु-
 नन्दनैः ॥ २५ ॥ दुर्विनीनेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः । इति
 पौराः सुदुःखार्चाः क्रोशन्ति स्म पुनः पुनः ॥ २६ ॥ एवमा-
 कारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् । कथयन्तश्च कौन्तेयः वनं
 जगमुर्मनस्विनः ॥ २७ ॥ एवं तेषु नराग्रपेषु निर्यात्सु गजसाहस्रान् ।
 अन्ध्रं विधुतधासन् भूमिश्च समकम्पत ॥ २८ ॥ राहुरग्रसदा-
 दित्यमपर्वणि विशाम्पते । उल्कां चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशी-
 र्द्यत ॥ २९ ॥ प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः । देवा-
 यतनचैत्येषु । आकाराद्यालिङ्गेषु च ॥ ३० ॥ एवमेव महोत्पाता-

धर्मराजके साथ गए हैं ॥ २३ ॥ और नगरमें मजाके सब लोग
 अति दुःखसे व्याकुल होकर बारंवार बिलाप कर रहे हैं और वह
 कहते हैं, कि-हाय हाय ! देखो हमारे महाराज वनको जा रहे हैं !
 अरे ! धिक्कार है दृढ़ कौरवोंके इस बालकोंकेसे मूर्खताभरे कर्म
 को कि-जो कौरव लोभके कारण पाण्डुके पुत्रोंको देशसे निकाल
 रहे हैं, इन पांडुपुत्रोंके जुदे देनेसे हम तो अनाथ होगए, इन अन्यायी
 लोभी कौरवोंके ऊपर हमारा प्रेम कैसे होसकता है ? ॥ २४-२६ ॥
 इस प्रकार अपने आकार और चिन्होंसे मानो अपने मनका भाव
 कहने हुए मनस्वी पाण्डव वनको चले गए ॥ २७ ॥ इस प्रकार उन
 महापुरुषोंके हस्तिनापुरसे बाहर निकलते ही वे राजन् ! बिना मेघ
 के ही आकाशमें विजलियें चमकने लगीं और भूमि कांपने लगी ॥ २८ ॥
 राहु अमावास्याके बिना ही पूर्ण सूर्यमण्डलको ग्रस गया और
 नगरके दाहिनी और चल्कापात होने लगा ॥ २९ ॥ मांसभक्षी गिज
 पक्षी, गीमडियें और कौए नगरके समीपमें, देवमंदिरोंमें चैत्योंमें,
 किलोंके ऊपर और अटारियोंके ऊपर मरे हुए मनुष्योंके मांस तथा
 हड्डियें आदि लाकर ढालने लगे हैं ॥ ३० ॥ हे राजन् ! इस प्रकार

मादुरासन् दुरासेदाः । भारतानामभावाय 'राजन् दुर्मन्त्रिते तव
॥ ३१ ॥ वैशम्पायन उवाच । एवम्पदतोरेव तयोस्तत्र विशा-
म्यते । धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च भीमतः ॥ ३२ ॥ नारदश्च
सभामध्ये कुरुणाग्रतः स्थितः । महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्य-
मुवाच ह ॥ ३३ ॥ इतश्चतुर्दशे त्रिनङ्गुषन्तीं कौरवाः । दुर्योधना-
पराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ ३४ ॥ इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य
क्षिपमन्तरधीयत । द्राक्षीं श्रियं सुविपुलां विभ्रदेवर्षिसत्तमः ॥ ३५ ॥
वैशम्पायन उवाचात्ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ॥ द्रोणं
द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥ ३६ ॥ अथाग्रवीक्षतो द्रोणो
दुर्योधनममर्षणम् । दुःशासनश्च कर्णं च सर्वानेव च भारतान्
॥ ३७ ॥ अवस्थान्पाण्डवान्मादुर्येषुपुत्रान् द्विजातयः । अहं वै शरणं
तुम्हारी खोटी संपत्तिसे भरतवंशी राजाओंका नाश करनेके
लिये भयानक उत्पात होने लगे हैं ॥ ३१ ॥ वैशम्पायनजी कहते
हैं, कि—हे राजन् ! इस प्रकार बुद्धिमान् विदुर और राजा धृत-
राष्ट्र बातें कर रहे थे, कि इतनेमें ही दूसरी ओर सभामें कौरवोंके
आगे बैठे हुए और महर्षियोंसे घिरे हुए परम तेजस्वी देवर्षियोंमें
श्रेष्ठ नारद मुनिने भयानक घात कही ॥ ३२ ॥ ३३ ॥ कि—इस
दुर्योधनके अपराधके कारण आजसे चौदहवें वर्ष भीमसेन और
अर्जुनके बलसे कौरवोंको नाश होजायगा ॥ ३४ ॥ ऐसा कहकर
पड़े ब्रह्मतेजसे दमकते देवर्षियोंमें श्रेष्ठ नारदमुनि, आकाशमें
को उड़कर अन्तर्धान होगए ॥ ३५ ॥ फिर दुर्योधन, कर्ण और
सुबलनन्दन शकुनिने द्रोणाचार्यको अपना मुख्य अबलम्बन समझ
कर पांडवोंका सब राज्य उनको सौंप दिया ॥ ३६ ॥ द्रोणाचार्यने
डाढ़ करनेवाले दुर्योधन, दुःशासन और दूसरे सकल भरतवंशी
राजाओंसे कहा, कि—॥ ३७ ॥ पाण्डव देवताओंके पुत्र हैं और
इनको कोई नहीं मार सकता, ऐसा ब्राह्मण कहते हैं, तथापि
धृतराष्ट्रके पुत्रोंने मेरी शरण ली है इसकारण सकल राजाओं

प्राप्तान् वर्त्तमानो यथावलम् ॥ ३८ ॥ गन्ता सर्वात्मना भक्त्या
 धार्तराष्ट्रान् सराजकान् । नोत्सहेयं परित्यक्तुं देवं हि ब्रह्मवत्त-
 रम् ॥ ३९ ॥ धर्मतः पाण्डपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिन्ताः । ते
 च द्वादशवर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ४० ॥ चरितब्रह्म-
 चर्याश्च क्रोधाभ्यां वशानुगाः । वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद्दुःखाय
 पाण्डवाः ॥ ४१ ॥ मया च भ्रंशितो राज्यात् द्रुपदः सखिनिग्रहे ।
 पुत्रार्थमयज्ञद्राजा वधाय मम भारत ॥ ४२ ॥ याजोपयाजतपसां
 पुत्रं लेभे स पावकात् । धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात् सुम-
 मध्यमाम् ॥ ४३ ॥ धृष्टद्युम्नस्तु पाण्डवानां श्यालः सम्बन्धिनां मतः ।
 पाण्डवानां मितरस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥ ४४ ॥ ज्वालावर्णो
 देवदत्तो धनुष्मान् कवची शरी । मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसौ

सहित इनको मैं अपनी शक्तिके अनुसार प्रेमभावसे पूरी सहायता
 दूंगा, मैं शरणागतको त्यागना नहीं चाहता, क्या करूँ ? देव
 सबसे अधिक बली है ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ जुएमें हारे हुए पाण्डव
 धर्मानुसार वनको जा रहे हैं वह तहाँ बारह वर्ष पर्यन्त रहेंगे ४०
 और तहाँ ब्रह्मचर्यका पालन करके क्रोध और ईर्ष्यामें भरे हुए
 लौटकर आवेंगे तब अपने ऊपर धीरे हुए महासङ्कटका बदला लेंगे
 ॥ ४१ ॥ हे भरतवंशी राजन् ! मेरी द्रुपद राजाके साथ मित्रता
 थी परन्तु मित्रके साथ कलह होजानेके कारण मैंने उसको राज-
 सिंहासनसे अट कर दिया था इसकारण उस राजाने मेरा प्राणान्त
 करने वाला पुत्र पानेके लिये याजक उपयाजक नामवाले तपस्वियों
 के द्वारा यज्ञ करारकर अग्निदेवताके प्रसन्न होनेपर यज्ञवेदीमेंसे धृष्ट-
 द्युम्न नामवाला पुत्र और सुन्दर कमरवाली द्रौपदी कन्या
 पाई ॥ ४२ ॥ ४३ ॥ यह धृष्टद्युम्न अर्जुनका साला हुआ है
 और पाण्डव उसके ऊपर बड़ा प्रेम रखते हैं, मुझसे भय
 मालम होता है ॥ ४४ ॥ धृष्टद्युम्न अग्निकी समान तेजस्वी, धनुष
 बाण, कवचधारी, देवताओंका दिया हुआ पुत्र है और मैं मरण-

महान् ॥ ४९ ॥ गतो हि पन्नतां तेषां पार्षतः परवीरहा । रथाति-
 रथसरूपायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ॥ ४६ ॥ सृष्टमाणो भृशतरं
 तेन चेत्समङ्गमो मम । किमन्यदःस्वमधिकं परमं भुवि कौरवाः ॥ ४७ ॥
 धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विमथितं वचः । मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके
 चाप्यतिविश्रुतः ॥ ४८ ॥ सोऽयं नूनमनुभासस्त्वत्कृते काल उत्तमः ।
 स्वरितं कुरुत अयो नैव ह्येतावता कृतम् ॥ ४९ ॥ भूहर्त्ता सुखमे-
 वैतत्तालञ्छायेव हैमनी । यजध्वञ्च महायज्ञैर्भोगानरनीत दत्त च
 ॥ ५० ॥ इतश्चतुर्दशे वर्षे महत् नाप्यस्य वैशसम् । द्रोणस्य वचनं
 श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽग्रवीदिदम् ॥ ५१ ॥ सम्पन्नाह गुरुः क्षत्ररूपा-

धर्मी हूँ, इसकारण मुझें उससे बड़ा भय लगता है, शत्रुओंको
 नाश करनेवाला यह दण्डपुत्र पाण्डवोंके पक्षमें होगया है और
 रथी तथा महारथी राजाओंमें तरुण अवस्थावाला अर्जुन मुख्य
 है, जब धृष्टद्युम्नके साथ मेरा संग्राम होगा तब उसमें अवश्य ही मैं
 मारा जाऊँगा, हे कौरवों ! जगत्में इससे बढ़कर दूसरा कौनसा
 दुःख होसकता है ? ॥ ४५—४७ ॥ जगत्में भी यह बात मसिद्ध
 है, कि—धृष्टद्युम्नसे द्रोणाचार्यकी मृत्यु होगी और यह द्रोणान्तक
 नामसे ही जगत्में मसिद्ध हुआ सुना जाता है ॥ ४८ ॥ ऐसा महा-
 दुःखदायक समय जो आपहुँचा है वह अवश्य तुम्हारे ही कारण
 से आया है, अब तुम “पाण्डवोंको वनमें भेजदिया” इतनेसे ही
 अपनी मन-कामनाको पूर्ण हुई मत समझो, परन्तु जिसमें अपना
 कल्याण हो वह प्रवृत्ति शीघ्र ही करो ॥ ४९ ॥ यह तुम्हारा सुख
 तो हेमन्त ऋतुमें फैली हुई तालके वृक्षकी छायाकी समान दो
 घड़ीका ही है, तुम बड़े १ यज्ञ करो, नए २ वैभवोंको भोगो
 और द्राक्षणोंको धनका दान करके दो ॥ ५० ॥ क्योंकि—आज
 से चौदहवें वर्षमें तुम बड़े कष्टमें पड़ोगे, द्रोणाचार्यके ऐसे कथन
 को सुनकर राजा धृतराष्ट्रने कहा, कि—॥ ५१ ॥ हे विदुर !
 गुरुजी ठीक कहते हैं, तुम पाण्डवोंको लौटाकर लाओ और यदि

वर्चय पाण्डवान् । यदि ते न निवर्त्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।

सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५२ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुद्युतपर्वणि विदुरधृत-

राष्ट्रद्रोणवाक्ये नवसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

वैशंपायन उवाच । धनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे । धृतराष्ट्रं महाराज तदा विंता समाविशत् ॥ १ ॥ तं चिन्तयानभासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् । निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच सञ्जयः । २ । सञ्जय उवाच । अवाप्य वसुसम्पूणां वसुधां वसुधाधिप । 'मघाज्य पाण्डवान् राज्याद्राजन् किमनुशोचसि ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । अशोच्यस्त्वं कुतस्तेषां येषां वैरम्भविष्यति । पाण्डवैर्युद्ध-शौण्डेहिं बलवद्भिर्महारथैः ॥ ४ ॥ संजय उवाच । तवेदं सुकृतं राज-

वह कुमार लौटकर न आये तो उनके शस्त्र रथ और सेवक साथ में देदो ऐसा करो, कि-जिसमें वह सरकारके साथ पेश्वर्यको भोगते हुए वनमें रहें ॥ ५२ ॥ नवसप्ततितम अध्याय समाप्त ७८

वैशंपायनजी कहते हैं, कि—हे महाराज जनमेजय ! जब पाण्डव जुएमें पराजय पाकर वनमें चले गए तब राजा धृतराष्ट्रके मनमें चिन्ता होने लगी ॥ १ ॥ वह एकान्तमें बैठकर लंबी २ रवासें लेते हुए विचार करनेलागे और उनका मन विह्वल होगया, उस समय सञ्जय उनसे इसप्रकार कहनेलागा ॥ २ ॥ सञ्जय कहता है कि—हे पृथ्वीपते ! तुमने पाण्डवोंको राज्यसे अष्ट करके वनमें भेजदिया और धनसे भरी हुई भूमिको हाथमें लेलिया है, फिर अब किस लिये शोक करते हो ? ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-जिनका पाण्डवोंके साथ वैर हो उनको मुझ कहोंसे भिल सकृता है ? क्योंकि—पाण्डव युद्ध करनेमें मरीए, बलवान् और महारथी हैं ॥ ४ ॥ सञ्जयने कहा, कि—हे राजन् ! इस समीपमें पहुंचे हुए वैरको तुमने आप ही खरीदा है, जिससे कि-कुलका

अपहर्द्वैरमुपस्थितम् । विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥ वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च । पाण्डवानां भियां भार्या द्रौपदी धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥ माहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव । सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः मातिकायिनम् ॥ ७ ॥ यस्मै देवाः गयच्छन्ति पुरुषास्त पराभवम् । बुद्धिं तस्यापकपन्ति सोऽर्शवीनानि पश्यति ॥ ८ ॥ बुद्धौ कलुषभृतायां विनाशो समुपस्थिते । अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥ अनर्थार्थरूपेण अर्थार्थानर्थरूपिणः । उच्यन्ति विनाशाय नूनं तद्यास्य रोचते ॥ १० ॥ न कालो दण्डमुपहस्य शिरः कुन्तति कस्यचित् । कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥ आसादितमिदं धारं

और दूमरे लोगोंका भी नाश होगा ॥ ५ ॥ तुम्हारे पुत्र दुर्योधन को, भीष्म द्रोणाचार्य और विदुरने समझाया था तब भी मूर्ख, निर्लज्ज दुर्योधनने पाण्डवों की विषयवा धर्मचारिणी द्रौपदीको पकड़ कर सभामें ले आनेकी आज्ञा देकर सूतपुत्र मातिकायीको भेजा ॥ ६ ॥ ७ ॥ परन्तु इसमें दुर्योधनका कुछ भी दोष नहीं है, उसके मारव्यका ही दोष है, देवता जिस पुरुषका अशुभ करना चाहते हैं उसकी बुद्धिका ही नाश करदेते हैं और बुद्धिहीन पुरुष सब बातोंको उलट्टी ही देखता है ॥ ८ ॥ जब बुद्धि मलिन हो जाती है और विनाश काल समीपमें ही आनाता है तब उसने अन्याय भी न्याय की समान ही मालूम होना है और वह हृदयमें से हटता ही नहीं ॥ ९ ॥ इसकारण वह मनुष्य अनर्थोंको अर्थरूप और अर्थोंको अनर्थरूप देखता है और वही उसको अच्छा लगता है ॥ १० ॥ काल कहीं डंडा मारकर किसीके मस्तकको थोड़े ही फोड़ता है, किन्तु जिसका शिर तोड़ना चाहता है उसको अच्छे घात डगी श्रीग्वनेलगनी है यही कालका बल है ॥ ११ ॥ तुम्हारे पुत्रोंने नपस्विनी अपोनिजा, रूपवती और अग्निकुन्तमें उत्पन्न हुई द्रौपदीका बीन

वर्त्तय पाण्डवान् । यदि ते न निवर्त्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।
सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५२ ॥ ॥ छ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुद्युतपर्वणि विदुरधृत-
राष्ट्रोद्योतवाक्ये नवसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

वैशंपायन उवाच । घनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे । धृतराष्ट्रं महाराज तदा विंता समानिशत् ॥ १ ॥ तं चिन्तयानमोसीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् । निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच सञ्जयः । २ ॥ सञ्जय उवाच । अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप । मद्राज्य पाण्डवान् राज्याद्राजन् किमनुशोचसि ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्र उवाच । अशोच्यस्त्वं कुतस्तेषां येषां वैरम्भविष्यति । पाण्डवैर्युद्ध-शौण्डेहिं बलवद्भिर्महारथैः ॥ ४ ॥ संजय उवाच । तवेदं सुकृतं राज-

वह कुमार लौटकर न आवें तो उनके शस्त्र रथ और सेवक साथ में देदो ऐसा करो, कि-जिसमें वह सरकारके साथ ऐश्वर्यको भोगते हुए वनमें रहें ॥ ५२ ॥ नवसप्ततितम अध्याय समाप्त ७६

वैशंपायनजी कहते हैं, कि—हे महाराज जनमेजय ! जब पाण्डव जुएमें पराजय पाकर वनमें चले गए तब राजा धृतराष्ट्रके मनमें चिन्ता होने लगी ॥ १ ॥ वह एकान्तमें बैठकर लंबी २ रवासें लेते हुए विचार करनेलगे और उनका मन बिहल होगया, उस समय सञ्जय उनसे इसप्रकार कहनेलगा ॥ २ ॥ सञ्जय कहता है कि—हे पृथ्वीपते ! तुमने पाण्डवोंको राज्यसे श्राष्ट करके वनमें भेजदिया और घनसे भरी हुई भूमिको हाथमें लेलिया है, फिर अब किस लिये शोक करते हो ? ॥ ३ ॥ धृतराष्ट्रने कहा, कि-जिनका पाण्डवोंके साथ वैर हो उनको मुख कहाँसे मिल सकता है ? क्योंकि—पाण्डव युद्ध करनेमें मवीण, बलवान् और महारथी हैं ॥ ४ ॥ सञ्जयने कहा, कि—हे राजन् ! इस समीपमें पहुंचे हुए वैरको तुमने आप ही खरीदा है, जिससे कि-कुल

अहद्वैरमुपस्थितम् । विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ६ ॥ वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च । पाण्डवानां मियां भार्या द्रौपदी धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥ माहिणोदानपेहेतिपुत्रो दुर्व्योपनस्तव । मृतपुत्रं सुपन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकाभिनम् ॥ ७ ॥ यस्मै देवाः मयच्छन्ति पुरुषास्तपराभवम् । बुद्धिं तस्यापकृपन्ति सोऽर्वाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥ बुद्धौ कलुषभृतायां विनाशे समुपस्थिते । अनयो नयसङ्काशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥ अनर्थ-
ध्वार्थरूपेण अर्थान्धनर्थरूपिणः । उचिष्ठन्ति विनाशाप नूनं तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥ न कालो दण्डमुण्डस्य शिरः कुन्तति कस्पन्ति । कालस्य बलमेतावद्विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥ आसादितभिदंघोरं

और दूसरे लोगोंका भी नाश होगा ॥ ५ ॥ तुम्हारे पुत्र दुर्व्योपन को, भीष्म द्रोणाचार्य और विदुरने सपत्नीया या नय भी मूर्ख, निर्लज्ज दुर्व्योपनने पांडवों की निपपत्नी धर्मचारिणी द्रौपदीको पकड़ कर सभामें ले आनेकी आज्ञा देकर मृतपुत्र प्रातिकाभीको भेजा ॥ ६ ॥ ७ ॥ परन्तु इसमें दुर्व्योपनका कुछ भी दोष नहीं है, उसके मारक्यका ही दोष है, देवता जिस पुरुषका अशुभ करना चाहते हैं उसकी बुद्धिका ही नाश करदेते हैं और बुद्धिहीन पुरुष सब बातोंको उलट्टी ही देखता है ॥ ८ ॥ जब बुद्धि भलिन होती है और विनाश काल समीपमें ही आनाता है तब उसमें अन्याय भी न्याय की समान ही मालूम होता है और वह हृदयमें से हटना ही नहीं ॥ ९ ॥ इसकारण वह अनुप्य अनर्थोंको अर्थरूप और अर्थोंको अनर्थरूप नेसता है और वही उसको अच्छा लगता है ॥ १० ॥ काल कहीं डंडा मारकर किसीके मस्तकको थोड़े ही फोड़ना है, किन्तु जिसका शिर तोड़ना चाहता है उसको अच्छी बात बुरी दीखनेलगती है वही कालका बल है ॥ ११ ॥ तुम्हारे पुत्रोंने नयविनी सपोनिता, रूपवती और अग्निहृत्तमं वरपन्न हुई द्रौपदीका और

तुमुलं लोमहर्षणम् । पाञ्चालीमपकर्षद्भिः, सभामध्ये तपस्विनीम्
 ॥ १२ ॥ अयोनिर्जा रूपवतीं कुले जातां विभावसोः । को नु तां
 सर्वमर्मां परिभूय यशस्विनीम् ॥ १३ ॥ पर्यानयेत् सभामध्ये
 विना दुर्द्युतदेविनम् । स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता
 ॥ १४ ॥ एरुवस्त्रार्थपाञ्चाली पाण्डवानभ्यवैक्षत । हतस्वान्-हत
 राज्याश्च हनवस्त्रान् हतश्रियः ॥ १५ ॥ विहीनान् सर्वकामेभ्यो
 दासभावमुपागतान् । धर्मपाशपरितिसानशक्तानिव विक्रमे ॥ १६ ॥
 क्रुद्धां चानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि । दुर्द्योधनश्च कर्णश्च
 कटुकान्यभ्यभाषताम् ॥ १७ ॥ इति सर्वमिदं राजन्नाकुलं प्रति-
 भाति मे । धृतराष्ट्र उवाच । तस्याः कृष्णचक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि
 मेदिनी ॥ १८ ॥ अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम सञ्जय । भर-
 सभामे घमीष्ट लाकर रोमाञ्च खड़े करने वाले घोर युद्धको निर्म-
 त्रण दे दिया है सकल धर्मोंको जाननेवाली यशस्विनी द्रौपदीका
 अपमान करके दुष्ट द्यूतको खेलनेवाले दुर्द्योधनके सिवाय दूसरा
 कौन उसको घमाट कर बीच सभामें लासकता था ? द्विषोंके धर्म
 पर श्रद्धा रखनेवाली सुन्दराङ्गी रुधिर से सने एक वस्त्रकी धारण
 करने वाली रजस्वला द्रौपदीने पाण्डवोंकी ओरको दृष्टि करी तो
 उस समय उनको धनहीन राज्यरहित वस्त्रहीन, बेजरहित, सकल
 कामनाओंसे शून्य दासभावको प्राप्त हुए और धर्मपाशमें बँधे होने
 के कारण पगाक्रय दिखानेमें भी असमर्थ देखा ॥ १२—१५ ॥
 पाण्डवोंकी ऐसी दशाको देखकर दुःखको सहनेके अयोग्य दुःखिनी
 द्रौपदीको क्रोध, आगया, उसको दुर्द्योधन और दुःशासनने कौरवों
 की भरी, सभामें बहुतचन कहे ॥ १७ ॥ हे राजन् ! यह सब बातें
 मुझ अनर्थ की मूल मालूम होती है यह सुनकर धृतराष्ट्रने कहा
 कि—हे सञ्जय ! द्रौपदीकी दुःखभरा दृष्टि पड़ते ही पृथिवी भी
 जल कर भस्म होसकती है तो फिर मेरे पुत्रोंकी तो बात ही क्या
 है ? ॥ १८ ॥ हे सञ्जय ! न जाने अब मेरे पुत्रोंमेंसे एक भी

तानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्थी सहस्रज्जताः ॥ १९ ॥ प्राक्रोशन
भैरवं पुत्र दृष्ट्वा कृष्णसभागतम् । धर्मिष्ठा धर्मपत्नीं च रूपयौवन-
शालिनीम् ॥ २० ॥ प्रजाभिः सह सङ्गम्य हनुशोचन्ति नित्यशः ।
अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाहूयन्त सर्वशः ॥ २१ ॥ ब्राह्मणाः
कुलिताश्चामन् द्रौपद्याः परिकर्षणे । आसीन्निष्ठानको घोरो निर्धा-
गश्च महानभूत् ॥ २२ ॥ दिव उल्का पतंतश्च राहुश्चार्कमुपाग्रसत् ।
अर्धणि महाघोरं प्रजानां जनयन् भयम् ॥ २३ ॥ तथैव रथ-
शालाम् प्रादुरासीद्धुताशनः । धृताश्चापि प्यशीर्यन्त भक्तानाम-
भूतये ॥ २४ ॥ दुर्योधनस्याग्निहोत्रे प्राक्रोशन भैरवं शिवाः ।
तास्तदा प्रत्यापन्त रासभा सर्वतो दिशः ॥ २५ ॥ प्रातिष्ठत ततो

धवेगा या नही ! रूप-यौवनवती धार्मिका, पाण्डवोंकी धर्मपत्नी-
द्रौपदीको सभामें घसीटकर लायागया है यह बात सुनकर भरत
वंशी राजाओं की सब स्त्रियें गान्धारीके साथ इकट्ठा होकर यया-
नरूपसे डकरा २ कर रोने लगीं ॥ १९ ॥ २० ॥ और द्रौपदी
के रस्वोंको भरी सभामें खेचनेसे ब्राह्मण भी कोपमें भरगए वह
सायंकालको श्रम नहीं करते किन्तु नगरकी प्रजाके साथ इकट्ठे
होकर नित्य इस बातका ही शोक किया करते हैं जब बीचसभामें
द्रौपदीके वस्त्र खींचे गए उस समय बड़े जोरसे पवन चलने लगा
वज्रपातके शब्द श्रवणें लगे ॥ २१ — २२ ॥ आकाशमें उल्कापान
होने लगा अमावास्या के बिना ही राहुने सूर्यका ग्रसलिया जिस
से प्रजाको बड़ा भय मालूम हुआ ॥ २३ ॥ रथशालामें आग लग
गई और भरतवंशियोंका अभ्युप करनेके लिये मन्दिरोंके ऊपरसे
भट्टे भट्टाभट्ट गिरने लगे यह भरतवंशियोंके लिये खोटे शकुन
हुए ॥ २४ ॥ दुर्योधनके अग्निहोत्रके समीप गीददियें भयानक
शब्द करने लगीं उस समय गधे चारों ओरसे रेंककर गीददियों
भी उत्तर देने लगे ॥ २५ ॥ हे सङ्ग्रह ! ऐसे अपशकुनोंको देख-

भीष्मो द्रोणेन सह सञ्जय । कृपश्च सोमदत्तश्च वाहीकश्च महामना ॥२६॥ ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः । वर ददानि-कृष्णायै
 कान्तितं यद्यदिच्छसि ॥२७॥ अष्टवृणोत्तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदाम-
 ताम् । सरथान् सधनुष्कांश्चाप्यनुज्ञासिपमप्यहम् ॥२८॥ अथा-
 ब्रवीन्महाबाहो विदुरः सवधर्मवित् । एतदन्वास्तु भरता यद्वः
 कृष्णा सभां गता ॥ २९ ॥ यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनु-
 तमा । पाञ्चाली पाण्डवानेतान्दैरसृष्टोपसर्पति ॥ ३० ॥ तस्याः
 पार्थाः परिक्लेशं न क्षस्यन्ते ह्यमर्पणाः । वृष्णयो वा महेश्वरामा
 पाञ्चाला वा महारथाः ॥ ३१ ॥ तेन सत्याभिसन्धेन वासुदेवेन
 रक्षिताः । आगमिष्यति धीमत्सुः पाञ्चालैः परिवारितः ॥३२॥ तेषां

कर भीष्म कृपाचार्य सोमदत्त और उदारचित्त राजा वाहीक द्रोणा
 चार्मके साथ सभामें से उठकर चले गये ॥ २६ ॥ तब विदुर की
 संपत्ति से मैंने कहा, कि—द्रौपदीको जो कुछ वर माँगनेकी इच्छा
 हो वह मुझसे माँगलेय मैं उसकी इच्छानुसार वर दूँगा ॥२७॥
 यह सुनकर द्रौपदीने मुझसे माँगा, कि—पाण्डवों को दासभाव
 से छोड़कर रथ और धनुषों सहित इन्द्रपत्न्य में जानेकी आज्ञा
 दीजिये इस पर मैंने भी रथ और धनुषों सहित उनको राज्यमें
 जानेकी आज्ञा दी ॥ २८ ॥ यह सब सुनकर परमबुद्धियान् और
 सकल धर्मों के ज्ञाता विदुरने कहा, कि तुम्हागी सभामें द्रौपदी
 को बसीटकर लाया गया था, इससे भरतवंशका नाश होजायगा
 ॥ २९ ॥ यह जो पाञ्चालराजकी पुत्री है यह देवकी उत्पन्नकी
 हुई एक अनुपम लक्ष्मी है और पाण्डवोंके पीछे रहती है ॥३०॥
 उस द्रौपदीके महान् क्लेशको असहिष्णु पाण्डव महाधनुर्धारी
 वृष्णी और महागर्भी पाञ्चाल नहीं सहेंगे, क्योंकि—इन सबोंकी
 सत्पतिपति श्रीकृष्णजी रक्षा करते हैं। इस कारण अर्जुन पाञ्चाल
 राजाओंसे मिलकर तुम्हागें ऊपर चढ़ाई करके आवेगा ॥३१-३२॥

५० मे महेश्वासो भीमसेनो महाबलः । आगमिष्यति धुन्वानो गदां
 दण्डमिच्छन्तक ॥ ३३ ॥ ततो गाण्डीवनिर्घोष श्रुत्वा पार्थस्य
 भीमनः । गदावेगञ्च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः ॥ ३४ ॥
 तत्र मे गेचते नित्य पार्थः । सामन विग्रहः । कुरुभ्यो हि सदा मन्ये
 पाण्डवान बलवत्तमान् ॥ ३५ ॥ तथाहि बलवान् राजा जरासन्धो
 महायुधिः । बाहुरक्षणेनैव भीमेन निहतो युधि ॥ ३६ ॥ तस्य ते
 जग एवास्तु पाण्डवैर्भक्तर्षभ । उभयोः पक्षयोर्पुक्तं क्रियतामवि
 गह्वरा ॥ ३७ ॥ एव कृते महाराज परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि । एवं
 गावर्ण्यो क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः ॥ ३८ ॥ उक्तवान् न गृहीत वै

उनके बीचमें परमवली और महायुधारी भीमसेन दण्ड को
 घुमानेवाले कालकी समान अपनी बड़ोभारी गदाको घुमाना
 हुआ चढ़ाई करेगा ॥ ३३ ॥ उस समय बुद्धिमान् अर्जुनके गांडीव
 धनुषकी टङ्कारके शब्दको सुनकर और भीमसेनकी गदाके वेगको
 देखकर राजे उसको सह नहीं सकेंगे ॥ ३४ ॥ इसलिये मुझें तो
 पांडवोंके साथ नित्य मेल रखना ही ठीक मालूम होता है कलह
 करना उचित नहीं है क्योंकि—मैं नित्य पाण्डवोंसे और वीरोंसे
 अधिक बलवान् मानता हूँ ॥ ३५ ॥ और ऐसा माननेका कारण यह
 है, कि—राजा जरासन्ध-बड़ा मतापी और बलवान् था, परन्तु
 भीमसेनने उसको युद्धमें अपने बाहुरूपी शस्त्रमे ही मार डाला
 ॥ ३६ ॥ इसकारण हे भरतवंशमें श्रेष्ठ राजन् ! तुम पांडवोंके
 साथ संघर्ष और मेलसे वर्त्ताव करो और जिसमें दोनों ओरका
 भला हो उस कामको ही निःशङ्क होकर करो ॥ ३७ ॥ ऐसा
 करने से हे महाराज ! तुम्हारा परम कल्याण होगा, इसकारण
 है सञ्जय ! मुझमें विदुरने धर्म और अर्थभरी हितकारी
 बात कही परन्तु अपने पुत्रका प्रिय करनेकी इच्छासे मैंने

मया पुनर्निर्मिता ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वण्यनुधूतपर्वणि धृतराष्ट्रचिन्ताया-
मशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥ समाप्तश्चानुधूतपर्व

मिदुर्का कटना नहीं माना ॥ ३८ ॥ ३९ ॥ * ॥

॥ अशीतितमअध्याय समाप्त ॥ ८० ॥

श्रीमहाभारतका सभापर्व, मुरादाबादनिवासी भारद्वाजगोत्र गाईबश्य
परिणित भालानाथात्मज-ऋषिकुमार रामस्वरूप शर्मा द्वारा
सम्पादित हिंदी भाषानुवाद सहित समाप्त

इति सभापर्व समाप्त



मिलनेका पता—

परिणित रामस्वरूप शर्मा

सनातनधर्म प्रेस मुरादाबाद.